



113027

साहित्य सम्बन्ध

[आलोचना मासिक]

साधना विशेषांक

जुलाई-अगस्त १९६८

R. T. S.

संत साहित्य मर्मज्ञ पं० परशुराम चतुर्वेदी के ७५ वें वर्ष में प्रवेश पर
सादर समर्पित



प्रकाशक :

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा-२

वर्षिक मूल्य ६-०० रु०

इस अङ्क का मूल्य

साधना विशेषांक

जुलाई-अगस्त १९६८

सूची—

पहली विचारधारा	सम्पादक	१
हिन्दी सन्त साहित्य का स्वरूप	डा० विनयमोहन शर्मा	५
हिन्दी साहित्य की प्रेमाख्यातक परम्परा	डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी	८
हिन्दी साहित्य का भारतीय परिवेश	डा० सरला शुक्ला	१४
बौद्ध तथा सिद्ध साहित्य : एक विश्लेषण	डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय	१८
हिन्दी सन्त साहित्य का इतिहास	डा० जयराम मिश्र	२३
साहित्य का सूक्ष्म साधक	डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	२६
चतुर्वेदी की सन्तुलित शैली	श्री देवव्रत शास्त्री	३१
कृतिक तपस्वी : परशुराम चतुर्वेदी	डा० भगीरथ मिश्र	३४
कार्य परशुराम चतुर्वेदी की साहित्य-साधना	डा० लक्ष्मीसागर वाष्णोय	३५
परशुराम चतुर्वेदी	डा० हरदेव बाहरी	३६
परशुराम चतुर्वेदी और उनका कार्य	स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	४१
हिन्दी की तुला पर परशुराम चतुर्वेदी	डा० शिवनाथ	४३
सहजान सजक समालोचक	डा० भगवतशरण उपाध्याय	४५
परशुराम चतुर्वेदी : जीवन और कृतित्व	श्री राजेन्द्रसिंह गोड़	४७
परशुराम चतुर्वेदी : एक जीवन झाँकी	डा० भोलानाथ तिवारी	५०
हिन्दी के प्रकोण में तमिल के आलवार सन्त	डा० न० बी० राजगोपालन	५४
परशुराम चतुर्वेदी के अध्ययन की दिशाएँ	श्री राजकिशोरसिंह	५८
संक्षेप-परिचय		६१



जनेन्द्र-साहित्य ००

अक्टूबर, ६८ मास में प्रकाशित ००

नये प्रकाशन ५० ००

विस्तृत सूची-पत्र

१९६८-१९६९ ००

प्रकाशन

पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

से

प्राप्त करें।

नया प्रकाशन

अधो-शतसंवत्सरी
उपलक्ष में
गांधी स्मारक निधि
सहयोग से
प्रकाशित

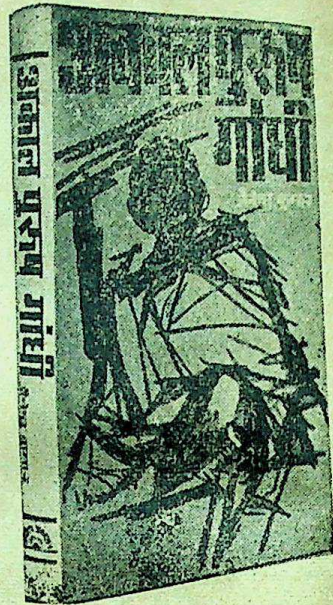
श्री ६० अकाल-पुरुष गांधी, गांधीजी के उपलक्ष से लिखे गये संस्मरणों
की ६० लेखों का संकलन है।

जैनेन्द्रजी का गांधी-परिवार के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध बहुत
ही सादा है। यह ग्रंथ जैनेन्द्रजी की समग्र साहित्यिक, दार्शनिक चिन्तन
एक श्रेष्ठ उपलब्धि बन पड़ा है।

यह कृति गांधी के व्यक्तित्व और विचार का भाष्यमात्र नहीं है,
हो उस जीवन-दर्शन का मौलिक संवहन है। पुस्तक परम्परागत
र के लिए चुनौती सिद्ध होगी।

सा डिमाई आकार, मैपलिथो कागज, कलात्मक आवरण, पारदर्शक प्लास्टिक जैकट,

मूल्य : डीलक्स संस्करण : पन्द्रह रुपये, सस्ता संस्करण : पाँच रुपये।



जैनेन्द्र

प्रायः प्रकाशित

अन्तर
प्रकाशित (पुरस्कृत)

राम धन

की त

विवृत

व्यतीत

सुनीता

त्यागपत्र

कल्याणी

परख

मिट्टी का पुतला

केरलसिंह

६.०० भयभीता

४.५० अमलतास

८.०० कहानी-संग्रह

६.०० जैनेन्द्र का कहानियाँ

५.५० भाग दस, प्रत्येक ४.००

६.०० अन्ततः

३.५० लोक-विकास कथामाला

६.०० बालकों एवं नवसाक्षरोपयोगी १४ भाग

३.०० प्रत्येक ६० पैसे, प्रति सेंट १२.६०

४.५० नाटक

३.०० पाप और प्रकाश (पुरस्कृत)

२.०० मन्दाकिनी

३.००

३.००

५.००

४०.००

३.५०

३.००

१.५०

प्रका

पूर्वोदय

संचालक : पूर्वोदय प्रा० लि०,



अक्टूबर ६८ में प्रकाशित

नए प्रकाशन

अनन्तर	उपन्यास	जैनेन्द्रकुमार	६.००
कश्मीर की वह यात्रा !	यात्रा : संस्मरण	"	३.००
जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	आलोचना	डा० देवराज उपाध्याय	१८.००
अमलतास	उपन्यास	शशिप्रभा शास्त्री	५.००
मुखदा (पुनः मुद्रित)	"	जैनेन्द्रकुमार	५.५०
विवर्त "	"	"	६.००

जनवरी ६९ के

नये प्रकाशन

अनाम स्वामी	उपन्यास	जैनेन्द्रकुमार	५.००
जैनेन्द्र की कहानियाँ (११ भाग)	उपन्यास	"	४.००
कथाकार जैनेन्द्र	आलोचना	डा० रामरतन भटनागर	

- साहित्य

यात्रा-संस्मरण

ये और वे	५.५०	कहानी : अनुभव और शिल्प	६.००
कश्मीर की वह यात्रा !	३.००	राष्ट्र और राज्य	३.००
जीवन-भाँकी	०.७५	प्रश्न और प्रश्न	७.००
गांधी : कुछ स्मृतियाँ	०.६०	प्रस्तुत प्रश्न	७.५०
निबन्ध व आलोचना		पूर्वोदय	६.००
अकाल-पुरुष गांधी	डोलक संस्करण १५.००	मंथन	७.५०
	सस्ता संस्करण ५.००	सोच-विचार	७.५०
समय और हम (पुरस्कृत)	२०.००	साहित्य का श्रेय और प्रेय	१०.००
प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व	१२.००	काम, प्रेम और परिवार	४.००
जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन		सूक्ति-संचयन	३.००
		जवानो !	३.००
लेखक डा० देवराज उपाध्याय	१८.००	जवानो, राह यह है !	३.००
इतस्ततः	१०.००	अपनी पहचान	४.००
परिप्रेक्ष	८.००	नीति की ओर	१.५०

शक

प्रकाशन

८, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

जैनेन्द्र-साहित्य

- जैनेन्द्र-साहित्य मौलिक, रोचक, मर्मस्पर्शी है और चिन्तन की प्रखरता से ओत-प्रोत है ।
- जैनेन्द्र-साहित्य का प्रचार, राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार ही नहीं है, कदाचित् सांस्कृतिक व नैतिक मूल्यों की पुनःस्थापना भी है ।
- जैनेन्द्र-साहित्य अत्यन्त स्वच्छ मुद्रित, कलात्मक आवरण से सुसज्जित, सुनियोजित रूप में पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित है ।
- सभी तरह के स्कूलों, कालिजों, विश्वविद्यालयों एवं सार्वजनिक विभागीय पुस्तकालयों, समाज-केन्द्रों, पंचायतों, विभिन्न विकास-खण्डों एवं संस्थानों में बहुल माँग रखता है ।
- सम्पूर्ण जैनेन्द्र-साहित्य, पुस्तकालयाध्यक्ष सिन्हा लाइब्रेरी, पटना, बिहार राज्य के लिए; सेन्ट्रल लाइब्रेरी कमेटी तथा डी० पी० आई०, चण्डीगढ़, पंजाब, हरियाना, हिमांचल प्रदेश के लिए; निर्देशक शिक्षा-विभाग, बोकानेर, राजस्थान राज्य के लिए; निर्देशक, शिक्षा-विभाग, दिल्ली, दिल्ली राज्य के लिए अधिकृत खरीद के लिए स्वीकृत है ।
- पुस्तक-विक्रेता बन्धु स्वीकृत सूचीपत्र तथा अतिरिक्त कमीशन-नियम की सुविधाओं से लाभ उठाये ।

प्रकाशन

पूर्वोदय प्रकाशन,

संचालक

पूर्वोदय, प्राइवेट लिमिटेड,

८, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

‘साहित्य-सन्देश’ जुलाई-अगस्त १९६८]

[भाग ३०, अंक १-२]

हमारे लोकप्रिय प्रकाशन

★ कालिदास ग्रन्थावली	डा० सीताराम चतुर्वेदी	२०.००
★ भागवत दर्शन	डा० हरवंशलाल शर्मा	१२.००
★ परमानन्द सागर	सम्पा० डा० गोवर्धननाथ शुक्ल	१२.००
★ हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव	डा० विश्वनाथ शुक्ल	१२.००
★ रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन	डा० प्रेमस्वरूप गुप्त	१०.००
★ रामकृष्ण काव्येतर हिन्दी सगुण भक्ति काव्य	डा० छोटेलाल दीक्षित	१२.००
★ साकेत कुछ पुनर्विचार	डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित	४.५०
★ औचित्य विचार चर्चा	डा० मनोहरलाल गौड़	५.००
★ डा० नगेन्द्र की साहित्य-साधना	श्रीमती टी० वी० सुब्बालक्ष्मी	८.००
★ काव्य और कला	डा० हरद्वारीलाल दीक्षित	४.००
★ साहित्य संगम	त्रिलोकीनाथ प्रेमी	३.५०
★ मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति	डा० यूमुफ हुसैन	५.००
★ वार्ता साहित्य : एक वृहद् अध्ययन	डा० हरिहरनाथ टण्डन	१५.००
★ हिन्दी में श्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा	डा० स्नेहलता श्रीवास्तव	१२.००
★ कविवर परमानन्ददास और बल्लभ सम्प्रदाय	डा० गोवर्धननाथ शुक्ल	१२.००
★ सूर काव्य की आलोचना	डा० हरवंशलाल शर्मा	२.००
★ कृतिवासी बंगला रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन	डा० रमानाथ त्रिपाठी	१०.००
★ भावना और समीक्षा	डा० ओम्प्रकाश	४.००
★ अन्तर्दर्शन तीन चित्र	श्री उदयशंकर भट्ट	२.००
★ आचार्य क्षेमेन्द्र	डा० मनोहरलाल गौड़	५.००
★ शैली	श्री यतेन्द्रकुमार गर्ग	२.००
★ अतीत के आलोक में	सुनहरीलाल पराग	२.५०
★ झांसी की रानी	डा० मोतीलाल भार्गव	३.००
★ महाकवि स्वयंभू	डा० संकटाप्रसाद उपाध्याय	१६.५०
★ Indian Politics	Ram Gopal	15/-

भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ ।

'साहित्य-सन्देश' जुलाई-अगस्त १९६८]

[भाग ३०, अङ्क १-२]

हमारे प्रमुख प्रकाशन

आपके पुस्तकालय में यदि ये पुस्तकें नहीं हैं, तो इन्हें शीघ्र स्थान दें।

हिन्दी साहित्य का इतिहास	श्री सिद्धेश	५.००	क्रान्ति	श्री रायप्रवेशजी यादव	३.००
हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार	"	४.००	जय अम्बे	श्री श्यामनारायणप्रसाद	३.००
उच्चतर निबन्ध भारती	"	४.००	जीवन की भूल	रमाशंकर द्विवेदी	३.००
निबन्ध भारती	"	३.५०	आदर्श वीरता	"	१.००
डाकघर	अनुवादक	१.००	सीमा रेखा	शिवमूर्ति शिव	३.००
मेरी बाल कहानियाँ	" "	१.००	विधाता की मूर्तें	श्री अंचल	४.००
देशभक्त और साहित्यकार	" "	१.५०	टिमटिमाते दीप	श्री त्रिपाठी	३.५०
वादविवाद और व्याख्यान प्रवेशिका			दक्षिण भारत की यात्रा	श्री भ्राभड़ियाजी	१.२५
श्री सिद्धेश एवं तिवारी	३.५०		सन सत्तावन के अमर सेनानी	श्री उपाध्याय	२.००
संसार की प्राचीन सम्यताएँ तथा भारत से			भगवान श्रीकृष्ण	पं० देवदत्त मिश्र	३.५०
उनका सम्बन्ध	श्री शर्मा	६.००	सदाचार की कहानियाँ	"	१.३७
सूर साधना और साहित्य			उपदेश की कहानियाँ	"	१.२५
श्री त्रिलोकीनाथ प्रेमी	२.५०		शिक्षापूर्ण कहानियाँ	राय एवं शर्मा	०.७५
अध्ययन आलोक	श्री विवेकीरायजी	२.००	गुलिमर की यात्रा	अनु० ब्रजेश	२.००
रजनीगन्धा	"	२.००	राबिनड्रुड की कहानी	"	०.३७
निबन्धालोक	श्री कमलेश	४.००	पनाह	बलराम चौहान	२.२५
त्रिपथगा	"	२.५०	कुँवरसिंह	श्रीकान्त	२.५०
हिन्दी रचना रत्नाकर	श्री त्रिपाठी	४.००	तरंगिणी	श्री मंजुल	२.५०
नागरिकता तथा भारतीय शासन			बड़ों का बड़प्पन	श्री महेन्द्रनाथ मिश्र	१.१२
श्री शिवनाथ शर्मा	८.५०		बड़े जब छोटे थे	"	१.००
भारतीय संविधान	"	६.००	संयुक्तराष्ट्र संघ	श्री राम अभिलाष उपाध्याय	१.२५
अर्थशास्त्र के मूल तत्व	श्री सच्चिदानन्द मिश्र	६.००	नवीन बाल कहानियाँ	श्री अशोक	१.२५
बलिदान	आचार्य बैजनाथराम	५.००	भूतों की कहानियाँ	श्रीबास्तव	०.७५
मगध की पद्मिनी	श्री उपाध्याय	३.००	अच्छी आदतें	श्री भ्राभड़ियाजी	१.००

आदर्श पुस्तक भंडार

प्रधान कार्यालय—

२४२, रबीन्द्र सरणी,

कलकत्ता-७

दूरभाष { कार्यालय—३४-१८६८
निवास—५५-६६२४

शाखा—

डी ५३।८६, लक्सारोड,

गुरुबाग, वाराणसी।

'साहित्य-सन्देश' जुलाई-अगस्त, १९६८]

[भाग ३०, अङ्क १-२]

साहित्य रत्न व एम. ए. के लिए महत्वपूर्ण ग्रन्थ

बिहारी-सतसई : वैज्ञानिक समीक्षा

ले० डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, डी. लिट्

इसमें महाकवि बिहारी के जीवन-चरित्र, व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन, काव्यादर्श, प्रेरणा-स्रोत, यथार्थ-वादी दृष्टिकोण, प्रेम-निरूपण, सौन्दर्य-व्यंजना, विरह-वर्णन, भक्ति-भाव, हास्य-व्यंग्य, बौद्धिक पक्ष, मुक्तककार, शैली पक्ष—आदि पक्षों का विवेचन अत्यन्त प्रामाणिक रूप में करते हुए अनेक नये निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

मूल्य ५.००

प्रेमचन्द और गोदान : नव मूल्यांकन

ले० डा. कृष्णदेव भारी, एम.ए., पी-एच० डी०

इस ग्रन्थ में उपन्यासकार प्रेमचन्द और उनके 'गोदान' का विवेचन सर्वथा नूतन दृष्टि से करते हुए 'गोदान' की कथा-वस्तु, औपन्यासिक शिल्प, सामाजिक समस्याओं, वैवाहिक सम्बन्धों, किसान-जमींदार के सम्बन्धों, नारी सम्बन्धी विचारों, समाजवाद, गांधीवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, नामकरण की सार्थकता—आदि सभी महत्वपूर्ण पक्षों की मीमांसा जमकर की गई है।

मूल्य ६.५०

आधुनिक साहित्य और साहित्यकार

ले० डा. गणपतिचन्द्र गुप्त

इसमें भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, महादेवी, प्रेमचन्द, शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र प्रभृति साहित्यकारों एवं कामायनी, आँसू, गोदान, मृगनयनी आदि से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया है।

मूल्य ७.५०

हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास

ले० डा. गणपतिचन्द्र गुप्त

हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास जिसमें आकाल से लेकर अब तक के साहित्य का वर्गीकरण, विश्लेषण एवं विवेचन अत्यन्त प्रामाणिक रूप में करते हुए नया काल विभाजन किया गया है तथा अनेक नये निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा २५०० रु० से पुरस्कृत। पृष्ठ संख्या १००८; बड़ा साइज; मूल्य डीलक्स संस्करण २२.५०; साधारण १५.००

छात्रों, अध्यापकों, पुस्तकालयों एवं विक्रेताओं को उचित रियायत।

किसी भी पुस्तक की चार प्रतियाँ मँगाने पर एक प्रति फ्री,

विस्तृत सूची-पत्र के लिये—

भारतेन्दु-भवन, १०६/५ लोअर बाजार, शिमला-१

'साहित्य-सन्देश' जुलाई-अगस्त, १९६८]

[भाग ३०, अंक १-२]

लोकप्रिय लेखकों की चुनी हुई प्रसिद्ध पुस्तकें

४५९ धूप-छाँह गुरुदत्त ३.००

विख्यात लेखक का एकदम नया उपन्यास जो लेखक की एक सर्वोत्तम रचना माना जा सकता है।

४६० सफेद फूल कुशन चन्दर २.००

लोकप्रिय कहानीकार की कश्मीर सम्बन्धी चुनी हुई कहानियाँ। एक से एक बढ़कर।

४६१ बासठ दिन दत्त भारती २.००

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार का एक अत्यन्त भावपूर्ण और नवीन उपन्यास। रोमांचक मनोरंजक कथा।

४६२ परछाईं विष्णु प्रभाकर १.००

नारी मन की अतल गहराइयों का चित्रण करने वाला लोकप्रिय लेखक का प्रसिद्ध उपन्यास।

४६३ तरंगों के प्रेत चन्दर २.००

प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास लेखक का एक सनसनीखेज रोमांचकारी उपन्यास। मनोरंजन से भरपूर।

४६४ दिल जले की आह जी० पी० श्रीवास्तव २.००

हिन्दी के हास्यरस सम्राट का एक बहुप्रसिद्ध उपन्यास पहली बार पाकेट बुक में।

४६५ योग के आसन पं० श्री दा० सातवलेकर २.००

एक ऐसे प्रसिद्ध लेखक की रचना जो योगासन के ही कारण १०१ वर्ष तक जिये।

४६६ फिर दीप जलेगा! नीरज २.००

लोकप्रिय कवि की अत्यन्त चुनीदा कविताओं का संग्रह। सभी दृष्टियों से बेजोड़।

अपने नगर के पुस्तक-विक्रेता, रेलवे बुकस्टाल या रोडवेज बुकस्टाल से खरीदिए।

विस्तृत सूचीपत्र के लिए हमें लिखिए।

हिन्दू पाकेट बुक्स प्रा० लि०, जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली-३२

ह मा रा प्र का श न

निबन्ध व आलोचना

आधुनिक हिन्दी नाटक

डा० नगेन्द्र

इस पुस्तक में आधुनिक नाटकों का वैज्ञानिक वर्गीकरण कर उन पर बड़ी मार्मिक आलोचना की गई है। आधुनिक नाटक साहित्य की गति-विधि समझने के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से उपादेय है। हिन्दी की विभिन्न परीक्षाओं में स्वीकृत है। ३.००

साकेत : एक अध्ययन

डा० नगेन्द्र

आधुनिक साहित्य के महाकाव्यों में 'साकेत' का प्रमुख स्थान है। इस पुस्तक की आलोचना में लेखक ने गुप्तजी की साहित्यिक प्रतिभा का उद्घाटन करते हुए उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण, काव्यकौशल और उनकी शैली के प्रकाशन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'साकेत' पर यह प्रथम एवं सर्वप्रिय समीक्षात्मक ग्रन्थ है। ५.००

सुमित्रानन्दन पन्त

डा० नगेन्द्र

छायावाद और सुमित्रानन्दन पन्त के अध्ययन के लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—“काव्य की छायावादी कही जाने वाली शाखा चले काफी दिन हुए पर ऐसी कोई समीक्षात्मक पुस्तक देखने में नहीं आई जिसमें उक्त शाखा की प्रक्रिया (Technique) प्रसार की निम्न-निम्न भूमियाँ सोच-समझ कर निदिष्ट की गई हों। केवल डा० नगेन्द्र की ही पुस्तक ठिकाने की मिली।” ४.५०

कला, कल्पना और साहित्य

डा० सत्येन्द्र

यह २६ उच्चकोटि के आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। इसमें पहले कला और साहित्य से सम्बन्धित विविध विषयों की सैद्धान्तिक मीमांसा की है, उपरांत हिन्दी-साहित्य के विविध निर्माताओं के मर्म, युगों की प्रवृत्ति तथा युगीन साहित्य के तत्त्वों को स्पष्ट किया गया है। अन्त में एक निबन्ध भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी और एक राष्ट्रभाषा सम्बन्धी है। ६.००

गुप्तजी की कला

डा० सत्येन्द्र

गुप्तजी की कला का मर्म समझने के लिए साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी उत्कण्ठित रहता है। उस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए गुप्तजी की कला का मर्म डा० सत्येन्द्र ने अपनी आकर्षक और गवेषणापूर्ण शैली में दिया है। ५.००

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन डा० सत्येन्द्र

इसमें लोकवार्ता का वैज्ञानिक अध्ययन और इतिहास, लोकवार्ता और लोक-साहित्य, लोकवार्ता और ब्रज के लोक-साहित्य का सङ्कलन विस्तार के साथ दिया गया है। यह लेखक का पी-एच० डी० उपाधि का शोध-ग्रन्थ है। १०.००

मेरी असफलताएँ

डा० गुलाबराय

हिन्दी के आत्मकथा साहित्य में इस पुस्तक का विशेष स्थान है। यह पहली पुस्तक है जिसमें लेखक ने अपनी जीवन ग्रन्थियों पर खुलकर व्यंग्य किया है। साहित्यिक हास्य उपस्थित करने में लेखक की शैली अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखती। आधुनिक हिन्दी साहित्य की अपने ढङ्ग की यह पहली पुस्तक है। ३.५०

हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास

डा० गुलाबराय

हिन्दी साहित्य के इतिहास का सुबोध ढङ्ग से परिचय देने में जितनी सफलता इस पुस्तक को मिली है—उतनी किसी अन्य को नहीं। सामान्यतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्ययन दुरूह समझा जाता है, किन्तु इस पुस्तक ने छात्रों में इतिहास के अध्ययन में रुचि जगाई है। परिणामस्वरूप इण्टर, बी० ए०, विशारद, साहित्यरत्न तथा इनके समकक्ष अनेक हिन्दी परीक्षाओं के सहस्रों छात्र प्रतिवर्ष इससे लाभ उठाते हैं। इस इतिहास की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इसके प्रत्येक संस्करण को संशोधित किया जाता है। ३.५०

प्रसादजी की कला

डा० गुलाबराय

इस पुस्तक में प्रसादजी की बहुमुखी प्रतिभा के विभिन्न पक्षों पर विविध विद्वानों द्वारा आलोचनात्मक प्रकाश डाला गया है। प्रसाद साहित्य के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपादेय है। ६.००

रसज्ञ-रंजन

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी हिन्दी के निर्माताओं में से हैं। इस पुस्तक में उनके काव्य सम्बन्धी विचार जो सैद्धान्तिक आलोचना में प्रमुख स्थान रखते हैं, पढ़ने को मिलेंगे। साथ ही कुछ महत्त्वपूर्ण रचनात्मक निबन्ध भी। २.००

हिन्दी आलोचना : सिद्धान्त और विवेचन

महेन्द्रजी

इसमें बाबू गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, डा० विश्वनाथ प्रसाद, डा० भोलाशङ्कर व्यास, डा० द्विवेदी आदि २६ आलोचकों के निबन्धों का संग्रह है। आलोचना-शास्त्र का विधिवत अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों के लिए, इसमें बहुत उपयोगी निबन्ध मिलेंगे। ५.००

हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन

महेन्द्रजी

हिन्दी की उपन्यास विधा पर अनेक विद्वानों के लेखों का इसमें संग्रह किया गया है। सम्पादन इस ढङ्ग से हुआ है कि उपन्यास सम्बन्धी कोई तथ्य नहीं छूटा है। सैद्धान्तिक लेखों के साथ विभिन्न प्रकार के उपन्यासों पर विस्तृत विवेचना भी है। ५.००

हिन्दी कहानी : सिद्धान्त और विवेचन

महेन्द्रजी

हिन्दी की कहानी विधा पर अनेक समीक्षकों के लेखों का संग्रह है। इन लेखों में सैद्धान्तिक लेखों के प्रतिरिक्त कहानी के सभी अङ्गों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ५.००

हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन

महेन्द्रजी

हिन्दी की नाटक विधा पर विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गये लेखों का अनुपम संग्रह। एक ही स्थान पर इतनी उपयोगी सामग्री मिलना दुर्लभ है। ५.००

भाषा विज्ञान परिचय

महेन्द्रजी

इसमें भाषा विज्ञान सम्बन्धी अनेक विषयों पर विद्वानों के लेख संग्रहीत हैं, जिनसे भाषा विज्ञान का सर्वाङ्गपूर्ण परिचय प्राप्त होता है। साहित्य-सन्देश के भाषा-विज्ञान विशेषांक का यह संशोधित और परिष्कृत पुस्तक रूप है। २.५०

हिन्दी गीतिकाव्य

श्रीमप्रकाश अग्रवाल

हिन्दी गीतिकाव्य और प्रमुख हिन्दी गीतकारों का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली यह पुस्तक सभी के लिये उपादेय है। ३.५०

मानस साधुरी

डा० बलदेवप्रसाद मिश्र

मिश्रजी भारतीय गौरव ग्रन्थ रामचरितमानस के विशेषज्ञ हैं। इस पुस्तक में मानस प्रेमियों को ज्ञान की अजस्र धारा बहतो हुई दिखाई देगी। इसके प्रथम खण्ड में मानस की महत्ता और सन्त-असन्तों के लक्षणों का विहङ्गावलोकन है। दूसरे तथा तीसरे खण्ड में

मानस के पात्रों की चर्चा है। चौथे खण्ड में मानस के प्रमुख उपाख्यानों का और पाँचवें में उसके चुने हुए प्रसंगों का विवेचन है। सरकार द्वारा पुरस्कृत है। ५.००

हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

हिन्दी के मध्यकालीन काव्य को समझने के लिये उसकी दार्शनिक पीठिका को समझना अनिवार्य है। इस पुस्तक में हिन्दी काव्य में प्रतिविम्बित दार्शनिक विचारधाराओं का प्रामाणिक विवेचन है। इस सन्दर्भ में वेदान्त, शून्यवाद, द्वैतवाद, शुद्धद्वैतवाद, वैष्णव-सम्प्रदाय, प्रत्यभिज्ञा दर्शन आदि दार्शनिक मत-मतान्तरों का सुबोध शैली में अध्ययन किया गया है। प्रमुख मध्यकालीन हिन्दी कवियों की दार्शनिक प्रवृत्तियों का अध्ययन भी है। सरकार द्वारा पुरस्कृत। ५.००

ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार

डा० गोपीनाथ तिवारी

हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास की समृद्ध परम्परा रही है। इस पुस्तक में पहली बार हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों तथा उपन्यासकारों का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जिसके बिना हिन्दी उपन्यास का अध्ययन पूर्ण नहीं माना जा सकता। ३.५०

कहानी दर्शन

भालचन्द्र गोस्वामी 'प्रखर'

इस पुस्तक में कहानी का सर्वतोमुखी दर्शन दार्शनिक दृष्टिकोण से किया गया है और कहानी की विभिन्न परिभाषाएँ देकर उसके विभिन्न तत्त्वों एवं प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। कहानी के शिल्प-विधान और शैलियों का विवेचन भी एक नये ढङ्ग से हुआ है। १०.००

निबन्धकार गुलाबराय

देवेन्द्रकुमार जैन

बाबू गुलाबराय के निबन्धकार रूप का समीक्षात्मक ढङ्ग से पहली बार सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन इस लघु शोध प्रबन्ध में हुआ है। ४.००

भारतेन्दु उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कवि

डा० किशोरीलाल गुप्त

पुस्तक के नाम से ही इसका विषय स्पष्ट है—साथ ही इसमें कुछ ऐसे निबन्ध भी हैं जो विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी हैं। १.५०

महाकवि भवभूति

श्रीमती रमा पाण्डेय

संस्कृत साहित्य में महाकवि भवभूति का स्थान अनन्य है। हिन्दी में पहली बार इस पुस्तक के द्वारा

महाकवि भवभूति और उनके काव्य पर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। भवभूति की कृतियों में से चुने हुए श्रेष्ठ अंशों का हिन्दी अनुवाद सहित संकलन किया गया है। २.००

कविता

सुदामाचरित

नरोत्तमदास

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि नरोत्तमदास का अमर खण्डकाव्य। व्याख्यात्मक टिप्पणी तथा विवेचनात्मक भूमिका सहित। १.००

सुपर्णा

भगवानदत्त चतुर्वेदी २.००

देवार्चन

करील ५.००

कहानी

कहानी-कुञ्ज

महेन्द्र २.००

उपन्यास

कहां या क्यों ?

डा० रामप्रसाद मिश्र

इस उपन्यास में विद्वान एवं समाजशास्त्री लेखक ने आधुनिक समाज में व्याप्त कुत्सा एवं कुण्ठा का मनो-वैज्ञानिक व मर्मस्पर्शी शैली में वर्णन किया है। ३.००

प्याऊ वाली

श्रीजेन्द्रसिंह चौधरी ३.००

धुंधला दर्पण

रमेश 'नीर' ३.५०

नाटक

न्याय-मन्त्री

महेशचन्द्र रावत

लेखक स्वयं एक नाटककार हैं। इन्होंने हिन्दी की कुछ प्रसिद्ध कहानियों को नाटक में रूपान्तरित किया है। यह रूपान्तर रङ्गमञ्च की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। ३.००

महात्मा बुद्ध

श्रीकृष्णमूर्ति मेहरोत्रा

यह एकाङ्की नाटक है। रङ्गमञ्च पर खेलने के लिये उपयुक्त। १.२५

शकुन्तला नाटक

राजा लक्ष्मणसिंह

इस पुस्तक से सभी परिचित हैं। यह शकुन्तला नाटक का प्रामाणिक संस्करण है। अब तक इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। २.००

सत्य हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

चा० गुलाबराय की टीका सहित अनेकों परि-क्षाओं में स्वीकृत। १.००

महायुद्ध

१.००

दिमागी खेल

राममूर्ति मेहरोत्रा

प्रस्तुत पुस्तक में स्कूल में पढ़ाये जाने वाले विषयों को इस प्रकार कहानी का रूप देकर समझाया गया है कि इन्हें पढ़कर बच्चे विभिन्न विषयों को भली प्रकार समझ लेते हैं। यह पुस्तक पाँच भागों में है—गणित, साइन्स, नेचरस्टडी, भूगोल और इतिहास। प्रत्येक भाग ०.७५

युद्ध की कहानियाँ

कमलेन्दु जैन

द्वितीय महायुद्ध से सम्बन्धित वीरता तथा अद्भुत युद्ध कौशल का सरल भाषा में कहानीकरण। १.५०

राजा और रंक

रमेश वर्मा

भाई-भाई

"

ढोल की पोल

बच्चों की अत्यन्त मनोरंजक कहानियों के संग्रह सरल व सुबोध भाषा में। प्रत्येक ०.५०

गृह शिल्प (३ भाग)

डा० किरणकुमारी गुप्ता

उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार व राजस्थान आदि के शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार जूनियर हाई स्कूलों की कक्षा ६, ७, ८ की बालिकाओं के निमित्त, कटाई, सिलाई, बुनाई इत्यादि विषयों की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक। १.००, १.२५, १.२५

विविध

न नर न नारी

ब्रैरिस्टर २.००

भारतीय राष्ट्रीयता

वेवदूत विद्यार्थी ३.००

शीघ्र प्रकाश्य पुस्तकें

आलोचना

प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला डा० सत्येन्द्र ५.००

हिन्दी एकांकी "

भाषा-विज्ञान : सिद्धान्त और विवेचन महेन्द्र ५.००

हिन्दी निबन्ध : सिद्धान्त और विवेचन " ५.००

जीवनी

सन सत्तावन के विस्मृत वीर श्री वी० हार्डीकर ५.००

कहानी

धनश्याम अस्थाना ४.५०

प्राप्ति-स्थान—साहित्य रत्न भण्डार, आगरा—२

साहित्य-सन्देश

(आलोचना प्रधान मासिक)

‘साहित्य-सन्देश’ आलोचना का एक मात्र मासिक-पत्र है जो गत ३० वर्षों से लगातार निकल रहा है। इसका प्रचार समस्त भारत एवं विदेशों में भी है। वार्षिक मूल्य केवल ६.०० रुपया है।

उपयोगिता—(१) हिन्दी के अध्ययन के लिए साहित्य-सन्देश अनूठा साधन है। हजारों विद्यार्थी ‘साहित्य-सन्देश’ पढ़कर बी. ए., एम. ए., पी-एच. डी. आदि पदवीधारी बनकर आज बड़े-बड़े कालेजों में अध्यापन कर रहे हैं।

(२) साहित्य-सन्देश के निरन्तर अध्ययन से सैकड़ों व्यक्ति लेखक बन गए। आज के अनेक सम्मान्य लेखकों ने लिखने का प्रारम्भ साहित्य-सन्देश के माध्यम से ही किया है। आज भी उसे सभी विद्वानों का सहयोग प्राप्त है।

(३) अहिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्यार्थियों, अध्यापकों और प्रचारकों के लिए तो साहित्य-सन्देश एक सम्बल है जिसके सहारे वे हिन्दी का ज्ञान बराबर बढ़ा रहे हैं। इसीलिए इन प्रान्तों में भी उसकी हजारों प्रतियाँ जाती हैं।

मान्यता—(१) भारत के सभी प्रदेशों की सरकारों ने अपने स्कूल, कालेजों के लिए खरीदने की मान्यता ‘साहित्य-सन्देश’ को दे रखी है।

(२) भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालय, अधिकांश कालेज और स्कूल तथा अध्यापकगण अपने पुस्तकालयों के लिए ‘साहित्य-सन्देश’ खरीदते हैं।

आप भी छः रुपये धनादेश द्वारा भेजकर आज ही ग्राहक बन जाइए।

‘साहित्य-सन्देश’ की गत १५ वर्षों की फाइलें

साहित्य-सन्देश को निकलते ३० वर्ष हो गए। प्रारम्भ की १५ वर्षों की फाइलें क्या एक अङ्क भी उपलब्ध नहीं है। इधर १५ वर्ष की कुछ फाइलें उपलब्ध हैं। प्रत्येक फाइल में हिन्दी के श्रेष्ठ लेखकों द्वारा लिखित ५०० पृष्ठों (पुस्तकाकार में १००० पृष्ठ) की सामग्री है। ऐसी प्रत्येक सजिन्द फाइल का मूल्य केवल १०) है। पोस्टेज एक फाइल पर करीब ३) पड़ेगा। किन्तु कम से कम पाँच वर्ष की फाइलें मँगाने पर रेल द्वारा बिना खर्च भेजी जायेंगी। किस वर्ष की फाइल में कौन विशेषाङ्क है—यह नीचे देखिए। चिन्हित विशेषाङ्क अलग से भी मिल सकते हैं। ग्राहकों को ये फायलें पौने मूल्य में मिलती हैं।

सन्	वर्ष के विशेषांक	विशेषांक का मूल्य
१९५२-५३	कहानी अङ्क (पुस्तक रूप में)*	५)
१९५३-५४	आधुनिक काव्याङ्क	२)
१९५४-५५		
१९५५-५६	नाटकाङ्क (पुस्तक रूप में)*	५)
१९५६-५७	आधुनिक उपन्यास अङ्क*	३)
१९५७-५८	(१) भाषा विज्ञान अङ्क (पु. रू.)*	५)
	(२) प्रगति विशेषाङ्क	२)
१९५८-५९	(१) सन्त साहित्य अङ्क*	३)
	(२) ऐतिहासिक उपन्यासाङ्क	३)
१९५९-६०	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क*	३)
	(२) प्रगति अङ्क १९६०*	२)
१९६०-६१	(१) शोध विशेषाङ्क	३)
	(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	३)
१९६१-६२	(१) निबन्ध विशेषाङ्क (पु. रू.)*	५)
	(२) निराला विशेषाङ्क	२)
१९६२-६३	(१) साहित्य-शास्त्र अ	३)
	(२) रागेय राघव अङ्क	२)
	(३) शिवपूजनसहाय अङ्क*	२)
१९६३-६४	(१) बाबू गुलाबराय अङ्क*	३)
	(२) वीर काव्य विशेषाङ्क	२)
१९६४-६५	(१) द्विवेदी अङ्क*	२)
	(२) राष्ट्र कवि गुप्त विशेषाङ्क*	२)
१९६५-६६	(१) हरिऔध विशेषाङ्क*	२)
	(२) विद्यापति विशेषाङ्क*	२)
१९६६-६७	(१) प्रवेशाङ्क*	२)
	(२) रत्नाकर विशेषाङ्क*	२)
१९६७-६८	(१) नव वर्षाङ्क*	२)
	(२) बचन विशेषाङ्क*	२)

साहित्य-सन्देश कार्यालय,

साहित्य संदेश [आलोचना मासिक]

भाग-३०

अङ्क-१-२

सम्पादक

महेन्द्र

सहायक

कामतागुप्त 'कमलेश'

प्रबन्ध सम्पादक

कमलेन्दु जैन

जुलाई-अगस्त—१९६८

मूल्य

आजीवन	१००.००
एक वर्ष का	६.००
दो वर्ष का	११.००
तीन वर्ष का	१५.००
एक अंक का	.६०
इस अङ्क का	१.५०

हमारी विचारधारा

हमारा यह विशेषांक—

हिन्दी-साहित्य जगत में आचार्य परशुराम चतुर्वेदीजी का अपना प्रमुख स्थान है। वे एकान्त साधक होते हुए भी सूफी एवं सन्त-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान एवं अध्येता हैं। उन्होंने अपने जीवन में साहित्य-साधना को प्रथम स्थान दिया है। वैसे वे पेशे से वकील हैं। न्याय और अन्याय की छानबीन करके निर्णय देना ही उनका कर्त्तव्य है। इसी परिवेश में वे साहित्य में भी छिपे रत्नों को अन्वेषित करते रहते हैं। सन्त-साहित्य के गहन गह्वर में वे निःसंकोच प्रवेश करके उसके विकास एवं प्रसार का अध्ययन कर चुके हैं। फिर अपने इसी अनुभव को 'उत्तर भारत की सन्त-परम्परा' नामक पुस्तक में इस तरह लड़ियों में पिरो दिया है कि उसके सभी रत्न स्वतः चमत्कृत हो उठे हैं।

सूफी साहित्य के प्रकोण में उन्होंने हिन्दी-साहित्य के प्रेमाख्यानक परम्परा का भी यथोचित अध्ययन किया है। इसीलिए उनकी सूफी साधना भी सन्त-साधना से किसी भी स्तर पर हेठी नहीं है। एतदर्थ साहित्य के इस एकान्त साधक एवं मनोचेता के ७५ वें वर्ष में प्रवेश के सुअवसर पर 'साहित्य-सन्देश' यह 'साधना-अङ्क' सादर 'पत्र', पुष्प, फलम्, तोयम्' के रूप में सद्भावना से अर्पित किया जा रहा है। साधना ही उनका बल है तथा सेवा ही कार्य। इसी भाव से सत्प्रेरित होकर हमने अपने इस ३० वें वर्ष में प्रविष्ट होने के साथ प्रथम पुष्प इसी साहित्यसेवी को अर्पित करने का निश्चय किया। साथ ही हम यह भी आशा करते हैं कि चतुर्वेदीजी दीर्घायु होकर साहित्य की उत्कृष्ट सेवा में रत रहें।

जोशीजी का काव्य-प्रेम—

इस वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ का एक लाख का पुरस्कार जिन दो महान् साहित्यकारों को संयुक्त रूप से मिला है, उनमें से एक गुजरात विश्वविद्यालय के उपकुलपति एवं गुजराती के महाकवि पं० उमाशंकर जोशी के महाकाव्य 'निशीथ' पर मिला है। पर ५० हजार के इस पर्याप्त धन को जोशीजी स्वयं अपने उपयोग में न लाकर उसे अनुवाद कार्य में लगायेंगे। गुजराती भाषा में देश की अन्य भाषाओं की अच्छी-

अच्छी कविताओं का अनुवाद इस योजनान्तर्गत होगा। इस दृष्टि से जोशीजी का यह साहित्यिक निर्णय न केवल गुजराती के उत्थान एवं प्रसार को बढ़ावा देगा वरन् देश की अन्य भाषाओं को भी अपनी सीमा से आगे निकलने का अवसर मिलेगा। फलतः देश की भाषा के साथ उसकी जन-संस्कृति, विचार एवं भाव भी एक दूसरे से प्रभावित होकर समुन्नत होंगे।

हम जोशीजी के अपने देश की भाषाओं के प्रति प्रेम एवं सहानुभूति की प्रशंसा करते हैं, साथ ही उनके इस दृष्टिकोण एवं निर्णय से श्रद्धानत भी हैं। हमारी हार्दिक बधाई उन्हें है तथा ईश्वर से मंगल कामना है कि वे स्वस्थ रहकर सत्साहित्य का प्रणयन अविरल रूप से करते रहें तथा भारतीय साहित्य के भण्डार को भरते रहें।

यूरोप में संस्कृत का प्रथम अनुवाद—

हमारा संस्कृत साहित्य बहुत ही प्राचीन है। उसकी प्राचीनता की अवधि कब से मानी जाय, यह तो निश्चित रूप से कह पाना सहज सम्भव नहीं, फिर भी इतना तो जोर देकर कहा ही जा सकता है कि इसकी लोकप्रियता भारत की सीमा से बाहर यूरोप तक थी। अभी हाल के अनुसन्धान से ज्ञात हुआ है कि सन् १६५१ में अब्राहम रोजेरियस नामक किसी व्यक्ति ने एक लम्बे शीर्षक से कोरोमण्डल तट व उसके आसपास के क्षेत्र के ब्राह्मणों के धार्मिक विश्वासों व रीति-रिवाजों पर एक पुस्तक लिखी थी। रोजेरियस उक्त क्षेत्र में सन् १६३० से १६४१ तक प्रोटेस्टेंट मन्त्री के रूप में रहा और उसने भारतीय धर्म व संस्कृति से परिचय प्राप्त किया। उसकी पुस्तक में भर्तृ-हरि के 'वैराग्य-शतक' और 'नीति-शतक' के अनुवाद भी शामिल थे। इस प्रकार यूरोप में संस्कृत से अनुवाद का यह प्रथम प्रयास था और रोजेरियस को संस्कृत साहित्य का यूरोप में परिचय कराने वाले प्रथम यूरोपियन होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

हिन्दी पुस्तकों के रूसी अनुवाद—

रूस में भारतीय जन-जीवन एवं साहित्य के प्रति

अगाध स्नेह एवं श्रद्धा है। इसका इस बात से प्रमाण मिलता है कि रूसी भाषा में सब से अधिक भारतीय पुस्तकों का अनुवाद एवं प्रचार-प्रसार हुआ है। अभी हाल में रूसी अनुवादों में संस्कृत से महाभारत के 'विराट् पर्व' का रूसी रूपान्तरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आदि पर्व और सभा पर्व के अनुवाद लेनिनग्राड के प्राच्यविद् ब्लादीमीर काल्यानोव ने किया था। विराट् पर्व के अनुवादक भी वही हैं। मूल संस्कृत श्लोकों से सहज-सरल रूसी अनुवाद के साथ विशद टिप्पणियों और व्यापक सन्दर्भों को भी जोड़ दिया गया है। 'प्राचीन भारतीय महाकाव्य में कुछ साम-रिक समस्याएँ' शीर्षक लेख भी काल्यानोव ने इसी में प्रस्तुत किया है। काल्यानोव के तरुण शिष्य एस० एल० नेवेलेवा ने 'आरण्यक पर्व' के उत्तरार्ध का रूसी अनुवाद उपस्थित किया है। इस समय काल्यानोव स्वयं पाँचवें पर्व 'उद्योग पर्व' का रूसी अनुवाद कर रहे हैं।

अलेक्जान्द्र सिविन ने वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों के रूसी अनुवाद सन् १९६४ और १९६५ में किये थे और क्रमशः अब तक ग्यारहों उपनिषदों के बहुप्रतीक्षित रूसी अनुवाद वे प्रस्तुत कर चुके हैं। कश्मीरी संस्कृत कवि सोमदेव भट्ट के 'कथासरित्सागर' के पाँच अध्यायों का अनुवाद मास्को के भारतविद् पावेल ग्रिन्सटर और इगोर विरेन्नियाकोव ने किया है। १९६७ के अन्त तक पंजाबी की मिथक कथाओं से सम्बन्धित कृति का अनुवाद इरिना कुद्रयात्सेवा और इजराइल दाबिनोविच द्वारा मास्को में आ गया था। इसकी एक लाख प्रतियाँ छपी थीं। रूसी भारत-विदों ने आधुनिक साहित्य से भी महत्वपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। यशपाल की कुछ चुनी कहानियों का अनुवाद 'राख के नीचे चिनगारियाँ' शीर्षक से आया है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' का अनुवाद इम्-नुएल बोरोपिक, वी० मखोतिन और वी० क्रेसेन्निकोव ने किया है। 'गोदान', 'गबन', 'कर्मभूमि' और 'निर्मला' के भी अनुवाद १९५६, १९६१, १९५८ तथा १९५६-५८ में आए। हिन्दी में रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' का रूसी अनुवाद सेमियान दिमि-

शित्तम और ओलेम उत्सीफेराव ने उपस्थित किया है। लक्ष्मी एस० त्रिपुर-मुन्दरी के तमिल उपन्यास 'पेन्-मनम्' का अनुवाद एलेव इब्राजिमोव ने किया है।

'द फारेन लिट्रेचर (अंक १, १९६८) ने कृष्ण चन्दर की तीन कहानियों का अनुवाद प्रकाशित किया है। ये कहानियाँ उर्दू से इरिना कुद्रयात्सेवा और इजराइल राविनोविच द्वारा अनुदित की गई हैं।

फारेन लिट्रेचर (अंक १, १९६७) में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के 'लोकायतन' के कुछ अंशों का अनुवाद आया है। और अमृताप्रीतम के पंजाबी गीत-संग्रह 'काला-गुलाब' के अंग्रेजी अनुवाद से सभी अनुवाद प्रस्तुत किया है श्री नटेला गोसंकाया ने। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की प्रमुख पुस्तकों के अनुवाद रूसी भाषा में बड़ी ही द्रुतिगति से हो रहे हैं। हमारा भारतीय साहित्य अपने देश की सीमा लाँघकर अन्य देशों में पहुँचकर अपने कीर्ति एवं यश का गान कर रहा है। इस उत्कृष्टता को देखते हुए स्वयं अपने देश में अपने साहित्य एवं भाषा की छीछालेदर से हृदय को बड़ी वेदना होती है। इस स्थिति में जहाँ विदेशी लोग हमारे साहित्य का आदर कर उसके गुणों को ग्रहण कर अपना ज्ञान भण्डार भर रहे हैं, वहाँ हमारा देश अपने ही तंतुजाल में फँसा हुआ ऐसा उलझा हुआ है कि जिससे सहज निकल पाना सम्भव नहीं।

यदि हम रूस की तरह अपने घर में ही अपने देश की सभी भाषाओं की अच्छी पुस्तकों का एक दूसरी भाषा में अनुवाद करें तो यह किसी भी भाषा की समृद्धि, प्रचार एवं प्रसार के लिए बहुत ही उपयोगी होगा। इस दृष्टि से हमारा विचार है कि अपने देश की सभी भाषाओं की अच्छी पुस्तकों का अनुवाद सर्व प्रथम हो जाना चाहिए तथा इस पुनीत कार्य में सरकार एवं प्रकाशक दोनों से सहायता की अपेक्षा की जा सकती है।

अध्ययन-अध्यापन के माध्यम में एक-रूपता—

आज यह प्रश्न बड़े जोरों से उठाया जा रहा है

कि जब सभी प्रदेश अपनी-अपनी मातृभाषा में शिक्षा देना प्रारम्भ कर देंगे तो भारत ऐसे विशाल देश में भाषा की एकरूपता शिक्षा जगत में नहीं हो सकती। बंगाल का छात्र बंगाली, गुजरात का गुजराती, महाराष्ट्र का महाराष्ट्री, पंजाब का पंजाबी, आसाम का आसामी, उड़ीसा का उड़िया और तमिलनाड का तमिल से शिक्षा प्राप्त करेगा। इस तरह वह किस प्रकार अपने देश की अन्य भाषा तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्पर्क में आ सकता है? यही प्रश्न विचारणीय है। अभी तक वस्तुतः माध्यमिक तक शिक्षास्तर मातृभाषा एवं उच्च शिक्षा स्तर एक विदेशी भाषा अंग्रेजी है। इस प्रकार सम्प्रति शिक्षा के माध्यम के रूप में दो प्रकृति की भाषाएँ व्यवहृत हो रही हैं। यह ऐसी स्थिति है जिसने विद्यार्थियों के लिए विषम समस्या उपस्थित कर दी है। बात यह है कि जो विद्यार्थी माध्यमिक स्तर तक मातृभाषा के माध्यम से पढ़ चुका रहता है उसे एकाएक उच्च शिक्षा के लिए जब एक विदेशी भाषा की शरण लेनी पड़ती है तो उसकी सारी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है और भाषा की, विषय की दुरुहता के रूप में भासित होकर विद्यार्थी की रुचि को विषय की ओर से हटा देती है। विद्यार्थियों की इस कठिनाई का हल अंग्रेजी के स्तर को प्रारम्भ से ही ठीक करने का प्रयत्न करके निकालने की कोशिश की जाती है जो अत्यन्त अस्वाभाविक और सर्वथा असाध्य सा प्रयत्न है। इससे न केवल एक विदेशी भाषा का भार सभी छात्रों पर अनिवार्य रूप से पड़ता है, बल्कि अंग्रेजी की गुलामी में पड़कर अन्य विदेशी भाषाओं के अध्ययन के लिए अवसर तथा वातावरण भी नहीं मिल पाता जो भारत जैसे विशाल प्रजातांत्रिक राष्ट्र के लिए अत्यन्त लज्जाजनक और अपमान की स्थिति है। अतएव इस समय इस बात की नितान्त आवश्यकता है 'कि जो छात्र आज प्रारम्भ से मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं वे आगे चलकर किसी भी विषय की शिक्षा मातृभाषा में प्राप्त कर सकें, इसकी व्यवस्था शीघ्र होनी चाहिए।'

माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय की शिक्षा के माध्यम में अन्तर हो, यह शिक्षा शास्त्र की दृष्टि से एवं छात्रों के भविष्य दोनों के दृष्टिकोण से अस्वाभाविक एवं हानिकारक है। अन्ततः इसकी व्यवस्था न होने से इसका परिणाम निरीह छात्रों को भुगतना पड़ता है।

हमारी दृष्टि में माध्यम परिवर्तन का कार्य सर्व प्रथम विश्वविद्यालय में ही होना चाहिए। यद्यपि इस दिशा में हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों को पहल करनी चाहिए। यदि हिन्दी भाषी राज्यों के सभी विश्वविद्यालय पूर्णरूप से हिन्दी को शिक्षा का माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित कर दें तो सारे भारत में अन्य दूसरी भारतीय भाषाओं को यह पद मिलने में विलम्ब न होगा। क्योंकि भारतीय भाषा के माध्यम का जो आश्चर्यजनक सुफल हिन्दी भाषी राज्यों के छात्रों को प्राप्त होगा, उससे देश के दूसरे भागों के छात्रों को वंचित रख सकना सम्भव नहीं होगा। यद्यपि इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है और इस समय देश के लगभग ३५ विश्वविद्यालय अनेक विषयों में हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में व्यवहृत करने लगे हैं, फलस्वरूप इसमें हिन्दी का भविष्य कुछ गतिमान सा प्रतीत होने लगा है।

परन्तु इस स्थल पर माध्यमिक परिवर्तन में तनिक सतर्कता की अपेक्षा है और इससे शिक्षा स्तर ह्रासोन्मुख न होकर उच्चस्तर की ओर ही होना चाहिए। इसके लिए विश्वविद्यालय के आचार्य ही सम्पूर्ण उत्तरदायी हैं। इस कार्य के लिए हिन्दी माध्यम के ऐसे मानस ग्रन्थों का निर्माण भी होना चाहिए जो अपने क्षेत्र में अंग्रेजी भाषा से टक्कर ले सकें तथा उनके समक्ष उत्कृष्ट प्रमाणित होने की भी क्षमता रखते हों। इस पुनीत कार्य के लिए सभी विश्वविद्यालय, कालेज एवं संस्थाओं के अधिकारी एवं मान्य विद्वान अग्रणी होने चाहिए।

किन्तु बहुधा ऐसा कहा जाता है कि सभी भार-

तीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने से हमारी राष्ट्रीय शिक्षा विखण्डित हो जाएगी। कई भाषाओं में शिक्षा का माध्यम होने से राष्ट्रीय शिक्षा की एकरूपता निश्चय ही विभिन्न होगी। पर इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर तनिक गम्भीरता से मनन करने पर इसका निराकरण एवं फलागम स्वतः ही समझ में आ जाएगा। शिक्षा का माध्यम विभिन्न प्रदेशों की मातृभाषा होने पर अंग्रेजी समाप्त हो जाएगी और भारतीय भाषाएँ आगे बढ़ेंगी। इस प्रकोण में राष्ट्र जितना ही आगे बढ़ेगा, हमारी भाषाएँ समुन्नत, सक्षम और विकसित तो होंगी ही, परस्पर एक दूसरे के निकट भी पहुँचेंगी। परिणामतया छात्र को अपने देश की दो तीन भाषाएँ जान लेना आसान हो जाएगा। तदनन्तर भारतीय भाषाओं के उच्च शिक्षा के ग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दावली की एक रूपता के कारण भी इतनी अभिन्नता रहेगी कि भारत का छात्र वर्ग राष्ट्रभाषा हिन्दी, दो तीन प्रान्तीय भाषाएँ और एक दो विदेशी भाषा का ज्ञाता हो ही जाएगा। फलतः वर्तमान समय में जिस प्रकार हमारी प्रान्तीय भाषाओं में परस्पर इतनी दूरी दिखलाई पड़ रही है, वह अंग्रेजी के हट जाने और हिन्दी के सम्पर्क सूत्र में विकसित हो जाने पर यह दूरी समाप्त हो जाएगी और शिक्षा जगत में एकरूपता आने में कोई बाधा नहीं पड़ेगी। इस दृष्टि से हमारी मातृभाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम स्नातकोत्तर कक्षाओं तक होने पर ही हमारा विदेशी भाषा से पीछा छुड़ा देने में सहायक होंगी।

प्रान्तीय भाषाएँ अपने मूल रूप में विकसित होकर देश एवं प्रान्त को सम्पन्न बनाने में तथा भाषा की परतन्त्रता से मुक्ति दिलाने में जो कार्य करेंगी, वह युगों तक स्तुत्य एवं स्मरणीय रहेगा। फिर उसकी आधारशिला पर भविष्य का एक नया प्रासाद निर्मित होगा जिसके गवाक्षों से शुद्ध, स्वास्थ्यवर्द्धक एवं सुगन्धित वायु के निर्मल भोके ही उसके निवासियों को सदैव आनन्दित करते रहेंगे।

हिन्दी संत साहित्य का स्वरूप

● डा० विनयमोहन शर्मा

हिन्दी में सन्त-साहित्य की ओर शोधक दृष्टि डालने की परम्परा स्व० डा० बड़थवाल ने प्रारम्भ की। इनका 'निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री' डी० लिट् के प्रबन्ध का विषय था। हिन्दी के वे प्रथम डाक्टर थे जिनके प्रबन्ध की मौलिकता और शोध की पाश्चात्य विद्वानों तक ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। आचार्य क्षिति-मोहन सेन की सन्त साहित्य साधना सर्व विश्रुत है। इस दिशा में उनका ज्ञानयोग समादर की वस्तु है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के हृदय में भी यही साधना प्रतिफलित हुई है। जिस सामान्य धारा को खोजने का उपक्रम उन्होंने किया था उसकी परिणति आचार्य परशुराम चतुर्वेदी में दीख रही है। उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, सन्त काव्य, मध्यकालीन प्रेम साधना आदि कृतियों में उनकी उसी परमतत्व की खोज जारी है। वे मानों अनुभव करते हैं—“जहाँ देखों तहाँ एक ही साहब का दरबार।” इन महानुभावों के अतिरिक्त और भी सन्त-साहित्य के प्रेमी हैं जिनके हृदय में सन्तों का भाव रस अहर्निश भरता रहता है। ऐसे अप्रकट साधकों में बिहार के डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव का नाम उल्लेखनीय है। उनकी 'मीरा की काव्य साधना' और सन्त साहित्य में यद्यपि शोध के विशेष तत्व नहीं हैं तो भी भावुक हृदय की वह विभोरता अवश्य है जो सन्तों के मर्म तक पहुँच कर उनकी अनुभूति को अपनी बनाने के लिए आतुर रहती है।

प्रश्न यह है कि सन्त शब्द किसके लिए व्यवहृत होना चाहिए? क्या समस्त आस्तिक (भगवान के आराधक) सन्त कहलाते हैं या सन्त कहला सकते

हैं? दूसरे शब्दों में क्या चित्रकूट के घाट पर भीर लगाने वाले सन्त हैं या दिल के आड़ने में है तमबीरे यार देखने वाले दोनों ही? जनसाधारण तो जिन्होंने उसके मार्ग पर चलने का व्रत ले लिया है उन सब को सन्त शब्द से अभिहित करता है—चाहे वे राम के दरबार में जा रहे हों, चाहे वे ब्रह्म को अपने में ही खोज रहे हों। सन्त शब्द का प्रयोग पहले व्यापक अर्थ में किया जाता था। क्योंकि इस शब्द को पाली भाषा के उस शान्त शब्द से निकला हुआ मान सकते हैं जिसका अर्थ निवृत्ति मार्गी या विरागी होता है अथवा यह उस सत् शब्द का बहुवचन हो सकता है जिसका प्रयोग हिन्दी में एकवचन जैसा होता है और जिसका अभिप्राय एकमात्र सत्य में विश्वास करने वाला अथवा उसका पूर्णतः अनुभव करने वाला व्यक्ति समझा जाता है। (बड़थवाल)

परशुरामजी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी खोज की है, उन्होंने ऋग्वेद में भी संत शब्द खोज निकाला है—स्वर्णं विप्राः कवयोर्वचो-मिरेकं संत बहुधा कथयन्ति। डा० हीरालाल जैन द्वारा संपादित पाहुड़ दोहा में भी संत शब्द प्रयुक्त है (संत गिरंजनु सोजि सिऊ) कबीर, तुलसी आदि कवियों ने भी इसका प्रयोग किया है। अतः संत शब्द इस विचार से उस व्यक्ति की ओर संकेत करता जिसने सतरूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तदरूप हो गया हो। ऐसी दशा में उन सगुणवादियों को संतों की श्रेणी से क्यों निष्कासित कर दिया गया है जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से ऊपर

उठकर परमतत्व का अनुभव किया है ? निगुणियों को संत और सगुणियों को भक्त कहने की परिपाटी कदाचित् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चला दी है, जिसका अनुसरण उनके परवर्ती लेखक बराबर करते आ रहे हैं। यों संतों में अद्वैती, भेदाभेदी और विशिष्टा-द्वैती तीनों दार्शनिक मत के व्यक्ति दिखलाई पड़ते हैं। तुलसीदास के समान सभी सन्तों ने—

वाक्य ज्ञान बिनु—भव पार न पावै कोई ।

ज्यों गृहमध्य दीप की वातन तम निवृत्त नहिं होई ॥

कहा है ।

इसीलिए सन्त सिद्धान्त वाक्यों की चर्चा मात्र में विश्वास नहीं करते, वे उसे अनुभव में उतार कर ही सन्तुष्ट हुए हैं। सत्पुरुषी परमतत्व को अनुभव करने वालों में व्यापक दृष्टि रखने वाले कुछ साधक और सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनकी चर्चा सन्त परम्परा का विवेचन करने वाले ग्रंथों में ही होनी चाहिए। उदाहरणार्थ दक्षिण में जहाँ बारकरियों नामदेव, ज्ञानदेव आदि को जो पंढरपुर के विट्ठल मन्दिर में प्रतिष्ठित विठोबा की आराधना करते हैं और परम सत्य की व्यापकता को अनुभव करते हैं, सन्त परम्परा में स्थान दिया गया है, वहाँ दक्षिण में विदर्भ गुजरात में पनपने वाले महानुभाव पंथ के संतों का कहीं उल्लेख नहीं है। न बङ्गाल के ग्रन्थ में और न परशुरामजी के 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में ही उनकी चर्चा है। यद्यपि महानुभाव पंथी उत्तर में काबुल तक फैले हुए थे, यद्यपि वे कृष्ण की चर्चा करते हैं तो भी अपने हिन्दू या किसी विशिष्ट जाति में परिगणित नहीं करते। यही कारण है कि मुसलमानी शासनकाल में उन पर 'जजिया कर' नहीं लगाया जाता था। महानुभाव पंथियों में कुछ सन्त ऐसे भी हैं जिनकी हिन्दी में भी वाणी मिलती है।

इसी प्रकार गुजरात में प्रचलित स्वामी नारायण सम्प्रदाय के सन्तों का भी उल्लेख हमारे यहाँ नहीं मिलता। उस पंथ का मुख्य स्थान वड़ोदा में है। गुजरात, काठियावाड़ आदि स्थानों में इनके मठ पाये जाते हैं। इस मत की विशेषता यह है कि इसमें मठ-

धारी होने पर भी अपने व्यवसाय का परित्याग नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ यदि कोई मोची मठ में चला जाता है तो वह वहाँ भी सन्तों की पनही बनता है। ये विष्णु के उपासक हैं। मठाधीश ब्रह्मचारी होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि सन्तों और अनेक भक्तों में जिनकी कथनी करनी में तादात्म्य है, विभाजन रेखा खींचना कठिन है। अतः पूर्व मान्यताओं का ही परशुरामजी ने अपने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में स्थान दिया है। उन्होंने अपने वक्तव्य में लिखा है—सन्त परम्परा के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाने वाले सन्तों का चुनाव करते समय सबसे अधिक ध्यान स्वभावतः उन लोगों की ओर ही दिया गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना पथ-प्रदर्शक माना था अथवा जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों और साधनाओं को किसी न किसी रूप में अपनाया था। फिर भी उन्हें इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे लोगों को भी स्थान देना पड़ गया है जो सूफियों, सगुणोपासकों, नाथपन्थियों और अन्य ऐसे सम्प्रदायों के साथ सम्बद्ध रखते हुए भी सन्त परम्परा में गिने जाते आए हैं और जो अपने सन्त मतानुकूल सिद्धान्तों वाली रचनाओं के आधार पर भी उक्त सन्तों के अत्यन्त निकटवर्ती समझे जा सकते हैं। इसलिए अल्ला—ईश्वर को एक मानने वाले महात्मा गांधी भी इस ग्रन्थ की सन्त पंक्ति में विराजमान हैं। हिन्दी में अन्य सन्तों की भाँति उन्होंने कोई बानी नहीं लिखी। हाँ, उनका साधनामय जीवन सन्तों की श्रेणी में निस्सन्देह आ जाता है। अतएव लेखक को सन्तों के चुनाव में समझौता करना पड़ा है। लगभग साढ़े सात सौ पृष्ठ का विशाल ग्रन्थ सात अध्यायों में विभाजित है। इसके मुख्य दो भाग हैं। पहले में कबीर के पूर्वकालीन सन्तों पर विहंगम दृष्टि है और दूसरे में कबीर से लेकर महात्मा गांधी तक के सन्तों की जीवनी और उनके सिद्धान्तों की चर्चा है। कबीर साहब ही इस ग्रन्थ की नींव हैं। उन्हीं पर इस ग्रन्थ

हिन्दी संत साहित्य का स्वरूप]

का प्रासाद खड़ा है। अतएव कबीर के जीवन और उनके सिद्धान्तों पर विद्वान् लेखक ने पर्याप्त अनुशीलन, चिन्तन और विवेचन किया है। कबीर पर आज तक जितनी खोज हो चुकी है उसका पूरा आकलन और अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। फिर भी उन्हें यह मानना ही पड़ा है कि कबीर साहब का जीवनकाल पूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है और इसी कारण इस विषय में हम अन्तिम निर्णय असन्दिग्ध रूप से देने में असमर्थ ही कहे जा सकते हैं। कबीर के सम-सामयिक सन्त स्वामी रामानन्द (इन्हें कबीर का गुरु कहा जाता है) सेन नाई, पीपाजी, रविदास, रैदास, कमाल, घना भगत आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसके बाद कबीर मत की विभिन्न शाखाओं का भी वर्णन किया गया है। नानक पन्थ, लाल पन्थ, दादू पन्थ, निरंजनी सम्प्रदाय बावरी पन्थ, बाबालाली सम्प्रदाय, घामी सम्प्रदाय, सत्तनामी सम्प्रदाय, धरनीश्वरी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, गरीब पन्थ, आनध पन्थ, रामसनेही सम्प्रदाय, साहिव पन्थ, नांगी सम्प्रदाय, राधास्वामी सत्संग आदि पंथों और सम्प्रदायों की चर्चा का इसमें समावेश है। सन्तों की बानी के साथ भाव विभोरता स्थापित करने पर भी लेखक की शैली में भावुकता विलकुल नहीं है, प्रौढ़ तर्क और वैज्ञानिक अन्वेषण का चातुर्य है। यह सच है कि कबीर के समान सभी सन्तों का ऊहापोहात्मक विवेचन नहीं हो पाया है पर इसके लिए इसी कोटि की कई जिल्दों की आवश्यकता है। लेखक ने इस कमी को अपने दूसरे ग्रन्थ 'सन्तकाव्य' में पूरा करने का प्रयत्न किया है पर इसे प्रयत्न ही कहना चाहिए। हाँ, इस ग्रन्थ की १२६ पृष्ठ की भूमिका अवश्य उपयोगी है जिसमें सन्त साहित्य की संक्षिप्त रूप रेखा के साथ सन्तकाव्य (यद्यपि सन्तों ने कभी अपनी बानियों में काव्य रचना का विशेष ध्यान नहीं रखा) का सौन्दर्य, रस, अलंकार, छन्द, भाषा, संगीत आदि की दृष्टि से उद्घाटित किया गया है। इस तरह

काव्यशास्त्र की दृष्टि से सन्त साहित्य का मूल्याङ्कन किया गया है। संवत् १२०० से संवत् १६६३ तक होने वाले सन्तों का जयदेव से लेकर रामतीर्थ तक का सामान्य परिचय उनकी चुनी हुई रचनाओं सहित दे दिया गया है। इस तरह जनता में सन्त साहित्य के प्रति अभिरुचि जागृत करने के लिए यह उपक्रम प्रतीत होता है। परिशिष्ट में कुण्डलिनी, गगन, चन्द्र निरति, सुरति आदि शब्दों पर अत्यन्त संक्षिप्त टिप्पणियाँ दे देने से सन्त की पारिभाषिक शब्दावली से पाठक परिचित हो जाता है। सन्तों के अध्ययन में एक और कड़ी जोड़ने वाली कृति परशुरामजी की मध्यकालीन प्रेम साधना, कबीर साहित्य की परख, दादूदयाल ग्रन्थावली आदि हैं। प्रेमसाधना का सम्बन्ध प्रेमलक्षणा भक्ति से है। इस प्रकार के निबन्धों में मध्यकाल के सन्तों और भक्तों ने प्रेम द्वारा अपने आराध्य की जिस तन्मयता से उपासना की है, उसका सहृदयतापूर्ण विवेचन किया गया है। तमिल प्रान्त के आड़वार भक्त, बंगाल के सहजिया सम्प्रदाय, वाउल सम्प्रदाय के अतिरिक्त मीरा, जायसी, हितहरिवंश, नन्ददास और रसखान के हृदय की प्रेमसंकुल मनोहर भाँकी भी आपको मिलेगी। हिन्दी में इस तरह सन्त साहित्य का गम्भीर विवेचन आचार्य परशुराम की उपयुक्त कृतियों में मिल जाता है। विद्वान् लेखक ने सन्तों की वाणियों के संकलन में भी काफी श्रम उठाया है। प्रकाशित अप्रकाशित ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से उन्होंने ठीक पाठ निर्धारित करने का यत्न किया है। मीरा-बाई की पदावली में उनकी सम्पादन पटुता का परिचय मिल जाता है। इसकी खोजपूर्ण भूमिका से कई भ्रान्तियों का निराकरण होता है।

हमारा विश्वास है, वर्तमान लेखकों में सन्त-साहित्य को असली साधना का एकमात्र लक्ष्य बनाने वालों में आचार्य परशुरामजी का स्थान अग्रणी है। उनके ग्रन्थ सन्त साहित्य के अध्ययन करनेवालों के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ सिद्ध होंगे।

—अध्यक्ष, हि० वि०, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

सूफी साहित्य की प्रेमाख्यानक परम्परा

● डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

जीवन और उसके प्रतिरूप साहित्य दोनों ही में प्रेम की प्रवृत्ति एक अत्यन्त मौलिक प्रकृति रही है। हिन्दी-साहित्य की प्रेम-पद्धतियों का भी अपना निश्चित स्वरूप है। विभिन्न मतवादों एवं भक्ति परम्पराओं के प्रभाव में उनका अलग-अलग ढंग से विकास हुआ है। इस दृष्टिकोण से परीक्षण करने पर किसी भी साहित्य के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य ज्ञात हो सकते हैं।

प्रेम जैसी सुकोमल भावना की अभिव्यक्ति कविता के क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक सरलता एवं सफलता के साथ हो सकती है। प्रायः समस्त विश्व-साहित्य में गद्य के पूर्व कविता के प्रादुर्भाव का एक प्रधान कारण यह है कि मनुष्य की आदिम एवं अपरिहार्य मनोवृत्ति प्रेम स्वभावतः कविता में ही अधिक अनुकूल अभिव्यक्ति के उपकरण पा सकी है। गहरे मनोवेग संगीतमय वातावरण को ही अभिव्यञ्जना का माध्यम स्वीकार करते हैं। हिन्दी कविता में भी प्रागैतिहासिक काल से ही प्रेम की पद्धतियाँ महत्वपूर्ण रूप से प्रश्रय पाती आ रही हैं।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इन वैविध्यपूर्ण प्रेम-परम्पराओं का अध्ययन अपने दो ग्रंथों में उपस्थित किया है। 'हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह' ऐतिहासिक क्रम विकास के दृष्टिकोण से लिखी गई है तथा 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' शीर्षक पुस्तक सम्बन्ध विषय पर लिखित फुटकल निबन्धों का संग्रह है, जिसमें कवियों की भाव-परक व्याख्या की अपेक्षा उनके जीवन-वृत्त आदि पर अधिक प्रकाश डाला गया है। परन्तु ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से

दोनों ही पुस्तकें एक दूसरे की पूरक बन गई हैं। इनके अतिरिक्त 'भक्ति साहित्य में मधुरोपासना' भी प्रेम मूलक भक्ति विषयक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है जो परवर्ती प्रकाशन है।

हिन्दी कविता में प्रेम की वृत्ति किन-किन रूपों में विकसित हुई, यह दिखाने के पूर्व श्री चतुर्वेदी ने उपर्युक्त दोनों पुस्तकों की भूमिकाओं में प्रेम के सामान्य स्वरूप का विश्लेषण किया है। संक्षेप में प्रेम-सम्बन्ध में परशुरामजी की मान्यताएँ निम्न-लिखित हैं।

१—प्रेम रागात्मिका वृत्ति की भावात्मक अभिव्यञ्जना है। (हिन्दी काव्यधारा में प्रेमप्रवाह का प्रथम आवरण)

२—इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमभाव का स्वरूप सदा एक ही प्रकार का नहीं रहा है। विश्व की प्रारम्भिक दशा में इसका रूप चाहे जैसा भी रहा हो, मानव-समाज के विकास के साथ-साथ इसमें परिवर्तन अवश्य होते गये हैं। (वही पृष्ठ १)

३—प्रेम-साधना अधिकतर लक्षणाभक्ति से सम्बन्ध रखती है और उसमें प्रायः दाम्पत्य भाव का ही समावेश किया जाता है। (म० प्रे० सा० प्रस्तावना, पृ० १)

४—प्राचीन काल में प्रेम का रूप बहुत कुछ लौकिक ही रहता आया और वह भक्ति के उतने निकट नहीं आ सका था। फिर आधुनिक काल में भी वह क्रमशः अलौकिक क्षेत्र से लौकिक क्षेत्र की ओर ही बढ़ता चला आया है और वर्तमान काल में उसका एक रूप वंसा भी हो गया है जिसे 'प्लैटानिक लव'

कहा करते हैं। यह प्रेम स्वरूपतः अलौकिक एवं लौकिक प्रेम के मध्यवर्ती क्षेत्र का भाव है और इसी कारण इसमें दोनों का समन्वय-सा दीखता है। एक ओर जहाँ यह किसी यौन सम्बन्ध पर अधिक आश्रित नहीं वहाँ दूसरी ओर इसके लिए किसी इष्टदेव की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। (हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह)

५—परकीया प्रेमिका से सम्बन्ध रखने वाले लोकगीतों की रचना कदाचित् उस काल से होने लगी जब एक ओर यहाँ पर इस्लामी संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा और दूसरी ओर राधा जैसी प्रेमिकाओं के पौराणिक आख्यानों का अधिक प्रचार भी आरम्भ हो गया। (हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह, प्रस्तावना पृष्ठ ६)

✓ ६—प्रेम शब्द का अभिप्राय साधारणतः उस मनोवृत्ति से लिया जाता है जो किसी व्यक्ति की, दूसरे के सम्बन्ध में, उसके रूप, गुण, स्वभाव, सान्निध्य आदि के कारण उत्पन्न, कोई सुखद अनुभूति सूचित करती हो तथा जिसमें उस दूसरे के हित की कामना भी बनी रहती हो। (हि० का० धा० प्रे० प्र० पृष्ठ १)

७—शुद्ध प्रेम अहेतुक अर्थात् बिना किसी स्वार्थ-परक इच्छा के हुआ करता है। उसका सम्बन्ध किसी गुण विशेष के साथ भी नहीं रहता। (वही, पृ० ८)

८—शुद्ध प्रेम की प्रवृत्ति सदा स्वच्छन्द रह कर ही प्रवाहित होना चाहती है, वह किसी संयम वा मर्यादा के अंकुश को कभी सहन नहीं कर पाती। (वही, पृष्ठ ८)

९—एक पुरुष और एक स्त्री का एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होना निसर्ग-सिद्ध है जिसके कारण वह स्वकीया की अपेक्षा इसके परकीया रूप को स्वभावतः अधिक अपनाता है। इस प्रकार के स्वाभाविक अनु-राग को ही इसी कारण 'सहजभाव' का भी नाम दिया जाता है जो 'सहजिया सम्प्रदाय' का आदर्श है। (वही, पृ० ८)

✓ १०—प्रेम, चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक,

उसमें प्रेमास्पद के प्रति अनन्यता के भाव का भी होना अत्यावश्यक है। (वही, पृ० १०)

कहना न होगा कि गहरे अध्ययन के पश्चात् श्री चतुर्वेदीजी ने उपर्युक्त निष्कर्ष स्थापित किये हैं और इन्हीं के आधार पर उन्होंने हिन्दी कविता में मिलने वाली प्रेम-पद्धतियों का विश्लेषण किया है। इन निष्कर्षों की एक बड़ी विशेषता यह है कि अपनी प्रकृति में ये अत्यन्त सन्तुलित हैं। इनमें न प्रेम-सम्बन्धी प्राचीन दृष्टिकोण के लिए विशेष आग्रह है और न प्रत्येक नवीन दृष्टिकोण को अश्रद्धापूर्वक वन्द करके अपनाया गया है। अतः प्रेम के सामान्य स्वरूप को स्थापित करने में ये विशेष रूप से सफल हुए हैं।

हिन्दी कविता का आदिकाल सं० ७५० से सं० १२५० तक माना जाता है। इस युग के कृतित्व में सिद्ध-साहित्य का प्रमुख स्थान है। ये सिद्ध-गण अधिकतर बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और इन्हें बहुधा बज्रयानी या सहजयानी कहा जाता है। इन शताब्दियों में जैन मुनियों तथा नाथपन्थियों ने भी अनेक पदों की रचना की है। श्री चतुर्वेदी के अनुसार "हिन्दी काव्यधारा के इस आदिकालीन अंश में हमें प्रेम का प्रभाव वस्तुतः अपने लौकिक रूप में ही लक्षित होता है।" वस्तुतः इस प्रकार का प्रेम प्रायः अपनी प्रकृति में 'सेवयुलर' ही अधिक है। "उनके प्रेम का आधार किसी अलौकिक व्यक्ति के होते हुए भी उसका रूप तत्त्वतः लौकिक ही कहा जा सकता है। फिर भी शुद्ध लौकिक प्रेम का रूप हमें केवल उन कवियों की रचनाओं में ही उपलब्ध होता है जिन्होंने धार्मिक भावनाओं के प्रति उदासीन रहते हुए अपनी कविताएँ की हैं तथा जिनकी कृतियाँ बहुधा फुटकल पदों वा प्रेमगाथाओं के रूप में पाई जाती हैं। "इस प्रकार हिन्दी काव्य के आदिकाल में मिलने वाली प्रेम की मनोवृत्ति हमें एक विचित्र रूप में दिखाई देती है। उसे न तो पूर्णतः लौकिक कहा जा सकता है और न अलौकिक। किसी अलौकिक सत्ता के प्रति निवेदित होने पर भी यह प्रेम की भावना जिन उपकरणों के सहारे अभिव्यक्त हुई है,

वे उपकरण नितान्त भौतिक, अतः लौकिक हैं। इसके अतिरिक्त इन साम्प्रदायिक साधकों में से अधिकांश की रचनाओं में हमें विषयवासना की भी स्पष्ट गन्ध मिलती है।

आदिकाल के उपरान्त मध्यकालीन शृंगार-काव्य और सूफी-काव्य में भी प्रेम की मनोवृत्ति को पूरा-पूरा प्रश्रय मिला है। 'भागवतपुराण' के दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण लीला को आधार बनाकर १३ वीं शताब्दी के भक्त-कवि जयदेव ने प्रेम तथा शृंगार के अपूर्व काव्य 'गीतगोविन्द' की रचना संस्कृत में की। इस ग्रन्थ में जयदेव ने 'शुद्ध शृंगार रस की मनोवृत्ति से काम लिया।' और 'राधा एवं कृष्ण की रहस्यमयी केलि को आध्यात्मिक महत्त्व देकर उन्होंने उसकी जय तक मनाई।' 'परन्तु आगे चलकर ये राधा एवं कृष्ण शृंगारी कवियों के लिए आदर्श नायक और नायिका के प्रतीक मात्र ही रह गये और उनके आधार पर, अलौकिक पात्रों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले, लौकिक प्रेम के वर्णन की एक परम्परा-सी चल निकली। जयदेव के इस शृंगारी काव्य का अनुकरण हमें बहुत गम्भीर ढंग से मैथिल कोकिल विद्यापति की 'पदावली' में मिलता है। श्री चतुर्वेदी के अनुसार 'प्रेम की विद्यापति 'रूपासक्ति के रूप' में देखते जान पड़ते हैं जिसमें प्रेमास्पद का सौन्दर्य प्रेमी के हृदय में उसकी आँखों के माध्यम से, प्रवेश पाता है और उसमें पहुँचते ही उसके सारे शरीर को अपनी ओर पूर्णतः आकृष्ट कर लेता है।

हिन्दी प्रेम-काव्य में सूफियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग रहा है। सूफी काव्य परम्परा का आरम्भ मुल्ला दाऊद के चन्दायन से माना जा सकता है, जिसकी रचना संवत् १४३६ में हुई थी। इस काव्य-धारा को प्रेमाश्रयी कह कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसमें मिलने वाली प्रधान प्रवृत्ति का उचित उल्लेख किया है। "सूफियों की धारणा के अनुसार लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) और अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

लौकिक प्रेम यदि शुद्ध और सच्चा है तो वही अलौकिक प्रेम अर्थात् परमात्मा के प्रति प्रदर्शित किये जाने वाले प्रेम में भी परिणत हो सकता है। इस प्रकार का लौकिक प्रेम, वस्तुतः उस अलौकिक प्रेम के लिए एक प्रकार की साधना वा सीढ़ी का काम देता है। इन दोनों प्रकार के प्रेम में कोई मौलिक अन्तर न मानने का एक परिणाम यह हुआ कि इन सूफी प्रेम कथाओं का रूप व्यर्थ हो गया। उनका विधान बहुत कुछ समासोक्ति की पद्धति पर होने लगा, जिसके एक पक्ष में लौकिक प्रेम और दूसरे पक्ष में अलौकिक प्रेम को अभिव्यक्ति मिली। इन सूफी प्रेम-कथाओं में जायसी की 'पद्मावत' का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। वह एक प्रकार से इस काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व भी कर सकता है। चतुर्वेदीजी के शब्दों में "जायसी सूफी प्रेमगाथा के लिए एक आदर्श कवि ससम्भे जाते हैं, किन्तु ये भी अपने प्रयत्नों में पूर्णतः कृतकार्य नहीं हो पाये हैं। फिर भी जायसी ने 'पद्मावत' के बीच-बीच में जो प्रेमतत्त्व का निरूपण किया है वह बहुत स्पष्ट है। जायसी के अनुसार, यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो, प्रेम के समान अन्य कोई भी साधना उत्कृष्ट नहीं है।" जहाँ तक सूफी कवियों द्वारा वर्णित प्रेम का सम्बन्ध है, वह स्थान-स्थान पर अत्युक्तिपूर्ण सा लगने लगता है, और हमारे आलोचक के अनुसार "विद्यापति जैसे उच्चकोटि के शृङ्गारी कवियों में यह बात बहुत कम देखने को मिलती है।"

सूफी काव्य-धारा के साथ-साथ निर्गुण शाखा के अन्तर्गत आने वाला सन्त-काव्य भी हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। "सूफी कवियों ने प्रेम-कहानियों द्वारा लौकिक प्रेम के उदाहरण उपस्थित कर उनके आधार पर अलौकिक प्रेम का परिचय देते समय ऐसे साधनों की आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने अपने इष्टदेव राम या परमात्मा के प्रति अपने भक्ति भाव का प्रदर्शन उसे अपने सामने प्रत्यक्ष-सा मान कर किया। उनका राम निर्गुण एवं सगुण से परे किसी अतिर्वच-

नीय प्रकार का था, किन्तु वे उसे कोई व्यक्तित्व देते से भी जान पड़े और जिस तत्त्व को उन्होंने सभी प्रकार से निरपेक्ष की भाँति समझा उसके साथ उन्होंने विविध सम्बन्ध भी स्थापित किये।" इन वाक्यों के द्वारा सूफी काव्य एवं सन्त-काव्य का अन्तर परशुरामजी ने स्पष्ट किया है। सन्त कवियों में कबीर का स्थान अन्यतम है। उन्होंने प्रेम के स्वरूप का अत्यन्त मार्मिक विश्लेषण किया है। "इसके लिए अपना सर्वस्व निछावर करना पड़ जाता है। प्रेम कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसी खेत में उगती हो अथवा जो किसी बाजार में द्रव्य द्वारा खरीदी जा सकती हो इसे जो चाहे वही प्राप्त कर सकता है, किन्तु इसके लिए उसे अपना सिर तक सौंप देना पड़ता है।" जायसी की ही भाँति कबीर ने भी प्रेम के विरह के तत्त्व को बहुत आवश्यक तथा महत्वपूर्ण माना है। कबीर के अतिरिक्त नामदेव, रैदास, गुरु नानक तथा दादूदयाल सन्त कवियों में प्रमुख रूप से प्रेम मार्गी रहे हैं।

निर्गुण धारा के अतिरिक्त मध्यकालीन हिन्दी काव्य में सगुण धारा भी अपनी प्रेम-पद्धतियों के लिए प्रसिद्ध रही है। इस धारा के अन्तर्गत दो शाखाएँ हैं—कृष्ण-भक्ति शाखा तथा राम-भक्ति शाखा। इनमें से भी कृष्ण-भक्ति शाखा की प्रेम परम्पराएँ बहुत वैविध्यपूर्ण रही हैं। सूफी कवियों से इन वैष्णव कवियों का अन्तर स्पष्ट करते हुए चतुर्वेदीजी कहते हैं—“सूफी कवि उस परमात्मा के प्रति अपना सम्बन्ध अधिकतर इस प्रकार प्रकट करते थे जैसे वह इनकी प्रेयसी हो। परन्तु इन वैष्णव कवियों ने उसे अधिकतर अपने स्वामी के रूप में अपनाया और उसे कभी-कभी अपना पिता अथवा पति तक ठहराया।” वैष्णव कवियों की इस प्रकार की भावना में सदैव द्वैत का भाव बना रहता है। अपने आराध्य से एकाकार होने की बात कभी इन लोगों ने नहीं सोची। कृष्णभक्ति शाखा के सबसे प्रसिद्ध कवि सूरदास हुए जिन्होंने प्रेम की किसी भी स्थिति को अछूता नहीं छोड़ा। हिन्दी साहित्य में शृङ्गार और प्रेम के वे

सचमुच बड़े कवि हैं। उनके अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों में नन्ददास की पर्याप्त ख्याति है। 'नन्ददास की रूप मंजरी' शीर्षक निबन्ध में परशुराम जी ने उक्त कवि की 'रूपमंजरी' नामक प्रेमगाथा की की विस्तारपूर्वक चर्चा की है, और उसे प्रेमाख्यानक परम्परा के अन्तर्गत ही माना है। राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश ने भी प्रेम की मार्मिक स्थितियों का अंकन किया है। परशुरामजी के शब्दों में, 'गोस्वामी हितहरिवंशजी ने जितनी निपुणता के साथ सौन्दर्य का वर्णन किया है उतनी ही सफलता के साथ ही राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम सम्बन्धी गूढ़ रहस्यों को भी व्यक्त करने की चेष्टा की है।" कृष्णभक्ति शाखा के अन्तर्गत प्रेम की अद्वितीय कवियित्री मीराबाई का स्थान भावों की तन्मयता के दृष्टिकोण से बहुत ऊँचा है। उनकी काव्य रचना में माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने अपने आपको कृष्ण की पत्नी माना है। आलोचक के शब्दों में—“मीराबाई पहले विशुद्ध प्रेम में मग्न रहने वाली भक्ति मार्गावलम्बिनी एक व्यक्ति हैं तब कहीं काव्य अथवा संगीत की रचयित्री अथवा और कुछ है।” कृष्ण को आलम्बन बना कर जो प्रेम-काव्य रचा गया है। उसमें प्रेमी भक्त रसखान का भी कृतित्व कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने जहाँ एक ओर प्रेम का सामान्य स्वरूप समझने की चेष्टा की है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने उस प्रेम की अभिव्यक्ति को राधा एवं अन्य गोपियों के प्रसंग में अत्यन्त मार्मिकतापूर्वक दिखाया भी है। चतुर्वेदीजी का स्पष्ट मत है कि, “रसखान की उपर्युक्त प्रकाशित रचनाओं को देखने से पता चलता है कि ये वास्तव में एक प्रेमी जीव थे जिन्हें विरक्त ने लौकिक प्रेमसरिता से बाहर निकाल कर श्रीकृष्णचन्द्र की अलौकिक भक्तिसागर में मग्न कर दिया था।”

सगुणधारा की रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत गोस्वामी तुलसीदास का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु उन्होंने अपने इष्टदेव के सौन्दर्य की अपेक्षा उनके शील तथा शौर्य की उद्भावनता अपेक्षाकृत

अधिक की है। रामभक्ति शाखा के अन्य सम्पूर्ण कवियों के सम्बन्ध में श्री चतुर्वेदी कहते हैं—“इन रामभक्तों की भक्ति अधिकतर केवल दास्यभाव के आधार पर प्रदर्शित की गई दीख पड़ती है जिस कारण इनकी रचनाओं में प्रेम विषयक प्रसंगों की उतनी प्रचुरता नहीं पाई जाती, जितनी कृष्ण-काव्य में है।” जैसा हमने ऊपर भी संकेत किया, गोस्वामी तुलसीदास भी इसके अपवाद नहीं हैं। परन्तु प्रेम का जितना शुद्ध और निर्मल स्वरूप उन्होंने प्रदर्शित किया उतना किसी अन्य कवि के लिए सम्भव न हो सका।

मध्यकालीन भक्ति-काव्य के अनन्तर रीतिकाव्य तो मानों प्रेम के विभिन्न सच्चे और बुरे स्वरूपों को लेकर ही चला। भक्तिकाल में अलौकिक प्रेम का वर्णन अधिक हुआ और रीतिकाल में लौकिक प्रेम के वर्णन ही प्रधान रहे। प्रेम सम्बन्धी यह दृष्टिकोण तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप अस्तित्व में आया। मुगल दरबारों के हास-विलास ने प्रेम के वासनात्मक रूप को ही अधिक उभारा। रीतिकालीन कवियों के सम्बन्ध में एक मनोरंजक तथ्य यह है कि इन कवियों की रचनाओं में विभिन्न स्थानों पर प्रेम के शारीरिक तथा मानसिक—दोनों ही रूप मिल जाते हैं। इसका प्रमुख कारण कदाचित् यह है कि इन कवियों के दो व्यक्तित्व रहे। एक व्यक्तित्व राज्याश्रय पाता रहा और उसी वातावरण के अनुकूल विलासपूर्ण कविताओं के सृजन में लगा रहा। दूसरा व्यक्तित्व, जो वस्तुतः कवि का अपना था, स्वतन्त्र रूप से प्रेम के अधिक सूक्ष्म एवं स्पृहणीय स्वरूप का वर्णन करता रहा। विहारी, मतिराम, देव तथा पद्माकर आदि सभी रीतिकालीन कवि प्रायः इसी प्रकार से प्रेम-काव्य की रचना करते रहे, जो उनके व्यक्तित्व के दो भागों को अपने-अपने ढंग से सचेष्ट करता था। यह भी एक विचित्र तथ्य है कि उत्तर रीतिकाल में प्रेम के मानसिक पक्ष का ही अंकन अधिक हुआ, और उसमें अधिकांश अलौकिक के प्रति संकेत भी मिलने लगे। इतने पर भी, रीतिकालीन प्रेम-काव्य की प्रवृत्ति मुख्यतः ऐहिक ही रही,

जिसमें प्रेम के वासना-प्रधान पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय मिला।

रीतिकाल के उपरान्त आधुनिक काल में आकर प्रेम की व्याख्या ही बदल गई। अत्यधिक बौद्धिकता के प्रचार के फलस्वरूप प्रेम का भी वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण होने लगा। चतुर्वेदीजी के शब्दों में—“प्रेम को भी इन विद्वानों ने उस मूल प्रवृत्ति का ही एक विकसित रूप ठहराया जो सन्तान-वृद्धि की प्रेरणा के लिए काम-वासना बन कर काम करती है और जो इसी कारण सारी सृष्टि का भी कारण कहला सकती है। आधुनिक काल में भारतेन्दु युग में ही बहुत सी विदेशी प्रवृत्तियों ने हिन्दी कविता को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। वैयक्तिक प्रेम-चर्चा के साथ-साथ इस युग में देश-प्रेम, जाति-प्रेम एवं धर्म-प्रेम को भी लेकर काव्य-रचना हुई। परन्तु स्वयं भारतेन्दु में ही बहुत-सी पिछली परम्पराएँ अक्षुण्ण बनी रहीं। ‘प्रेम सरोवर’, ‘प्रेम माधुरी’ जैसी रचनाओं में उन्होंने प्रेम की रीतिकालीन पद्धति का ही अधिक अंकन किया है। इस युग के अन्य कवियों में ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप राष्ट्रीय प्रेम की भावना प्रायः प्रधान रही। प्रेम के अलौकिक स्वरूप को महत्व देने वाले कविगण इस युग में बहुत कम हुए।”

आधुनिक काल के द्विवेदी युग में राष्ट्रीय भावना का और भी अधिक विकास हुआ। श्री चतुर्वेदीजी ने इस युग में वर्णित स्वदेश-प्रेम को राष्ट्रीय कविता की परम्परा में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार “जहाँ तक स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भाव का सम्बन्ध है द्विवेदी युग का हिन्दी-काव्य इस पिछले काल के कोरे विप्लव गान से कहीं अधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है। द्विवेदी-युग में प्रायः उन सभी भावों का व्यक्तिकरण हुआ है जो देश-प्रेम या देश-भक्ति के वास्तविक अंग समझे जाते हैं। इसी प्रसंग में ‘स्वदेश-प्रेम’ एवं ‘राष्ट्रीय-भाव’ के बीच का सूक्ष्म अन्तर भी आलोचक ने दिखाया है। ‘स्वदेश-प्रेम’ एवं ‘राष्ट्रीय भाव’ तत्त्वतः एक ही प्रकार की मनोवृत्ति

के दो परिचायक हैं, किन्तु दोनों की मूल प्रेरणाओं में कुछ अन्तर भी लक्षित होता है। स्वदेश-प्रेम जहाँ किसी देश-विदेश की भौगोलिक अन्विति से आरम्भ होता है उसे बहुधा व्यक्तित्व तक प्रदान कर देता है वहाँ राष्ट्रीय भाव वहाँ के जन समाज की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक एकता का भी आधार चाहता है—स्वदेश-प्रेम में जहाँ व्यक्तिगत भावुकता की मात्रा अधिक रहती है और वह प्रायः समय-समय पर ही उमड़ा करती है वहाँ राष्ट्रीय भाव सदा दूसरे राष्ट्र को प्रभावित किये रहता है और उसे अधिकतर क्रियाशील भी बना देता है।

‘वर्तमानकालीन विविध काव्य’ शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत आलोचक ने आज के प्रेम-काव्य की मुख्य प्रवृत्ति विश्वप्रेम माना है। “आधुनिक राष्ट्रीयता का भाव वस्तुतः योरप की देन है जो वहाँ के भिन्न-भिन्न देशों में पारस्परिक संघर्ष का परिणाम होने के कारण सीमित और सकीर्ण है। “इस राष्ट्रीय भावना से ऊपर उठकर विश्वप्रेम तथा मानवता के प्रेम की उच्च भाव-भूमि आती है, जहाँ वैयक्तिक स्वार्थों का विलयन हो जाता है। इस युग के अधिकांश प्रेम-गीतों को श्री चतुर्वेदीजी ने किसी काल्पनिक प्रेमास्पद के प्रति निवेदित माना है। इसीलिए इनमें हमें प्रायः प्रेम की वह गहराई नहीं मिल पाती, जो मध्यकालीन कविता में दृष्टिगत होती है।

छायावादी दृष्टिकोण में देवत्व की अपेक्षा मानवत्व का अधिक मूल्य है। इनके प्रेम-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें स्थूल तत्त्वों के स्थान पर सूक्ष्म तत्त्वों को अधिक प्रश्रय दिया गया है। इसीलिए उनके प्रेम भाव में ऐंद्रिकता कम है। उसके ऊपर एक रहस्यवादी आवरण अवश्य दिखाई देता है। मिलन के चित्रों की अपेक्षा विरह के चित्र अधिक अशरीरी एवं सूक्ष्म हैं। बौद्धिकता के अत्यधिक आग्रह ने इस युग के प्रेम को ‘प्लेटोनिक लव’ अधिक

बना दिया है, जो अपनी प्रकृति में न लौकिक है और न अलौकिक वरन् मात्र एक रागात्मक सम्बन्ध के रूप में हमारे सम्मुख आता है।

वर्तमान कविता की अत्याधुनिक प्रवृत्तियों प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद में परिलक्षित होती हैं। प्रगतिवादी काव्य में शोषितों के प्रति सहानुभूति अत्यन्त ज्ञात रूप से व्यक्त की गई है। प्रचलित परम्पराओं के प्रति विद्रोह प्रकट करने के कारण उनकी रचनाओं में असंयमित तथा उच्छृंखल प्रेम-प्रदर्शन भी बहुधा दिखाई देता है। यह प्रेम-प्रदर्शन कहीं-कहीं कामुकता की सीमा तक भी पहुँच गया है। परन्तु फिर भी इन कवियों की सभी रचनाओं पर अश्लीलता की ही छाप नहीं लगी हुई है और न वे सदा फ्रायड के अवचेतनवाद से प्रभावित होकर उक्त प्रकार के निरावृत चित्रों का ही निर्माण करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

इस प्रकार आचार्य चतुर्वेदीजी ने अपने विस्तृत अध्ययन के सहारे हिन्दी-काव्य साहित्य के विभिन्न कालों में प्रेम के विभिन्न स्वरूपों का स्फुरण दिखाया है। वैसे तो उनके अनुसार समस्त हिन्दी कविता में प्रेम की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में होती रही है, किन्तु “फिर भी प्रेम के विषय का अधिक विस्तृत वर्णन और प्रतिपादन हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में हुआ। “आधुनिक प्रेम-काव्य में उन्होंने मानव-प्रेम की अभिव्यक्ति को ही वांछनीय माना है। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी विश्वास है कि यदि महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित ‘सर्वोदय’ आज के कवियों द्वारा अपनाया जाय तो “इनकी रचनाओं द्वारा हमें प्रेम के उस चिरंतन रूप के भी दर्शन हो सकेंगे जिसे बहुत से मनीषियों ने परमात्मा का प्रतीक तक माना है और जिसके आविर्भाव से ही विश्व का कल्याण संभव हो सकता है।”

— प्राध्यापक, हि० वि०,
प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सूफी साहित्य का भारतीय परिवेश

• डा० सरला शुक्ला

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल पन्द्रहवीं शताब्दी से आरम्भ होकर लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक वर्तमान रहता है। इस दीर्घकाल में हिन्दी साहित्य ने भाव और भाषा, आत्मा तथा परिधान दोनों ही दृष्टि से आशातीत उन्नति की। इस मध्यकाल के आरम्भ होने से पूर्व हिन्दी में भाषा का रूप स्थिर हो चला था और इसके साहित्य में कुछ परम्परागत कुछ उससे सहज उद्भूत प्रवृत्तियाँ स्थान पा चुकी थीं। जिनके कारण साहित्य का स्वतन्त्र अस्तित्व निश्चित हो गया था। लगभग पाँच सौ वर्षों के इस दीर्घकाल को साहित्य-रचना तथा रचयिताओं की प्रमुख प्रवृत्तियों के कारण पूर्वार्द्ध को आदिकाल तथा उत्तरार्द्ध को रीतिकाल का नाम दिया जाता है।

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल नवीन उद्भावनाओं का काल है। जन जीवन में साहित्यिक तथा सामाजिक व्यवस्था इत्यादि इतर क्षेत्रों में सर्वत्र जागरण की स्पष्ट रेखा लक्षित होती है। परम्परागत रूढ़ियों धार्मिक बन्धनों, शास्त्र सम्मत कष्टसाध्य आचार-विचारों का मूल्याङ्कन आरम्भ हो गया था। कुछ अधिक स्पष्ट और कटुवादी सन्तों ने इन सभी प्रकार की रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन किया और बतलाया कि हृदय की स्वच्छता और परम का प्रेम ही जीवन का अभीष्ट है। सारा संसार सबद, सुरति तथा निरति में ही आवद्ध है। इन निर्गुनिए सन्तों ने पूर्वार्द्ध अपभ्रंश की परम्परा का विकास किया। पूर्वी प्रदेशों के कटुवादी सन्त आदिकाल से ही रूढ़ियों और परम्परागत बन्धनों के प्रति विद्रोह करते आये हैं, वही पश्चिमी प्रदेश के विद्वान रूढ़िप्रिय, कर्मनिष्ठ तथा

साथ-साथ नवीन प्रतिक्रियात्मक भावनाओं के समन्वित स्वरूप को ग्रहण करते रहे हैं।

तुलसीदासजी ने जहाँ अपनी भक्तिपद्धति में ज्ञान, कर्म और भक्ति का सफल समन्वय किया वहीं हृदय की सहज प्रेरणा पर आश्रित भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। सूर ने श्री भागवत पुराण से प्रेरित होकर रागानुगा भक्ति को ही प्राधान्य दिया है। मध्ययुग का यह विराट जन आन्दोलन जो प्राचीन धर्म का आश्रय लेकर अग्रसर हुआ था, भक्तिवाद के रूप में बद्धमूल हो चुका था। किन्तु फिर भी इस काल के साहित्य में शास्त्रगत और सूक्ष्म विचारों और पाण्डित्य प्रवण चिन्ताओं का स्थान महत्वपूर्ण नहीं था। इनमें व्यक्ति और उसके परिष्कृत हृदय तथा उन्नत मनोवृत्तियों का ही महत्व है। यह प्रतिक्रिया मानव की प्रतिष्ठा की है जो उसके आन्तरिक सद्भाव और सात्विक वृत्ति में विश्वास की नींव पर आधारित है।

मध्यकाल में भारतीय साहित्य में एक और नवीन प्रवृत्ति का परिचय मिलता है, जिसका सम्बन्ध शामी विचारधारा से है। हजरत मुहम्मद ने जिस संगठित इस्लाम धर्म को प्रवर्तित किया था उसी की अति भौतिकता के विरोध में सूफी सम्प्रदाय की नींव पड़ी, यद्यपि इस सम्प्रदाय के साधकों का आरम्भ ग्यारहवीं शताब्दी से ही हो गया था, किन्तु उसका प्रचार कार्य तेरहवीं शताब्दी में मुईउद्दीन चिश्ती से ही आरम्भ हुआ। इन सूफियों का जो हाथ हिन्दी साहित्य के आविर्भाव में है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भक्ति युग के तीन प्रमुख साहित्यकार, कबीर, तुलसी और सूर अपने काव्य में अन्तर्हित

प्रेरणा शक्ति और जीवन दर्शन पूर्ण होने के कारण जनता के अतिप्रिय हो गये थे किन्तु साहित्य की एक ऐसी परम्परा जिसका सम्बन्ध पश्चिमी अर्ध-अंश के चरित काव्यों राजस्तुतियों, शृङ्गारी काव्यों तथा लोक प्रचलित कथानकों से हैं, उपेक्षित हो रहा था। यह परम्परा अब तक लोक गीतों तथा गांव की चौपाल बैठकों के रूप में ही जीवित थी। सूफी साधकों ने इस विस्तृत परम्परा का पुनरुत्थान ही नहीं किया प्रत्युत उसमें शामी मसनवी पद्धति का योगदान करके एक नवीन रूप प्रस्तुत किया। ये सूफी साधक वास्तव में जनप्रिय अधिक थे, इन्होंने अपने इश्क हकीकी की बात सम्राटों की अपेक्षा जन-साधारण तक पहुँचाने की अधिक चेष्टा की। इसी कारण इन्होंने पौराणिक आख्यानों की अपेक्षा लोक प्रचलित कथानकों का तथा संस्कृत समन्वित साहित्यिक अवधी की अपेक्षा ठेठ बोल-चाल की भाषा का अधिक आदर किया। तुलसी और जायसी की भाषा का अन्तर उनका काव्य विषय और पाठक वर्ग की स्थिति स्पष्ट कर देती है।

अस्तु यह निस्संदिग्ध है कि इन सूफी साधकों का स्थान हिन्दी साहित्य में कम महत्वपूर्ण नहीं। इन्होंने हिन्दी की प्रेम गाथा परम्परा को जीवित रखा तथा साथ ही हिन्दुओं के शुद्ध प्रेमख्यानों की भाँति प्रेम के परिष्कृत और सजीव चित्रों की अवतारणा करते हुए भी उसमें अलौकिकत्व का समावेश कर दिया।

सूफियों की कृतियों का इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी उनकी काव्य कृतियों की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया। सम्भवतः इसका प्रधान कारण उनकी कृतियों का अनुपलब्ध होना था। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने जायसी कृत पद्यावत की काव्य मीमांसा करके उसके काव्य सौन्दर्य, सूफी दर्शन अलौकिक प्रेम जैसे विषयों को अत्यन्त सुलभा दिया था। उनका विचार था कि शेखनवी की कृति ज्ञान-दीप (सं० १६७६) के पश्चात् इस परम्परा का अन्त सा हो गया। इसी प्रकार पंडित चन्द्रबली पाण्डेयजी

ने भी तसव्वुफ अथवा सूफीमत की रचना करके सूफीमत तथा सम्प्रदाय के कतिपय प्रमुख तत्वों का विश्लेषण किया, किन्तु सूफी साहित्य और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में उनकी कोई पुस्तक नहीं आई और न सूफी साधकों के प्रति साधारण वर्ग में जिज्ञासा उत्पन्न कर सके। इस बड़े अभाव की पूर्ति आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सूफी काव्य-संग्रह, भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा और हिन्दी सूफी प्रेमाख्यान से हुई। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने सूफी गाथा परम्परा का अन्त शेखनवी की ज्ञानदीप (सं० १६७६) से मान लिया था उसी प्रकार अनुराम वांमुरी का संपादन करते हुए पण्डित चन्द्रबली पाण्डेयजी ने इसका अन्त तूरमुहम्मद की कृतियों से और अधिक खींचतान कर कवि निसार की युसुफ-जुलेखा पर कर दिया। किन्तु चतुर्वेदीजी ने अब तक की सभी आधुनिक खोजों तथा अपने दीर्घकालीन अथक परिश्रम के द्वारा सूफी साहित्य का, यद्यपि संक्षिप्त किन्तु रोचक और स्वतः पूर्ण विवरण दिया है। सूफी साधक तथा सम्प्रदाय की विशेषताओं, उसके रहस्यवाद, दर्शन आदि का वर्णन स्पष्ट तथा अत्यन्त सरल है। सूफी प्रेमगाथाओं की भारतीय साहित्यिक परम्परा के अन्तर्गत रखकर उनका मूल्याङ्कन करने के साथ ही इन कृतियों के काव्यत्व, भाषा, शैली, छन्द, चरित्र-चित्रण, घटना वर्णन तथा भावपक्ष की संक्षिप्त आलोचना उपलब्ध है। इस प्रकार का संग्रह तथा आलोचना करने में चतुर्वेदीजी का अपना दृष्टिकोण है। अत्यन्त संक्षेप में सभी ज्ञातव्य बातें इन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। सूफी साधन का आरम्भ उसका क्रमशः विस्तार, उसके प्रमुख साधक तथा उनकी साधना में विशेष योग आदि आवश्यक अंगों के निरूपण के साथ ही, सूफीमत का स्वरूप, उसका दर्शन, ईश्वर मानव तथा सृष्टितत्व आदि की विवेचना चतुर्वेदीजी ने अछूती नहीं छोड़ी।

ज्ञान कवि को कतिपय विद्वान् सूफी परम्परा में न मानकर शुद्ध प्रेमाख्यान के अन्तर्गत होने के पक्ष में है किन्तु कवि ज्ञान के काव्य में मुख्यतः रीतिकालीन

प्रभाव तथा विशेषताओं को परिलक्षित करते हुए भी चतुर्वेदीजी ने उसे सूफीमत के कवियों के अन्तर्गत स्थान देकर अपने नवीन दृष्टिकोण का परिचय दिया है। सूफी काव्य-संग्रह में केवल सूफियों के प्रबन्ध की ही चर्चा न होकर उनके 'फुटकल' साहित्य की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है। जहाँ सूफी प्रेम-गाथा की परम्परा में उन्होंने ख्वाजा अहमद, शेख रहीम और कवि नसीर तथा उनकी रचनाओं का नवीन परिचय दिया है, वहीं शेख फरीद, यारी साहब, प्रेमी कवि बुल्लेशाह, दीन दरवेश, नजीर हाजीवाली, अबुलसमद और वजहन इत्यादि कवियों के फुटकल पदों को इस संग्रह में स्थान देकर इन कवियों को महत्व प्रदान किया। यद्यपि यह सत्य है कि उस समय तक अनुपलब्ध कई कृतियों के अधिकांश खण्डित होने से कई स्थलों पर निश्चित निष्कर्षों का अभाव है साथ ही संगृहीत अंशों का कलेवर अत्यन्त क्षीण है, फिर भी यह संग्रह कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी के हिन्दी प्रेमगाथा संग्रह के पश्चात् सूफी प्रेम काव्यों का यह प्रथम तथा सूफी साहित्य में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी काव्य संग्रह है।

उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पुस्तक के सम्पूर्ण उत्तरी भारत के सन्तों के विवरण में सूफियों को भी स्थान दिया गया है। सन्तकाव्य की चर्चा में चतुर्वेदी जी का मन विशेष रमता है, उनकी अपनी रुचि इसके अनुकूल है। इस ग्रन्थ में सन्त शब्द की व्युत्पत्ति तथा व्याख्या के साथ ही भारतीय साधना का वैदिक साधना से लेकर बौद्धधर्म के भेदों उपभेदों तक का संक्षिप्त एवं स्वतः पूर्ण विवरण उपस्थित है। उत्तरी भारत के प्रमुख तथा प्रसिद्ध सन्त कबीर की पूर्ववर्ती सन्त परम्परा शंकराचार्य, सहजयान साधना, महावीर तथा जैन साधना और नाथपन्थियों के सम्प्रदाय इनके जीवनवृत्त एवं चिन्तन पद्धति का विवेचन भी इसमें उपलब्ध हैं। इन विभिन्न सम्प्रदायों के सन्तों को चतुर्वेदीजी ने एक ही कड़ी में सूत्रबद्ध पाया है। परिस्थिति और जन जीवन की आवश्यकताओं

एवं विभिन्न समस्याओं के कारण उन सन्तों की साधना पद्धति में सूक्ष्म भेद हो गए हैं; किन्तु मूलतः सभी सन्तों की चिन्तना और अनाचार तथा अनीति के प्रति विद्रोह की भावना केवल एक ईश्वर पर विश्वास उनकी रहनी लक्षित होने वाला सहज भाव सदैव एक ही रहा है। सन्तों की इस प्रकार की व्याख्या में चतुर्वेदीजी का अपना विशेष दृष्टिकोण है।

भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित पृथक् ग्रन्थों की उपलब्धि अभी तक सम्भव नहीं थी। किन्तु इस प्रकार की सम्पूर्ण सन्त परम्परा का एक साथ ही अविच्छिन्न रूप में परिचय केवल इसी उत्तरी भारत की सन्त परम्परा में उपलब्ध है। सूफी सम्प्रदाय को जिनका सम्बन्ध विदेश से था, भी इसी सन्त परम्परा में ग्रहण करके चतुर्वेदीजी ने सूफी विचार धारा पर भारतीय चिन्तन पद्धति, योग क्रिया तथा प्रेम साधना के प्रभाव को भी स्पष्ट किया है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि मंसूर भारत में रंजुकला सीखने आया था। इसकी कई करामातों का विवरण भी प्राप्त होता है। योग मुद्राओं की चर्चा भी सूफी साधकों के जीवन वृत्तों में प्राप्त हो जाती है। भारत में पूर्णतः प्रवेश पा जाने के बाद तो सूफी साधना पर भारतीय योगिक क्रियाओं का बहुत प्रभाव पड़ा तथा इनकी प्रेम और विरह की सर्वव्यापक भावना का प्रभाव भारतीय सन्तों पर हुआ। दादू सन्तमत में दीक्षित होने के पूर्व सूफी सम्प्रदाय से ही सम्बन्धित थे। उनके काव्य में जिस प्रेम और विरह की तीव्रता, गम्भीरता तथा व्यापकता का परिचय मिलता है वह सूफी प्रभाव के ही कारण। इसके अतिरिक्त चतुर्वेदी जी की अन्य दो कृतियों मध्यकालीन प्रेमसाधना तथा हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम प्रवाह में भी चतुर्वेदीजी ने सूफी प्रेम पद्धति का समावेश किया है। अब तक भिन्न काव्य पुस्तकों, प्रबन्ध या मुक्तकों के काव्यत्व पर विचार करते समय तत्सम्बन्धित श्रृंगार रस की चर्चा तो अवश्य हुई थी किन्तु किसी युग विशेष या हिन्दी काव्य साहित्य के धारावाहिक रूप में प्रवाहित

प्रेम भावना का एक ही साथ सूत्रबद्ध अध्ययन नहीं हुआ था। चतुर्वेदीजी ने इस ओर दृष्टिपात करके विद्वानों को एक नई दिशा का संकेत दिया है।

सूफी साधक तथा सम्प्रदाय की आत्मा इस्क है, चतुर्वेदीजी ने दोनों पुस्तकों में सूफी प्रेमतत्व की चर्चा की है। प्रेम भावना का इतिहास देने के पूर्व के प्रेम भाव का भी स्पष्टीकरण करने में नहीं चूके। इस पुस्तक में सराहनीय बात यह है कि प्रेम का निरूपण एक आदर्शवादी रुढ़िवद्ध विचार की भाँति न किया जाकर उस पर परिस्थितिजन्य परिवर्तनों का भी संकेत है। चरित काव्य की वीर गाथाओं में जहाँ राजाओं के प्रणय सम्बन्धी साहित्यिक कार्यों की अतिरिञ्जित कथाएँ हैं, जहाँ प्रेम के स्वाभाविक सहज स्वरूप का दर्शन न होकर केवल विलास और ऐश्वर्य से आवृत सामन्ती प्रेम के दर्शन होते हैं, वही ढोला मारूरा दूहा जैसी पुस्तकों में प्रेम की सरलता भी मिलती है। तत्कालीन काव्य में प्रेम की गम्भीरता, तीव्रता, उदात्तता ने मानवत्व की सीमा पार कर देवत्व की चरण रज का स्पर्श किया। निर्गुनिए सन्त कबीर, नानक, दादू आदि कृष्ण एवं रामभक्त

सूर एवं तुलसी सभी में प्रेम की उत्कृष्टता तथा सर्व-व्यापकता के दर्शन होते हैं प्रेम ही उस अलौकिक आनन्द का दाता तथा परमात्मा के साक्षात्कार का का एक मात्र साधन है—

“हरि व्यापक सर्वत्र समान।

प्रेम से प्रकट हो ही मैं जाना ॥”

में तुलसी से प्रेम के महत्व को स्पष्ट और स्थिर कर दिया है किन्तु सूफियों का तो जीवन ही इस्क या प्रेम है और इस्क के अतिरिक्त वहाँ कुछ शेष नहीं। सबका अभाव न था किन्तु उनमें अलौकिक प्रेम तत्व का, इस्क हकीकी का समावेश इन्हीं सूफी कवियों के द्वारा हुआ। रीतिकाल के परकीया प्रेम का विवेचन करते समय चतुर्वेदीजी ने इस भारतीय साहित्य को इस्लाम संस्कृति की देन माना है। इन दृष्टिकोण को सामने रखकर चतुर्वेदीजी ने अनुसन्धान के एक नए क्षेत्र को जन्म दिया है। चतुर्वेदीजी की लगभग सभी पुस्तकों में सूफी काव्य के विभिन्न स्वरूपों की झाकी मिलती है।

— हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सुन्दर, आकर्षक एवं कलापूर्ण

मुद्रण के लिए

सदैव स्मरण रखिए—

साहित्य प्रेस,

साहित्य कुञ्ज, आगरा-२ दूरभाष : ७२२६८

बौद्ध तथा सिद्ध साहित्य : एक विश्लेषण

● डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

बौद्ध सिद्ध साहित्य और नाथसिद्ध साहित्य का महत्व मुख्य रूप से संत-साहित्य के अध्ययन के लिए स्वीकार किया गया है। हिन्दी में संत-साहित्य का अध्ययन करते समय विद्वानों ने स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि संत-साहित्य (भक्तिकालीन निर्गुणधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा का साहित्य) बौद्ध-सिद्धों की परम्परा में स्वीकार किया जाना चाहिए। बाद में अनुसन्धान के बाद यह भी घोषणा की गई कि बौद्धसिद्धों और निर्गुणियाँ संतों के बीच की कड़ी के रूप में नाथों के साहित्य ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। अब शोध की प्रगति से बात बहुत कुछ बदल गयी है और अब कुछ लोग यह भी स्थापित करने लगे हैं कि बौद्धसिद्धों और नाथसिद्धों के दर्शन साधना और शब्दावली में जो बहुत कुछ समानता दिखाई पड़ती है, वह इन दोनों पर भारतीय तन्त्र के सामान्य प्रभाव के कारण है। इसी प्रकार संतों के दर्शन और साधना पर भी उस प्रभाव को देखा जाने लगा है। बहुत से विद्वानों ने इस स्थापना को असिद्ध कर दिया है कि प्रमुख नाथ मूलतः बौद्ध थे और नाथ सम्प्रदाय परवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय (वज्रयान सहजयान) का एक उपयान है। इसी प्रकार पहले बौद्धसिद्ध साहित्य के ग्रन्थेताओं ने मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान में केवल नामभेद माना था। अब वज्रयान और सहजयान पर आचार (पश्वाचार, वीराचार, दिव्याचार) की दृष्टि से भी विचार किया जाने लगा है और वज्रयान को कर्मकाण्ड प्रधान वीराचार माना जाने लगा है और तदनुसार सहजयान को भावप्रधान दिव्याचार। अभी ये स्थापनाएं

पूर्णानुमोदित और पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं हैं।

परशुराम चतुर्वेदी ने संत साहित्य पर तो विपुल साहित्यिक शोधपरक सामग्री प्रस्तुत की ही है, उसके साथ उन्होंने बौद्ध सिद्ध और नाथ साहित्य के विविध पक्षों पर भी शोधकार्य किया है। चतुर्वेदीजी मानते हैं कि मन्त्रयान का विकास वज्रयान के रूप में हुआ। इस यान का प्रचार करने वाले सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है।^१ इन सिद्धों की साधना में प्रज्ञोपाय, समरस और महामुख तत्त्वों की प्रधानता थी और उनके ऊपर हठयोगियों के सिद्धान्तों का कुछ प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। चतुर्वेदीजी मानते हैं कि महामुद्रा साधना ने बौद्ध साधकों के दुर्व्यसनों में प्रवृत्त कर दिया है।^२ वास्तविक रहस्य को जानने वाले (८४ सिद्धों में से) कुछ सिद्धों ने इस स्थिति को सम्हाला। उन लोगों ने उक्त साधना के सच्चे स्वरूप को सहज कहा। इस प्रकार चतुर्वेदीजी ने सहजयान का एक पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया। इन सिद्धों ने वज्रयान और मन्त्रयान सम्बन्धी मन्त्र, मण्डल आदि बाह्य साधनाओं की उपेक्षा कर योग और मानसिक शक्तियों के विकास पर अधिक ध्यान दिया। इन लोगों ने पूर्वयानों के मूल पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार करते हुए उनकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ दीं। वज्रयान और सहजयान दोनों का लक्ष्य एक ही है। वज्रयानियों के लक्ष्य महामुख या पूर्ण आनन्द या समरस को ही सहजयानी शब्दान्तर

^१ उत्तरी भारत की संतपरम्परा—चतुर्वेदी, सं० २०२१, पृ० ३२।

^२ वही, पृष्ठ ३३-३४।

से सहज कहते थे जो सहजयानियों का भी लक्ष्य था। इसी के कारण इस नवीन यान का नाम सहजयान पड़ा।^१ इस नवीन यान के महत्वपूर्ण सिद्ध थे सरहपाद। इन्होंने इस मार्ग को रागमार्ग कहा है। इसे हम दूसरे शब्दों में भावमार्ग कह सकते हैं। 'निजगृहिणी के साथ क्रीडारत रह कर भी अचंचल चित्त की साधना' को सरहपाद ने बहुत आवश्यक ठहराया है। मोक्ष तो चित्त की अचंचलता में है।^२ ये प्रकृति मार्गी प्रवृत्तियाँ हैं। 'सहजयान यह बतलाता है कि सभी साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य चित्त की शुद्धि है। इसके द्वारा हमें सहजावस्था की उपलब्धि होती है और सहज ही हमारे परमार्थ का सहज रूप है।'^३

इसी प्रकार चतुर्वेदीजी ने बहुत स्पष्ट रूप में सहजयान के साधन, योगिक प्रक्रिया, पिण्डरहस्य, मुजाद आदि का विवेचन किया है। इन तीन यानों के अतिरिक्त एक चौथा यान भी बौद्धों में प्रचलित हुआ, जिसका नाम था 'कालचक्रयान'। चतुर्वेदीजी इसका मूल सिद्धान्त 'पिण्डब्रह्माण्डवाद' (जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सभी पिण्ड में भी है) मानते हैं। यह यान वज्रयोग को महत्व देता है। 'इस उपयान ने योग साधना के सम्बन्ध में मुहूर्त, तिथि, नक्षत्र, आदिकाल सम्बन्धी बातों को भी अधिक महत्व दे रखा था जिसके कारण इस पर ज्योतिष का भी प्रभाव पड़ने लगा।'^४ इस प्रकार चतुर्वेदीजी ने यह स्पष्ट किया है कि सहजयान वज्रयान का संस्कृत रूप है। उनके अन्य कथनों से यह भी ध्वनि निकलती है कि इन बौद्ध यानों के अनधिकारियों के नियम विरुद्ध और धर्म विरुद्ध आचरण से लगभग १३-१४ वीं ई० तक बौद्ध मत के ये अन्तिम यान नाम शेष मात्र रह गये।

इन यानों के सिद्ध यह मानते थे कि मन्त्रसाधन महामुद्रासाधन और सहजाधन से सभी प्रकार की सिद्धियाँ सरलता से प्राप्त हो जाती हैं। सिद्ध शब्द सिद्धि सापेक्ष है। भारतीय साहित्य (अमरकोष, मेघ-दूत, वाल्मीकि रचित गंगाष्टक, पुराण, श्रीमद्भग-वगीता, तुलसी साहित्य, हिन्दू तन्त्र जैसे ललिता, सनातन, तीरारहस्य, कोलावती तन्त्र, श्यामारहस्य आदि) में सिद्धियों और सिद्धों का पुष्कल विवरण मिलता है। चीन में भी सिद्ध मार्ग प्रचलित था। शैवों में भी सिद्धों की परम्परा है। शुद्धमार्गी ज्ञान-सिद्धों का विवेचन भी इस प्रसंग में बहुत महत्वपूर्ण माना जा सकता है। बौद्धसिद्धों की प्रवृत्ति बहुधा सहजयान की ओर अधिक रहा करती थी। इनका मुख्य उद्देश्य सहजसाधना का प्रचार था।^१ ये चोरासी सिद्ध न तो किसी जाति विशेष के व्यक्ति थे, न केवल रसायनादि का प्रयोग करने वाले अथवा तांत्रिक विधियों में सदा निरत रहने वाले साधक ही थे। ये भिन्न-भिन्न साधनाओं द्वारा पूर्णता की एक स्थिति विशेष तक पहुँचे हुए महापुरुष समझे जाते थे।^२ इन सिद्धों के अलग-अलग सम्प्रदायों का निर्णय करने के लिए अभी तक प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। इनकी संख्या ८४ ही क्यों रखी गयी, इसका भी कोई संतोषजनक उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है।^३ कुछ विद्वान ८४ को भी १०८ की तरह ही एक रहस्य संख्या (मिस्टिक नम्बर) ही बतलाते हैं किन्तु भारतीय साधना और परम्परा को ध्यान में रखकर निश्चय ही कोई संतोषजनक समाधान अभी तक नहीं मिल सका है। चतुर्वेदीजी ने इस सिद्धों के दो वर्गों की ओर संकेत किया है जिसमें से एक उन लोगों का समूह है जो पीछे चलकर नाथपंथ में भी आचार्य माने गये और दूसरा उनका है जिनका सम्बन्ध मूल सहजयान से ही रह गया।^४ इसका चतुर्वेदीजी ने

^१ बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक भूलक, चतुर्वेदी, पृ० १११-११६।

^२ वही, पृष्ठ १२३।

^३ वही, पृष्ठ १२६।

^४ वही, पृष्ठ १४३।

^१ वही, पृष्ठ ३६-३७।

^२ वही, पृष्ठ ३७-३८।

^३ वही, पृष्ठ ३८-३९।

^४ वही, पृष्ठ ४५-४६।

और भी विचार किया गया है लेकिन उन्होंने नाम लेकर यहाँ वर्गीकरण नहीं किया है। डा० बागची, राहुल सांकृत्यायन आदि की जो स्थापनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि बौद्धसिद्ध लुईपा ही मत्स्येन्द्रनाथ हैं और बौद्ध सिद्ध जालन्धरपाद ही नाथों के आदिनाथ मान लिए गये हैं—उन पर पुनर्विचार करने के लिए यह वर्गीकरण हमारे लिए सहायक हो सकता था। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इन्हीं ८४ सिद्धों में से ही कुछ वज्रयानी रहे, कुछ सहजयानी बने और कुछ ने कालचक्रयानी अथवा नाथपंथी साधनाओं, आदर्शों का प्रवर्तन अनुसरण किया।

विद्वानों ने बहुत सी बातों में बौद्धसिद्धों और नाथसिद्धों में समानता देखी और यह घोषित किया कि नाथ लोग मूलतः बौद्ध हैं। कुछ लोग अभी भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बात दुहराते हैं कि 'गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिन लिये गये हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया। योगियों की इस हिन्दू शाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और बीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिवभक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी भी नाथपंथ के किसी-किसी ग्रंथ (जैसे, शक्तिसंगम तन्त्र) में मिलती है। गोरख के पतंजलि के उच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया। वज्रयानी सिद्धों का लीलाक्षेत्र भारत का पूर्वी अंचल था। गोरख ने अपने पंथ का प्रचार देश के पश्चिमी भागों में—राजपूताने और पंजाब में किया।^१ आज इनमें से बहुत-सी बातें असिद्ध हो चुकी हैं। नाथों का दर्शन कश्मीर शैव दर्शन की परम्परा में मान लिया गया है। उनका साधन योग-ज्ञान मान लिया गया है और लक्ष्य है 'नाथस्वरूपेणावस्थानम्।' वे अब पूरी तरह शैव मान लिये गये हैं।

चतुर्वेदीजी का मत है कि सिद्धों तथा नाथों की

^१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३ वि०, पृ० १३।

परम्पराओं का विवेचन ऐतिहासिक आधार पर अभी तक नहीं हो पाया है, इस कारण इस विषय में कोई अन्तिम निर्णय नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध में केवल इतना मान लेना कदाचित् सत्य से अधिक दूर नहीं कहा जा सकता कि नाथमार्गी सम्प्रदाय योग-मार्गी साधकों का एक समुदाय है जिस पर बौद्धधर्म तथा शैव सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होता है।^१ वे यह भी मानते हैं कि गोरक्षनाथ की साधना-प्रणाली में सहजयोग की बातों का समावेश है। उसे वे शुद्ध हठयोग भी मानते हैं। इसी साधना की कुछ मूल बातों का प्रचार आगे चलकर कबीर साहब ने किया था।^२ चतुर्वेदीजी गोरक्षनाथ के दार्शनिक सिद्धान्तों को वेदान्तपरक मानते हैं। गोरक्षनाथ की योगसम्बन्धी रचनाओं में अद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन लक्षित होता है। किन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि गोरक्षनाथ का मोक्षप्राप्ति साधन वेदान्त निर्दिष्ट साधन से बहुत भिन्न है।^३ गोरक्षनाथ के नाथयोगी सम्प्रदाय पर प्राचीन रसायन सम्प्रदाय का भी कुछ प्रभाव स्वीकार किया जाता है। परन्तु चतुर्वेदीजी मानते हैं कि गोरक्षनाथ का साधन आन्तरिक है।^४

निष्कर्ष रूप में उन्होंने कहा है कि इस सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी बौद्ध सिद्धों तथा जैन मुनियों की प्रचलित साधनाओं एवं योग की परम्परागत क्रियाओं का मेल बिठाकर एक नवीन पद्धति चलाने के यत्न किये।—स्वयं बौद्ध सिद्धों के कालचक्रयान नामक उप सम्प्रदाय ने भी इसकी बहुत सी बातें ग्रहण कर लीं जिससे उसके धार्मिक हिन्दू समाज में खप जाते देर न लगी।^५

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस नाथ सम्प्रदाय का साधनात्मक और साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रभाव बहुत

^१ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—चतुर्वेदी, पृष्ठ ५३-५४।

^२ वही, पृष्ठ ५४।

^३ वही, पृष्ठ ६१।

^३ वही, पृ० ५७-५८।

^४ वही, पृ० ६१-६२।

बौद्ध तथा सिद्ध साहित्य : एक विश्लेषण]

113027

२१

व्यापक था। इसमें विविध स्रोतों और परम्पराओं से आने वाले विविध सम्प्रदाय अन्तर्मुक्त होते गये और बाद में उनके बहुत कम विशिष्ट चिह्न शेष रह गये। इन विविध रूपों पर विचार करने के लिए विद्वानों ने नाथ सम्प्रदाय के बारह पन्थों का विश्लेषण किया है और निष्कर्ष निकाला है कि आजकल नाथ सम्प्रदाय में जो बारह पन्थ प्रचलित हैं उनमें से अनेक शैव पाशुपत बौद्ध आदिकों के अवशेष हैं। लेकिन उनमें इन पन्थों की सूचियों में परस्पर भिन्नता है। इनकी लगभग २० सूचियाँ अभी तक मिली हैं। इन सूचियों के आधार पन्थों की तुलनात्मक प्राचीनता भी स्थिर नहीं की जा सकती। नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थ गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में शास्त्रतन्त्र को उद्धृत कर १२ कापालिकों की सूची दी गई है—आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, काल-भैरवनाथ, बटुक, भूतनाथ, वीरनाथ और श्रीकण्ठ। इनके १२ शिष्य भी बताये गये हैं—नागार्जुन, जड़ भग्न, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चपट, अवध, वैराग्य, कन्थाधारी, जलन्धर और मलयार्जुन। ये शिष्य मार्गप्रवर्तक भी कहे गये हैं। इनमें से कुछ नाम अपरिचित हैं तथा कुछ पन्थ प्रवर्तक नहीं प्रतीत होते। इस सूची से यह भी ज्ञात नहीं होता कि किस सिद्ध ने किस पन्थ का प्रवर्तन किया। केवल यह अनुमान किया जा सकता है कि ये शिष्य किसी न किसी रूप में द्वादश कापालिकों का अनुसरण करने वाले रहे होंगे।^१

इन पन्थों के सम्बन्ध में ब्रिग्स ने भी कुछ सूचनाएँ दी हैं। अनुमान होता है कि प्रारम्भ में कुल ३० पन्थ रहे होंगे। संगठित, पुनसंगठित होते-होते इनकी संख्या १२ रह गई। इनमें से ६ शिव द्वारा प्रवर्तित थे तथा ६ गोरक्ष द्वारा। इनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि किस प्रकार गोरक्षनाथ ने प्राचीन शैव सम्प्रदायों का पुनसंज्ञकृत किया होगा। यह भी अनुमान संगत प्रतीत होता है कि शिव द्वारा

प्रवर्तित ६ सम्प्रदाय गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों में प्राचीनतर रहे होंगे। श्रीरामचन्द्र चिन्तामणि ढेरे को उद्धृत करते हुए चतुर्वेदीजी ने संकेत किया है कि एक मानभावीय ग्रन्थ के अन्तर्गत ३० पक्षों की सूची मिलती है। चतुर्वेदीजी का कहना है कि ढेरेजी द्वारा उद्धृत सभी नाम स्पष्ट नहीं हैं। किंवदन्ता, उनमें से कुछ असन्दिग्ध हैं। लेकिन इन नामों से उनके मत विशेष की ओर संकेत हो जाता है। ढेरेजी द्वारा उद्धृत 'अठारापन्थी जती' और 'बारापन्थी जोमी' नामक दो वर्गभेद पन्थ निर्णय में सहायक हो सकते हैं। ग्रन्थ में ब्रिग्स के उनके बताये गये कई मतों की गणना हो गई है। इन दोनों वर्गों में नामों का विनिमय भी हो गया है।^१

गोरक्षनाथ के इस समय प्रसिद्ध नाथ योगी सम्प्रदाय में कुल १२ पन्थों की ही स्थापना क्यों हुई, इसका कोई निश्चित और सन्तोषजनक कारण नहीं बताया जा सकता। चतुर्वेदीजी ने गोरक्षटिल्ला की परम्परा से प्राप्त तथा ब्रिग्स द्वारा उद्धृत १५+१२ पन्थों के विघटन-संगठन को संगत नहीं माना है। उनका अपना मत है कि परस्पर संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता के कारण लुप्त और प्रचलित होते हुए १२ पन्थ शेष रह पये। उन्हें यह १२ पन्थों की कल्पना गोरक्ष-परवर्ती मालूम होती है। इन संस्थाओं की स्थापना भी एक ही समय में न हुई होगी। इनमें से कुछ अधिक प्राचीन और पूर्ववर्ती योगियों द्वारा प्रवर्तित होंगे। कुछ को गोरक्ष के समकालीनों ने प्रवर्तित किया होगा और कुछ को प्रवर्तित करने का श्रेय परवर्ती योगियों को मिला होगा और सभी ने अपने-अपने पन्थों के नाम भी अपने-अपने ढंग से दिये होंगे। इन सबके प्रवर्तक गोरक्षनाथ प्रतीत नहीं होते। अभी तक उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि द्वादश पन्थों की कल्पना सम्भवतः 'नाथयोगी' सम्प्रदाय के प्रवर्तित होने के कुछ काल पीछे की ही ठहरती है और यह किन्हीं पूर्व प्रचलित संस्थाओं को एकसूत्र में बाँधने के उद्देश्य

^१ विश्वभारती पत्रिका—चतुर्वेदीजी, खंड ७, अंक जुलाई-सितम्बर १९६६, पृष्ठ १०३-१०४।

^१ वही, पृष्ठ १०४-६।

से की गयी होगी तथा उसे साकरता भी प्रदान कर दी गयी होगी। इन्हें किस आदर्श के अनुसार स्वीकार किया गया होगा तथा इनकी संख्या केवल १२ तक ही सीमित क्यों रखी गयी होगी, इसका पता नहीं। जहाँ तक समझ पड़ता है इस प्रकार की धारणा नाथपन्थियों में बहुत दिनों से बद्धमूल बनी रहती आयी है और इसकी प्रत्येक शाखा अथवा उपशाखा ने अपने को किसी न किसी द्वादशपन्थी संस्था से भी सम्बद्ध बतलाने की चेष्टा की है, इस कारण इनकी संख्या में कभी-कभी वृद्धि जान पड़ने अथवा नामादि में न्यूनाधिक परिवर्तन प्रतीत होते रहने को भी उनके द्वारा किसी समय वैसा महत्व नहीं दिया जा सकता है।^१ चतुर्वेदीजी को इन निष्कर्षों का महत्व स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। साम्प्रदायिक दृष्टि से मान्य परम्परा का एक हृद तक मूल्य स्वीकार किया जा सकता है किन्तु उसका वैज्ञानिक अर्थ-निरूपण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

नाथ साहित्य और सम्प्रदाय के विवेचन का एक और महत्वपूर्ण प्रश्न है, गोरखनाथ का कालनिर्णय। अभी तक जितने प्रयास इस सम्बन्ध में हुए हैं, उनमें से सर्वाधिक मान्य मत ९वीं शताब्दी का अन्त भाग और दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध भाग के पक्ष में है। गोरखनाथ का अभ्युदय इन्हीं दो सीमाओं के बीच हुआ होगा। इसके लिए दो व्यक्तियों के नाम लिये जाते हैं—प्रथम हैं आद्य शङ्कराचार्य, इन्हें गोरक्षनाथ का पूर्ववर्ती माना जाता है और दूसरे व्यक्ति हैं अभिनवगुप्तपादाचार्य। ये मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के परवर्ती हैं। इन अवधि सीमाओं के लिए और दूसरे प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये हैं। एक मत गोरक्षनाथ का ६वीं-७वीं शताब्दी तक अभ्युदय मानता है।

परशुराम चतुर्वेदी ने ६वीं-७वीं ईस्वी शताब्दी से लेकर १५वीं ई० तक के विभिन्न मत-मतान्तरों

का विस्तृत परिचय दिया है और उनकी संदिग्धता और अपरिपक्वता के कारण किसी भी मत के प्रति अपना आग्रह व्यक्त नहीं किया है। यह उन्होंने अवश्य स्वीकार किया है कि 'अद्यावधि स्वभावतः उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर गुरु गोरखनाथ के समय का उत्तरोत्तर पहले की ही ओर खिसकता जाना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। इस कारण इस सम्बन्ध में अनुसन्धान करने वालों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि वे सर्वप्रथम उक्त प्रकार की सारी उपलब्धियों की ही कोई वैज्ञानिक छानबीन कर लें। गुरु गोरखनाथ के मत एवं व्यक्तित्व तथा उनके व्यापक प्रभाव को ध्यान में रख कर किया गया इस प्रकार का प्रयास यदि किसी प्रकार सफल हो सके तो वह किसी दिन भारतीय इतिहास के धार्मिक एवं सांस्कृतिक विकास के सम्बन्ध में बहुत-सी पेचीदी युक्तियों के सुलझाने में भी हमारे काम आ सकता है।'^१

बौद्ध सिद्ध और नाथ सिद्ध साहित्य एवं सम्प्रदाय से सम्बद्ध इन निष्कर्षों को यदि तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तो यह बात साफ हो जाती है कि चतुर्वेदीजी के इन विवेचनों और निष्कर्षों में कोई पूर्वाग्रह नहीं है और तटस्थ भाव से तथ्यानुसरण करते हुए एक सर्वमान्य मत तक पहुँचने की चेष्टा की गयी है। शोध सम्बन्धी विभिन्न स्थापनाओं में अपनी किसी एक बात को स्थापित करने के लिए तथ्यों में तोड़-मरोड़, रूपान्तर, स्थानान्तर आदि दिखायी पड़ता है उसका यहाँ संबंधा अभाव मिलता है। यह विशेषता चतुर्वेदीजी की महिमा है। अभी उनकी लेखनी इस दिशा में सक्रिय है इसीलिए और भी नई उपलब्धियों की आशा की जानी चाहिए।

—हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी।

^१ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ, गुरु गोरखनाथ के समय का निरूपण—चतुर्वेदी, पृ० ३६१।

^१ वही, पृष्ठ ११६-१२०।

हिन्दी सन्त-साहित्य का इतिहास

● डा० जयराम मिश्र

वैसे तो 'सन्त' शब्द का तात्पर्य यही है, जो "सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष ज्ञान की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो।" अर्थात् जिसने 'सत्' रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठकर उसके साथ एकाकार हो गया हो। सन्त के हो जाना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसकी 'ब्रह्ममयी आन्तरिक बृत्ति' और 'ब्रह्ममय कर्म' दोनों का सम्मिश्रण ही वांछनीय है। इस प्रकार जिसकी 'रहनी' और 'करनी' के बीच अलौकिक सामंजस्य हो वही सन्त है। परन्तु 'सन्त' शब्द आगे चलकर 'रूढ़ि' अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस शब्द का प्रयोग केवल उन भक्तों के लिए होने लगा जो 'विठ्ठल' या 'वारकरी' सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे। उसकी साधना में निर्गुण भक्ति की प्रधानता थी। इन सन्तों में ज्ञानदेव, नामदेव, एवं तुकाराम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार 'सन्त' शब्द उपर्युक्त भक्तों एवं उनकी श्रेणियों के लिए रूढ़ि-सा हो गया। कबीर आदि उत्तरी भारत के सन्तों की विचारधारा बहुत कुछ ज्ञानदेव आदि सन्तों की विचारधारा से मिलती थी। अतः कबीर आदि भक्तों की भी गणना उसी के आधार पर 'सन्तों' में ही की गई। इनमें से प्रायः अधिकांश सन्तों ने 'सन्त' शब्द की व्याख्या अपने ढङ्ग से की है। इन्होंने सन्तों की 'रहनी' और 'करनी' के बीच भी समन्वय करने की चेष्टा की है। साधना में भेद का होना अनिवार्य है; किसी में ज्ञान की प्रधानता है, किसी में उपासना की और किसी में कर्मकाण्ड एवं आचरण की। अत-

एव किसी की दृष्टि में ज्ञान की प्रक्रियाएँ ही सन्त के लक्षण हैं, और किसी की दृष्टि में आदर्श उपासक ही सन्त है, और किसी की राय में शुद्ध आचरणवान् एवं कर्मकाण्ड ही वास्तविक सन्त है परन्तु इन सबों ने एक स्वर से अपने मत को 'सन्तमय' की संज्ञा दी है।

दक्षिण भारत के सन्तों ने अपने विचारों को सुसंगठित रूप देने के लिए संस्कृत ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाकारों में ज्ञानदेव और एकनाथ के नाम प्रसिद्ध हैं। ज्ञानदेव की श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखी हुई 'ज्ञानेश्वरी टीका' साधु सम्प्रदाय में अत्यधिक प्रसिद्ध है। उत्तरी भारत के सन्तगण कुछ को छोड़ कर अधिकांश साधारण पढ़े-लिखे थे। इन लोगों ने अपने भावों को साधारण भाषा द्वारा ही अभिव्यञ्जित किया। इनकी रचनाएँ स्वतन्त्र और मौलिक हैं। इन सन्तों ने अधिकतर फुटकल पदों की रचना की, जो इनकी 'बानियों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ सन्तों ने साखी, रमैनी, कवित्त, सर्वथा जैसे विविध छन्दों में भी अपने उपदेश व्यक्त किये हैं। एकाध में प्रबन्ध ग्रन्थ लिखने की चेष्टा की थी किन्तु उनकी रचना में शैथिल्य है।

सन्तों को एक वर्ग विशेष में गिनते हुए उसके सामूहिक अध्ययन की ओर हिन्दी-साहित्य में सबसे पहले डा० पीताम्बरदत्त बड़थवाल प्रवृत्त हुए। सं० १९६० वि० में उन्हें "दि निर्गुन स्कूल आव हिन्दी पोइट्री" थीसिस के आधार पर डी० लिट्० की उपाधि मिली। इस थीसिस में डा० बड़थवाल ने हिन्दी के सन्त कवियों की बानियों का अध्ययन कर

उनकी बाह्य विभिन्नताओं में समन्वय एवं समानता के आधार ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया। उन्होंने इनके उपदेशों की दार्शनिक पृष्ठभूमि की खोज की और उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की भी सूक्ष्म विवेचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने इन सन्तों की मुख्य देन पर प्रकाश डाला। उस समय तक जो कुछ उपलब्ध सामग्री थी उसके आधार पर उनकी जीवनी भी संक्षेप में लिखी। डा० बड़थवाल ने अपने निबन्ध में सन्तों के भावपक्ष अथवा उनकी कविता के मुख्य विषय को ही समझाने की चेष्टा की है। भाषा-पक्ष पर उनकी दृष्टि गौण रही है। उन्होंने सन्तों द्वारा रची हुई कविताओं को वास्तविक कविता की कोटि में नहीं माना है। उन कविताओं को भावाभिव्यक्ति का एक साधन मात्र माना है।

सन्तों की दार्शनिक विचारधारा का उल्लेख करते हुए डा० बड़थवाल ने उनमें पाई जाने वाली तीन धाराओं का उल्लेख किया है। यथा— (१) अद्वैत, (२) भेदाभेद, (३) विशिष्टाद्वैत।

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर उन्होंने कबीर, दादू, सुन्दरदास, जगजीवनदास, भीखा एवं मल्लूक को 'अद्वैतवादी' की संज्ञा दी है। गुरु नानक एवं उनके अनुयायियों को 'भेदाभेदी' बतलाया है। शिवदयाल, प्राणनाथ, दरियाद्वय, दीनदरवेश, बुल्लेशाह आदि को 'विशिष्टाद्वैतवादी' की कोटि में रखा है। प्रमुख सन्तों तथा उनके नाम पर प्रचलित होने वाले पन्थों की विचारधाराओं में डा० बड़थवाल कोई विशेष अन्तर नहीं मानते हैं। उन्होंने सन्तों का जीवन-वृत्त भी शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देने की चेष्टा की है। इसी कारण उनमें पूर्णता नहीं है। बहुत से सन्तों का जीवन-वृत्त देने में उन्होंने अनुमान से ही काम लिया है। किसी-किसी स्थल पर प्राप्त सामग्रियों का उल्लेख मात्र कर दिया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि डा० बड़थवालजी ने इन सन्तों की विचारधाराओं और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताओं पर अधिक ध्यान दिया है। सन्तों के समुदाय के स्वरूप और उसके विकास पर उनकी गौण दृष्टि थी।

सन्तमत के अध्ययन में तीसरा महत्वपूर्ण अध्याय डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'कबीर' में कबीर, उनके साहित्य तथा दार्शनिक विचारों की आलोचना की है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में लेखक ने जुलाहा जाति के सम्बन्ध में विद्वत्तापूर्ण खोज की है। तत्पश्चात् कबीर के प्रामाणिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। दूसरे अध्याय में 'अवधूत' शब्द की व्याख्या की गई है। 'वज्रयानी', 'तांत्रिक', 'गोरखपन्थी' अवधूतों का वर्णन किया है। अवधूत के सम्बन्ध में कबीरदास की विचारधारा का उल्लेख करके, उसकी अवधूत-कोटि निश्चित की है। तीसरे में नाथपन्थियों के सिद्धान्त और कबीरदास के बीच साम्य और वैषम्य दिखलाए गए हैं। चौथे अध्याय में हठयोग विषयक आवश्यक बातें—महाकुण्डलिनी, षट्चक्र, सहस्रार, सुरति-निरति, कमल, नाड़ियों, नादविन्दु, कुण्डलिनी के जागरण के उपाय, काया साधना, षट्कर्म सिद्धान्त, खेचरी मुद्रा—बतलाई गई हैं। पाँचवें अध्याय से निरंजन शब्द की तुलनात्मक व्याख्या की गई है। छठे अध्याय में निरंजन के समान अन्य मनोरंजक शब्दों—शून्य, सहजवाद, बिन्दु, खसम, घरनी आदि के ऐतिहासिक विकास का निरूपण किया है। सातवें अध्याय में योगपरक रूपक और उलटवासियों की व्यापक और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है। आठवें अध्याय में ब्रह्म और माया विषयक आवश्यक बातों का समाधान किया गया है। नवें अध्याय में 'निर्गुण राम' की व्याख्या की गई है। इसी अध्याय में यह भी बतलाया गया है। 'निर्गुण' से कबीर का वास्तविक तात्पर्य क्या है? तथा उनके अनुभवैकगम्य भगवान् के तात्पर्य को भी स्पष्ट किया गया है। दसवें अध्याय में पौराणिक मत की आचार बहुलता, हठयोगियों के बाह्याचारों को विस्तार के साथ बतलाया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि बाह्याचारों के खण्डन की सुदीर्घ परम्परा सदैव से चली आ रही थी। कबीरदासजी ने 'एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद' का अलौकिक समन्वय करके रूढ़ियों और बाह्याचारों

की परम्पराओं को वेदरदी से काटा। भक्ति और सच्चे गुरु पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया। ग्यारहवें अध्याय में डॉ० द्विवेदी ने बतलाया है कि कबीर के अनुसार ब्रह्म जिज्ञासा की भक्ति है। शरणागति और आत्मसमर्पण भाव, तन्मयता तथा व्याकुलता तथा अनन्यपरायण, विश्वास और एकान्तनिष्ठा इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। कबीरदासजी इस भक्ति साधना में रामानन्दजी से कहाँ तक प्रभावित हुए, इसकी भी समीक्षा की गई है। बारहवें अध्याय में कबीरदास के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है। उनकी अखड़ता, स्वाभाविक फक्कड़पन, घर फूँक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही, अपने आप पर अखण्ड विश्वास, युगावतार की शक्ति और विश्वास कबीर के व्यक्तित्व की असाधारण विशेषताएँ हैं। तेरहवें अध्याय में भारतीय धर्म-साधना में कबीर का स्थान निर्धारित किया गया है। चौदहवें अध्याय में भगवत प्रेम के आदर्श निरूपित किए गए हैं। पन्द्रहवें अध्याय में रूप और अरूप, सीमा और असीम की व्याख्या करके यह बतलाया गया है कि कबीर के अनुसार 'रामतत्त्व' सर्वोपरि है। यह अनुमान के बाहर का अनन्त देश है। इस देश में समस्त व्यवहार निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। तत्पश्चात् 'उपसंहार' में कबीर की वाणी के विविध रूपों में उपयोग बतलाये गए हैं। उन्हें 'भाषा का वादशाह' और 'अद्वितीय व्यक्ति' कहा गया है। उन्हें 'सर्व धर्म-समन्वयकार' की संज्ञा दी गई है।

सन्तों के परम्परागत अध्ययन में परशुरामजी चतुर्वेदी का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपने अध्ययन में अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण रखा है। सांस्कृतिक दृष्टि के साथ उन्होंने अपने अध्ययन में भारतीय दर्शन की विचार-परम्परा को अपने सम्मुख रखा। इसके साथ ही उनकी दृष्टि इतिहास पर भी रही है। उन्होंने सन्त साहित्य की समस्त उपलब्ध सामग्री का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रयोग किया और कालक्रम के अनुसार उसे सुसंगठित रूप प्रदान किया।

चतुर्वेदीजी की सन्त-साहित्य का अध्ययन उनके निम्न चार ग्रन्थों के आधार पर विचार किया जा रहा है—

१—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा।

२—संत-काव्य : संग्रह।

३—भारतीय-साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ।

४—कबीर साहित्य की परख।

'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' में विद्वान लेखक ने उस सन्त-परम्परा से गम्भीर परिचय कराने का प्रयास किया है, जो कबीर साहब के साथ उत्तरी भारत में आरम्भ हुई थी और जिसकी रचनायें हिन्दी में उपलब्ध हैं। इसमें लेखक ने अपने वक्तव्य में सन्त-परम्परा के सम्बन्ध में अपने विचार दिए हैं—“सन्त-परम्परा के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाने वाले संतों का चुनाव करते समय सबसे अधिक ध्यान स्वभावतः उन लोगों की ओर ही दिया गया है, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से कबीर अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना पथ-प्रदर्शक माना था अथवा जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों और साधनाओं को किसी न किसी प्रकार अपनाया था। फिर भी यहाँ कुछ ऐसे लोगों को स्थान देना पड़ गया है जो सूफियों, सगुणोपासकों, नाथ-पन्थियों और अन्य ऐसे सम्प्रदायों के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी सन्त परम्परा में गिने जाते आये हैं और जो अपने सन्त-मतानुकूल सिद्धान्तों वाली रचनाओं के आधार पर भी उक्त सन्तों के अत्यन्त निकटवर्ती समझे जा सकते हैं।

'उत्तर भारत की सन्त-परम्परा' इसमें सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सबसे पहले लेखक ने 'सन्त' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया है। तत्पश्चात् दक्षिण और उत्तर के सन्तों का संक्षिप्त इतिहास बतलाया है। इसी अध्याय में भारतीय साधना के प्रारम्भिक विकास की सुन्दर और संक्षिप्त रूपरेखा लेखक ने प्रस्तुत की है। वैदिक साधनाओं, गीतोक्त साधना, पौराणिक भक्ति, योग साधना एवं ज्ञानवाद, तांत्रिक पद्धति, गौतम बुद्ध का मार्ग, महा-

यान और हीनयान, मन्त्रयान का संक्षिप्त परिचय लेखक ने दिया है। तत्पश्चात् सुधारवादी साम्प्रदायिक रूपों की चर्चा की गई है। इन सम्प्रदायों में (१) स्मार्त-सम्प्रदाय; (२) सहजयान सम्प्रदाय, (३) जैन सम्प्रदाय, (४) नाथ योगी सम्प्रदाय, (५) सूफी सम्प्रदाय तथा (६) भक्तों के विविध सम्प्रदाय हैं। इन भक्त सम्प्रदायों में आलवार भक्त, वैष्णव आचार्य भक्त, कश्मीरी शैव, वारकरी निगुणोपासक, सहजिया वैष्णव प्रमुख हैं। इसी भूमिका भाग में ही कबीर साहब के पूर्वकालीन सन्तों जयदेव, सधना, लालदेव, वेणी, नामदेव, त्रिलोचन का जीवनवृत्त और रचनाओं का परिचय भी दिया गया है। द्वितीय अध्याय में कबीर के समय की परिस्थितियों पर विचार करके यह बतलाया गया है कि उनका कबीर पर क्या प्रभाव पड़ा। तत्पश्चात् उनके जीवन-वृत्त का वर्णन है, जिसमें उनके जन्मस्थान, मृत्युस्थान, समय, जाति, माता-पिता शिक्षा-दीक्षा, देश-भ्रमण, परिवार, व्यवसाय, वेषभूषा, रहन-सहन और रचनाओं आदि का समावेश है। इस अध्ययन के अन्त में कबीर साहब के मत का निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय में कबीर साहब के समसामयिक सन्तों के जीवन वृत्त पर प्रकाश डाला गया है। इन सन्तों में स्वामी रामानन्द तथा उनके शिष्य सेन नाई, पीपाजी, रविदास अथवा रैदासजी, कमाल, धन्ना भगत प्रमुख हैं। चतुर्थ और पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में विविध पन्थ-निर्माण के सूत्रपात की कहानी बतलाई गई है। इन पन्थों में से कबीर-पन्थ, नानक-पन्थ और सिख-धर्म, साध-सम्प्रदाय, लाल-पन्थ, दादू-पन्थ, निरंजनी-सम्प्रदाय, धरनी-स्वरी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, गरीब-पन्थ, पानप-पन्थ, रामसनेही सम्प्रदाय प्रमुख हैं। सप्तम अध्याय में आधुनिक सन्तों और उनके सम्प्रदायों के सम्बन्ध में लेखक ने बतलाया है। इनमें से साहिब पन्थ, नागी-सम्प्रदाय, राधा-स्वामी सत्संग की चर्चा है।

आधुनिक युग में फुटकल सन्तों में स्वामी राम-तीर्थ और महात्मा गांधी के नाम उल्लेखनीय हैं। इस

प्रकार विद्वान् लेखक ने कबीर के पूर्ववर्ती सन्तों से लेकर महात्मा गांधी तक की जीवनी की रूप-रेखा दी है। इन सन्तों के असाधारण व्यक्तित्व का तथा उनमें से कुछ के द्वारा निर्मित सम्प्रदाय अथवा पन्थ में क्या-क्या विशेषताएँ हैं, इसका अत्यन्त बारीकी से निरूपण किया है। दार्शनिक परम्पराओं एवं इतिहास का लेखक ने अद्भुत समन्वय किया है। इसी से प्रभावित होकर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस ग्रन्थ को 'सन्त-साहित्य का विश्वकोश' की संज्ञा दी है।

श्री चतुर्वेदीजी का दूसरा ग्रन्थ 'सन्त-काव्य' है। इस ग्रन्थ में उन्होंने सन्त-परम्परा के सुदीर्घ काल की कतिपय विशेषताओं के साथ चार युगों में विभाजित किया है और उसी के अनुसार उनकी रचनाओं का समुचित मूल्यांकन किया है। चतुर्वेदीजी ने इस ग्रन्थ में प्रत्येक सन्त की मौलिक विशेषताओं की ओर संकेत किया है और उन्होंने यह भी बतलाया है कि किस प्रकार विभिन्न सन्त अपने-अपने समय की विशेषताओं के परिचायक हैं।

१—प्रारम्भिक युग—(सं० १२००-१५५०) जयदेव से लेकर धन्ना भगत तक।

२—मध्ययुग—(पूर्वार्द्ध सं० १५५०-१७००) जम्भनाथ से लेकर मल्लकदास तक।

३—मध्ययुग—(उत्तरार्द्ध सं० १७००-१८५०) बाबालाल से लेकर रामचरण तक।

४—आधुनिक युग—(सं० १८५० से) राम-रहदास से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक।

उपर्युक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ में विद्वान् लेखक ने १२६ पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी है। इस भूमिका में लेखक ने संक्षेप में सन्त-साहित्य के वर्ण्य-विषय की व्याख्या की है। सन्तों की रचनाओं के प्रधान विषय सत् और परमतत्त्व रूपी राम के स्वरूप का विगर्शन, उसके प्रति प्रकट किये विविध प्रकार के उद्गार, आत्म-निवेदन, नामस्मरण की साधना, सात्त्विक जीवन का महत्त्व तथा उसके लिए दिये गये उपदेश आदि कहे जा सकते हैं। उन्होंने सांसारिक बातों में मोहासतन लोगों का भी वर्णन किया है और उसके

साम्प्रदायिक भेदभावों की आलोचना की है। उन्होंने आदर्श सन्त को सत् का प्रतीक माना है और अपने पथ-प्रदर्शक सद्गुरु को भी वही महत्त्व प्रदान किया है। अपनी रचनाओं में ये सर्वत्र उनके सद्गुरुओं एवं आदर्शों की ओर ही ध्यान देते हैं। उनके भौतिक जीवन की प्रायः कोई भी चर्चा नहीं किया करते। यही कारण है कि हमें बहुत कुछ प्रयत्न करने पर यह विदित नहीं हो पाता कि वे कौन और कहाँ के थे।”

इस ग्रन्थ की भूमिका में जो सबसे आकर्षक वस्तु है, वह है काव्य की दृष्टि से इस साहित्य का मूल्यांकन। लेखक ने बड़े परिश्रम से इस साहित्य के शृङ्गार रस (संयोग और वियोग दोनों ही) वीर रस, वीभत्स रस, अद्भुत रस की पंक्तियों का उद्धरण दिया है। शान्त रस की व्यापकता तो सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

सन्तों की अलंकार योजना पर भी चतुर्वेदीजी ने विचार किया है। सन्तों की रचनाओं में दोनों प्रकार के अलंकार मिलते हैं—(क) अर्थालंकार, (ख) शब्दालंकार। अर्थालंकार में से सन्तों की रचनाओं में से रूपक, विभावना, अन्योक्ति, उदाहरण, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, एकावली काव्यालिंग, उपमा, अनन्योपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, विचित्र, विषम, व्यतिरेक, कारणभाला, क्रम, परिणाम, भेदकातिशयोक्ति, लोकोक्ति, अलंकारों के प्रयोग किये हैं। चतुर्वेदीजी ने उदाहरण के लिए पर्याप्त पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। शब्दालंकार सन्तों की रचनाओं में छेकानुप्रास, वृत्तानुप्रास, यमक, वीप्सा आदि अलंकार मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उलटवासियों पर भी लेखक ने विचार किया है। सन्तों की संगीत-प्रियता, छन्द तथा भाषा की भी समीक्षा लेखक ने की है। इसी प्रकार काव्य-सौन्दर्य निरूपण की दृष्टि से श्री चतुर्वेदीजी का प्रयास अत्यन्त इलाधनीय है। सन्त-काव्य संग्रह-ग्रन्थ की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

‘कवीर-साहित्य की परख’ का प्रथम संस्करण सन्त साहित्य के अध्ययन में चतुर्वेदीजी की अन्य कृति है। कवीर-साहित्य का अध्ययन पहले केवल धार्मिक दृष्टि

से ही किया जाता था किन्तु इसका अब शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी अध्ययन किया जाने लगा है। यह सब साम्प्रदायिक दायरे की सीमा को पार कर चुका है। इस साहित्य के अनेक अंग अब वैज्ञानिक अनुशीलन के लक्ष्य बन चुके हैं। कहना न होगा कि इस ग्रन्थ में चतुर्वेदीजी ने कवीर-साहित्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से परखने की चेष्टा की है।

चतुर्वेदीजी ने अध्ययन की सुविधा के लिए इस ग्रन्थ को पाँच खण्डों में विभाजित किया है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट अंग पृथक् है। प्रथम खण्ड में सबसे प्रथम ‘सन्तकाव्य की परम्परा’ का उल्लेख मिलता है। इसमें बतलाया गया है कि सन्त-काव्य का प्रारम्भ पहले वानियों अथवा पदों एवं साखियों के ही रूपों में हुआ था किन्तु वह पीछे अन्य प्रकार से भी छन्दोबद्ध होकर दीख पड़ा, किन्तु उसकी मौलिक विशेषताएँ अक्षुण्ण रहीं। उमका प्रमुख उद्देश्य आत्म-प्रकाशन ही रहा। अपनी कथन-शैली में उन्होंने पिगल भाषा, व्याकरण, रस, अलंकारादि सम्बन्धी नियमों की प्रायः उपेक्षा भी की। यह परम्परा आज तक ज्यों की त्यों है। सन्त कवियों में कवीरसाहब, गुरु नानक, रैदास, दादू, रज्जव, सुन्दरदास, धरणीदास, तेगबहादुर, पलटू तथा स्वामी रामतीर्थ जैसे कुछ प्रतिभावान् भी पुरुष हुए। जिनकी रचनाओं में उत्कृष्ट काव्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस परम्परा का एक अस्पष्ट रूप कवीर साहब के पहले से भी विद्यमान था। जयदेव, नामदेव, तिलोचन, साधना और सिद्ध नाथपन्थी कवियों के रूप में यह परम्परा पहले भी थी। आगे चलकर सिद्धों और गोरखनाथ आदि की रचनाओं तथा कवीर की वाणी में समानता दिला कर इस बात को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है। इसी खण्ड में आगे चलकर चतुर्वेदीजी ने बतलाया है कि उनके समय में अनेक मत प्रचलित थे, जिनका जिक्र ‘दादू’ आदि कवियों की रचनाओं में भी मिल जाता है।

“जोगी जंगम सेवड़े, बाँध, सन्यासी, सेप।

षट् दरसन दादू राम बिन, सबै कपट के भेष ॥”

कबीरसाहब ने अपनी रचनाओं में ऐसे वेशधारियों की काफी चर्चा की है। दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत सर्वप्रथम परमतत्त्व की व्याख्या की गई है। कबीर साहब ने इस तत्त्व को तत्, परमतत्, अनूप तत्, निज तत्, आप, सबद परमपद, निज पद, अभै पद, सहज, सुनि, अति ग्यान, अनन्त, उनमन, गगन, सीव, ब्रह्म, आदि की संज्ञा दी है किन्तु वास्तव में उन्हें इनमें से किसी भी नाम अथवा उसके किसी पर्याय से भी तृप्ति नहीं होती जान पड़ती। लेखक ने कबीर के शब्दों को उद्धृत कर इस 'परम तत्त्व' की सुन्दर व्याख्या की है। परम तत्त्व अथवा 'परमात्म तत्त्व' के पश्चात् कबीर साहब के अनुसार जीव-तत्त्व की व्याख्या लेखक ने विस्तार से की है। सारांश यह कि जीव को उन्होंने बतलाया है कि "हरि में पिंड और इस पिंड में ही हरि हैं।" इसी प्रकार मायातत्त्व की भी विवेचना हुई है। कबीर साहब के सामाजिक सिद्धान्त में सामाजिक स्थिति, परोपकार के महत्त्व, साम्य, आर्थिक व्यवस्था का सांगोपांग निरूपण मिलता है। उनकी साधना में आत्मविचार, भाव-भगति, नाम-स्मरण एवं सुरति-योग, सहजशील का अभ्यास प्रमुख है। यही उपर्युक्त चार साधन कबीर साहब के जीवन के प्रमुख अभ्यास रहे हैं। इसी खण्ड के अन्त में कबीर के अलौकिक समन्वयवाद की भी विवेचना की है।

इस ग्रन्थ के चौथे खण्ड में कबीर के रहस्यवाद, सौन्दर्य-भावना, प्रतीक योजना एवं उलटबांसियों का पृथक्-पृथक् विद्वत्तापूर्ण विवेचन मिलता है। पंचम खण्ड में कबीर साहित्य में काव्य-प्रचार एवं छन्द योजना, उनकी भाषा एवं रचना शैली और उनके साहित्य के कुछ परम्परागत पारिभाषिक शब्दों की भीमांसा की गई है।

परिशिष्ट में कबीर साहब का एक परिचय, कबीर का जीवन काल और कबीर-साहित्य तथा संगीत, कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं की संख्या तथा नामानुक्रमणी जोड़ कर इस ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ़ा दी गई है।

इस प्रकार इतिहास, सिद्धान्त और साधना, तथा काव्य-सौन्दर्य आदि की दृष्टि से यह ग्रन्थ निश्चय ही सन्त-साहित्य का अनुपम और अद्वितीय ग्रन्थ है।

चतुर्वेदीजी ने "भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ" नामक पुस्तक के प्रथम संस्करण में फुटकर लेखों में सन्त-साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। 'भारतीय सन्तों का सांस्कृतिक योगदान' नामक निबन्ध में यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि सन्तों ने भारतीय संस्कृत के विकास में अनेक प्रकार से सहयोग प्रदान किया। भारतीयों के गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद को उन्होंने सर्व साधारण के जीवन में घटा कर उसकी वास्तविक उपयोगिता सिद्ध कर दी। इसी के आधार पर धर्म एवं सम्प्रदायगत भेदभाव तथा जातिगत विषमताओं की निस्सारता सिद्ध की गई। इसी से विश्व-बन्धुत्व की भावना को बल प्राप्त हुआ। सन्तों की कड़ी आलोचना के फलस्वरूप 'कथनी' और 'करनी' में समन्वय स्थापित हुआ। लोक भाषा के माध्यम द्वारा उन्होंने गूढ़ सत्तों का प्रतिपादन किया, यह उनकी महान् देन थी।

'हिन्दी सन्त-साहित्य' वाले निबन्ध में विभिन्न सन्तों के निजी अनुभव, सादगी, सदाचार, त्याग, निर्भीकता, हृदय की सच्चाई और विश्व प्रेम आदि की ओर संकेत किया गया है। 'सन्त-साहित्य और जैन हिन्दी कवि' नामक निबन्ध में जैन तथा सन्त-साहित्य में पाए जाने वाले साम्य भावों, विचारों और भाषा के ऊपर दृष्टि डाली गई है। 'भोजपुरी के सन्त-कवि' तथा सन्त-कवियों की 'भोजपुरी रचनाएँ' नामक निबन्धों के शीर्षक से ही प्रतिपादित विषय का आभास मिल जाता है। 'सन्त-काव्य में वीर-रस' के निबन्ध में सन्त-साहित्य के वीर-रस की पंक्तियाँ एकत्र करके वीर रस का साक्षात् दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'सन्तों का निर्वैर धर्म' नामक निबन्ध में उनके विश्व-बन्धुत्व तथा अहिंसा भावना की भी प्रशंसा की गई है।

संत-साहित्य का मूक साधक

● डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

आज हिन्दी विद्वान्, के सन्त-साहित्य के मूक साधक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का प्रवाहित अनवरत परिश्रम, लगन, शान्तिप्रियता और मूक साधना हिन्दी साहित्य के लिए वरदान बन गई है और इन सब ने मिलकर हिन्दी-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति कर दी है। उनका जीवन सन्तों की रहनी से पूर्णतया प्रभावित है। व्यावहारिक जीवन हो या साहित्यिक जीवन; प्रत्येक दशा में उन्होंने कथनी की अपेक्षा करनी को प्रधानता दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि फिर सन्त चरणदास की उक्तियाँ 'शूरा वही जु करणी करै' तथा "करणी ही बलवन्त है" उनके जीवन में घर कर गई है। सन्त-साहित्य का सहज प्रभाव आपके व्यक्तित्व पर आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में पड़ा है। उनके व्यक्तित्व की सरलता, व्यवहार की निष्कपटता, स्वभाव की मृदुलता, और हृदय की कोमलता इसी सन्त-साहित्य के गम्भीर अध्ययन का प्रभाव है। इसके साथ ही चतुर्वेदीजी अनुभूतिपरक स्वतन्त्र विचारपद्धति के समर्थक हैं।

सन्त-साहित्य का नाम लेते ही हमें सहसा डा० पीताम्बरदत्त वड़ुवाल का स्मरण हो आता है। इस क्षेत्र में उन्होंने अग्रदूत का कार्य किया। उनके अनन्तर जिन तीन विद्वानों ने सन्त-साहित्य को परिवर्द्धित, परिमार्जित एवं लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया उनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी तथा डा० रामकुमार वर्मा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन्त-साहित्य के विवेचन एवं मूल्यांकन में चतुर्वेदीजी का विशिष्ट एवं समाहित स्थान है। आज से

लगभग चार दशक वर्ष पूर्व प्रयाग से प्रकाशित 'हिन्दु-स्तानी' में सन्त-साहित्य पर सर्वप्रथम लेख 'सन्त-साहित्य' सन् १९३१ में प्रकाशित हुआ था। इसके अनन्तर गम्भीर अध्ययन और अपने स्वभाव एवं प्रकृति के अनुकूल होने के कारण सन्तमत, सन्त परम्परा और सन्त-साहित्य आपका अपना प्रिय विषय बन गया। सन् १९३१ से निरन्तर उनकी लेखनी अबाध गति से सन्त-साहित्य की सेवा करती रही। उनके प्रसिद्ध लेखों 'सन्तों की रहनी', 'सन्त-साहित्य का वैशिष्ट्य', 'बलिया जिले की सन्त-परम्परा', 'सन्त काव्य की परम्परा', 'सन्तों की युद्ध-वीरता', 'सन्त काव्य में वीररस', 'सन्तमत और मीराबाई', 'सन्त कवियों की भोजपुरी रचनाएँ', तथा 'सन्त-साहित्य में नाम साधना' में सन्त-साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और विशेषताओं का सूक्ष्म पर्यालोचन हुआ है। इनके अतिरिक्त सन्तमत के विकास, उन्नति और उसमें समय-समय पर होने वाले विशेष परिवर्तन एवं उनके क्रमिक इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों पर आपने पत्र-पत्रिकाओं में लेख के रूप में प्रकाश डाला है।

सन्तमत एवं साहित्य के प्रवर्तक वीरदास आपके अध्ययन के विशेष विषय रहे हैं। सन् ई० ३२ से ५२ ई० तक आपने कबीर के रहस्यमय जीवन-वृत्त और साहित्य पर दर्जेनी विवेचनात्मक निबन्ध लिखे, जिनका महत्त्व आलोचना एवं खोज दोनों दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। सन्तमत के उद्गम और विकास से सम्बन्धित आपके दो लेख 'चौरासी सिद्ध कौन थे?' और 'सिद्धों की ८४ संख्या और उनके सम्प्रदाय' विशेष

महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। इन लेखों में सिद्धों की उत्पत्ति के साथ ही साहित्य एवं साधन में उनके महत्व और स्थान की भली भाँति विवेचना की गई है। इनका प्रचुर अनुसंधानात्मक महत्व है। इनमें चिन्तन की गम्भीरता और अध्ययन की व्यापकता सर्वत्र उपलब्ध होती है। सन् ६२ से ५२ तक के मध्य में विविध विषयों पर लिखित उनके निबन्ध इस बात के द्योतक हैं कि उनमें ज्ञान की पिपासा और जिज्ञासा है, परिश्रम करने की प्रवृत्ति है और चिन्तन की प्रखर सामर्थ्य है।

इस समय तक चतुर्वेदीजी की दस पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं। 'मीराबाई की पदावली' आपकी प्रथम कृति है जिसकी रचना सन् १९३६ में हुई थी। इसमें संत भक्त कवियित्रों मीरा की भारतीय काव्य साधना, प्रेमसाधना एवं भक्ति-साधना में महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ में मीरा से सम्बन्धित अनेक भ्रमों एवं शङ्काओं के समाधान का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये पाठान्तर से उसकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है।

चतुर्वेदीजी का दूसरा ग्रन्थ 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा' सन् १९४८ ई० में लिखी गई। संत-साहित्य और हिन्दी के आलोचना साहित्य के लिए यह महत्वपूर्ण योगदान है। अभी तक हिन्दी में संत-साहित्य, संत-परम्परा एवं संत-मत पर सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध, आलोचनात्मक इतिहास का अभाव था। यह किसी भी विश्वविद्यालय में अनुसंधान का विषय हो सकता था, परन्तु इस अभाव-पूर्ति और आवश्यकता की ओर किसी का ध्यान न आकर्षित हो सका। चतुर्वेदीजी ने इस अभाव की पूर्ति प्रस्तुत रचना द्वारा की। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रचुर विखरी हुई सामग्री एवं शृङ्खला कड़ियों को कालक्रमानुसार एकत्र एवं सम्बद्ध करके भारतीय सभ्यता के प्रारम्भ और विकास एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न सुधारों और उनकी परम्पराओं की सुविस्तृत पूर्व पीठिका देते हुए विद्वान् लेखक ने 'उत्तरी भारत के संतमत' के अन्तर्गत आने

वाले सारे व्यक्तियों और सम्प्रदायों पर प्रकाश डाला है। कबीर-पंथ, नानक पंथ, सिख-धर्म, लालपंथ, दादू-पंथ, बावरी-पंथ, मूलक-पंथ, तथा छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सम्प्रदायों के उदय, विकास और ह्रास का इतना विस्तृत व्यापक, रोचक और अनुसंधानात्मक इतिहास हिन्दी-साहित्य में ही नहीं अंग्रेजी में भी दुर्लभ है। लेखक ने छोटे-से-छोटे संत कवि से उदाहरणार्थ जोगीदास, जगजीवनदास, घासीरास धरणीदास, द्वारिकादास, शिवनारायण, दीनदरवेश, किनाराम, रामचरन आदि के विषय में प्रायः सभी ज्ञात्य बातों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्य युगीन संतों से लेकर आधुनिक युग के संतों तक का सूक्ष्म विवेचन और इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। आधुनिक युग के संतों जिनके विषय में हमारी जानकारी कुछ भी नहीं है उनका सम्यक् परिचय और विवेचन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। साहित्य-पंथ, नागी संप्रदाय, राधास्वामी सत्संग आदि की दार्शनिक विचारधारा, आध्यात्मिक साधना, सारांश, स्वतन्त्र धार्मिक सत्ता और सिद्धान्त आदि के विषय में सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में नाथ योगी सम्प्रदाय की साधना-पद्धति का रोचक विवरण दिया गया है। कबीर-पंथ का सांस्कृतिक अध्ययन इसकी अपनी विशेषता है। लेखक ने यहाँ संत-साहित्य के भाव-पक्ष पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया है। सन्त-साहित्य के सम्बन्धित चतुर्वेदीजी का अन्य ग्रन्थ 'सन्तकाव्य' है। इस ग्रन्थ के सन्त-साहित्य के प्रतिनिधि अंश संगृहीत किये गये हैं। ग्रन्थ के भूमिका खण्ड में संत-साहित्य के कला और भाव दोनों ही पक्षों पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया है।

सन्त-साहित्य चतुर्वेदीजी के अध्ययन का प्रिय विषय रहा है। परन्तु इसके अतिरिक्त साहित्य के विविध काल और अंगों पर उनका भली भाँति अध्ययन है। काव्य में वातावरण और व्यक्तित्व, सौन्दर्य एवं प्रेम के कवि विद्यापति प्रेमी, कवि दम्पति आलस और शेख, शृंगारी कवि बिहारी, कवि ठाकुर की प्रेम (शेष पृष्ठ ३८ पर)

चतुर्वेदीजी की सन्तुलित शैली

● श्री देवव्रत शास्त्री

साहित्यकार अपने जीवन की अनुभूतियों का भावन कर उन्हें संवेद्य बनाने के लिए कला द्वारा अभिव्यञ्जन करता है और समालोचक उस अभिव्यञ्जन का विवेचन कर उसका मूल्यांकन करता है। कवि या साहित्यकार भावुक इसलिए कहा जाता है कि उसमें अपनी भावना को अभिव्यंजित करने की कला निहित रहती है। वह संवेदनशील और सहृदय होता है लेकिन समालोचक में एक खास तरह की ऐसी कला रहती है, जिसके द्वारा वह भावन का विवेचन करता है; इसलिए वह भावुक नहीं बल्कि भावक कहलाता है।

समालोचना के पूर्व समालोचक समालोच्य वस्तु का मुख्य भाव समझता है। भावग्रह के साथ वह समस्त बाह्यमय विषयक परिचय-चारुता के आधार पर उस वस्तु की अन्तरंग-बहिरंग समीक्षा करता है। जैसी समीक्षा के लिए समालोचक को एक दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है वस्तुतः उस दृष्टिकोण का नाम ही शैली है।

शैली समालोचना की बुनियाद बन कर एक ऐसी इमारत का निर्माण करती है जिसके निम्नांकित चार प्रवेश द्वार हैं :—

१. अन्तःप्रकृति का विश्लेषण।
२. विशेषता का अन्वेषण।
३. अभिव्यंजना का विवेचन।
४. सिद्धान्त के अनुसार मूल्य निर्धारण।

यही चार शैली के मुख्य कार्य हैं। इनको आधार या माध्यम बनाकर समालोचना-कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है। लेकिन सफलता और सिद्धि तभी मिलती

है, जब समालोचक में हृदय और मस्तिष्क का सन्तुलन रहता है। सन्तुलन का तात्पर्य केवल 'वजन दुरस्ती' ही नहीं, बल्कि समालोचनाशास्त्र के अनुसार 'सन्तुलन' वह शक्ति है, जिसमें विषय विवेचन करने के लिए 'नीर-क्षीर-विवेक' निहित रहता है। कृति और कर्ता के सम्बन्ध में सुनी-सुनायी या भ्रान्ति वश एक धारणा बना कर यदि उनकी आलोचना की जाती है तो वह सन्तुलित आलोचना नहीं कही जा सकती। उसमें हृदय और मस्तिष्क का पार्यंक्य और असन्तुलन तिल तन्दुल की भाँति स्पष्ट जान पड़ता है।

आलोच्य वस्तु की अन्तःप्रकृति का विश्लेषण भाव-ग्रह द्वारा किया जाता है। भावग्रह द्वारा की गई व्याख्या ही विशेषताओं के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है। अभिव्यञ्जनों का विशद और तात्त्विक विवेचन करने में वही समालोचक सफल होता है, जो वस्तु का अभिव्यंजन करने से पूर्व अपना भावन या विवेचन करता है।

सिद्धान्त के अनुसार आलोच्य वस्तु का मूल्यांकन करना समालोचना का महत्वपूर्ण कार्य है। इसे तत्त्व-निरूपण या मीमांसा भी कह सकते हैं। इसके लिए समालोचक को भावक के साथ ही भावुक भी बनना पड़ता है और साथ ही समालोचना के दोनों पक्षों—व्याख्या और निर्णय को अपनाना पड़ता है। आलोच्य वस्तु की व्याख्या या विवेचन के लिए समालोचक को अपने व्यक्तिगत सिद्धान्तों की अपेक्षा नहीं हुआ करती, बल्कि उसे नये शास्त्रीय सिद्धान्त निश्चित करने पड़ते हैं। इन्हीं निश्चित सिद्धान्तों को समीक्षा में प्रवर्तित कर समालोचक आलोच्य वस्तु की सन्तु-

लित समीक्षा करने के समर्थ हुआ करता है। ऐसा दृष्टिकोण (शैली) अपनाने से समालोचक और समालोच्य वस्तु की स्वतः अभिव्यंजना हुआ करती है। ऐसे अवसर पर समालोचक साहित्य को सम्यक् आलोचना करने के लिए—

१—भावग्रह ।

२—निर्णय ।

३—तत्त्वनिरूपण ।

४—आत्माभिव्यंजन ।

इन चार समालोचना के पक्षों को आधार बनाता है। ये चार पक्ष ही समालोचक की शैली की अभिव्यक्ति बन जाते हैं। तदनुसार कोई समालोचक चारों पक्षों में किसी एक पक्ष को अंगीकार कर समालोचना किया करते हैं तथा कोई चारों को एकत्र कर। लेकिन हर शैली में समालोचक का आत्माभिव्यंजन रहता है। इस प्रकार की समालोचना साहित्य-समालोचना कही जाती है।

इसी परिप्रेक्ष्य में सन्त-साहित्य को अपनी समीक्षा का केन्द्र-बिन्दु बना कर चतुर्वेदीजी समालोचना क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। इनमें भावकता, भावुकता, मार्मिकता और विदग्धता के साथ ही विश्लेषण, संश्लेषण, तुलना और विवेचन करने की शक्ति है। समालोचना के जिस ढंग को लेकर वह आगे बढ़े हैं वह सन्तुलित और संवेदनशील है। प्रायः यह कहा जाता है कि अन्तः-प्रकृति का विश्लेषण और विशेषता का अन्वेषण आलोचना के ये दोनों ढङ्ग पाश्चात्य हैं, लेकिन यदि प्राचीन भारतीय साहित्य का आलोचन किया जाय तो ये दोनों पद्धतियाँ परम्परागत भारतीय ही जान पड़ती हैं। सत्रहवीं शती के सुप्रसिद्ध आलोचक हरिभद्र सूरि ने इस आलोचना-पद्धति को अधिक बल प्रदान किया है। हाँ, इस सत्य से इनकार भी नहीं किया जा सकता कि हिन्दी की वर्तमान आलोचना-पद्धति को संवारने, सजाने और व्यापक बनाने में यूरोपीय आलोचना-पद्धति का बहुत बड़ा हाथ है। इस प्रकार की आलोचना-पद्धति को प्राचीन भारतीय साहित्य में 'मीमांसा-पद्धति' कहा जाता था। मीमांसा

पद्धति में समालोचक के कला और हृदय दोनों पक्ष विद्यमान रहते हैं। इसी मीमांसा-पद्धति को परशुराम जी अङ्गीकार कर मीमांसक या समालोचक बने हुए हैं। ऐसे समालोचक विदग्ध कहे जाते हैं और उनकी शैली में समन्वय एवं सन्तुलन रहा है। वे किसी वाद या मत पर सिद्धान्त पक्ष की स्थापना के पूर्व उसके पूर्व पक्ष का अध्ययन अन्तःसाक्ष्य के आधार पर किया करते हैं।

शैली में लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब रहता है। व्यक्ति की समस्त व्यक्तिगत विशेषताएँ शैली की विशेषताएँ बन जाती हैं। मानवशास्त्र का सिद्धान्त है कि "शैली किसी व्यक्ति का लेखक रूप है" इस सिद्धान्त के अनुसार चतुर्वेदीजी की तनी मूर्ध्ने आलोचना में उनकी निर्णय दृढ़ता व्यक्त करती है। अपलक, सचेष्ट, तेजस्वी आँखें आलोच्य वस्तु की विशेषता का विश्लेषण करती हैं, आलोचना में चरित्र-बल और मानवता को ही मानदण्ड मानना, उसके अम्लान चरित्र और आत्माभिव्यंजन का परिचायक है। विषय और वातावरण के अनुसार उनकी आलोचना शैली में उत्तरोत्तर वैविध्य भी है।

चतुर्वेदीजी की समालोच्य कृतियों में उनकी रचना शैली निम्नांकित रूपों में व्यक्त हुई है—

१—शिष्टवादिता,

२—वाक्यार्थ सम्पृक्तता,

३—प्रबुद्ध भाषा ।

शिष्टवादिता में आपकी विवेचना-प्रवृत्ति मुखरित हुई है। कहीं भी आक्रोश या कटुता और व्यंग की छाया नहीं आने पायी। इसका कारण है कि आप विशाल जन-समुदाय को 'मानव महासमुद्र' मानते हैं। इस अनन्त और यथार्थ की उपासना में आपकी भावना और चेतना व्यक्त बनती है। किन्तु संस्कारगत वैष्णवता और प्रतीकोपासना की स्मृति छाया की भाँति उसके साथ रहती है। आस्तिक भावना विवेचना की लम्बी काया में साकार रूप धारण कर समाविष्ट हो जाती है।

"वास्तव में ये अवतार भगवान् अथवा विष्णु के

न्यूनाधिक ईश्वरीय गुणों का आदर्श स्थापित करने के लिये ही हुआ करते हैं। यह उसके जागतिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। उसके उच्चतम आदर्शों को व्यक्तित्व के अनुसार प्रकट करते हैं। फिर भी इन्हें उसमें नित्यवतार की कोटि में रखा गया है और उसके 'गुणावतार' की कोटि में दूसरों की गणना की जाती है।"

(वैष्णव धर्म पृष्ठ ४८)

"परन्तु इस प्रकार की अवतार सम्बन्धी कल्पनाओं का बाहुल्य अधिकतर गुप्त स्थल से ही दीख पड़ता है। यों तो अवतारवाद, अपने बीज रूप में वैदिककाल से ही लक्षित होने लगा था और इसका क्रमिक विकास धीरे-धीरे होता गया था।"

(वैष्णव धर्म पृ० ५१)

वाक्यार्थ सम्पर्कता इनकी शैली की दूसरी विशेषता है। चतुर्वेदीजी की शैली में वाक् और अर्थ दोनों इस प्रकार परस्पर सम्पृक्त रहते हैं कि लेखक के भावों और विचारों को बड़ी ईमानदारी और संवेदना से अपनी भाषा में व्यक्त करते हैं।

प्रबुद्ध भाषा चतुर्वेदीजी की सहज बौद्धिक सम्पत्ति-सी जान पड़ती है। समस्त पदों का अभाव इसलिये रहता है कि वे जैसा सोचते हैं, वैसा कहते हैं और जैसा कहते हैं वैसा लिखते भी है। विचार प्रधान शैली होते हुए भी छोटे-छोटे वाक्य गम्भीर तथा विषय को सुगम-सुबोध बनाने में सक्षम हैं। वाक्य-रचना में भावना बंधी रहती है और कहीं-कहीं वाक्यों में अर्थ-परम्परा भी बँधी हुई पायी जाती है। प्रायः ऐसे वाक्य अधिकतर उपसंहारात्मक ही होते हैं जैसे—

"मेरे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि आज तक के आलोचकों ने उनकी रचनाओं का अध्ययन

व्यापक रूप में नहीं किया है। कुछ विद्वानों ने ऐसा अवश्य किया है, किन्तु इस दिशा में भी उन्होंने जिस मानदण्ड का उपयोग किया है वह अधिकतर भारतीय ही रहता आया है। जैसे—गोस्वामी तुलसीदास के काव्य की परीक्षा उन्होंने बहुधा उसे भारतीय साहित्यशास्त्र द्वारा अनुमोदित नियमों के अनुसार करली है और उनकी भक्ति की जाँच उन्होंने साधारण साम्प्रदायिक भक्ति-मार्ग के अनुकूल ठहरा कर उसकी उत्कृष्टता सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं।"

(भाषण तुलसी-महोत्सव पृ० ३)

चतुर्वेदीजी एक सफल एडवोकेट भी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी शैलीगत विशेषताओं में जगह-जगह वैधानिकता की छाप रहती है। भाषा संयत, सुभाषित और परिमार्जित होने के साथ ही उसका स्वरूप तर्क और प्रमाणों से आवद्ध रहता है।

चतुर्वेदीजी की समस्त आलोचना-कृतियों का अन्तःप्रकृति विश्लेषण करने पर मोटे तौर से उनमें निम्नांकित आलोचक के गुण बीज रूप से विद्यमान हैं।

१. आदर्श प्रियता
२. सगुणोपासना में श्रद्धा
३. मर्यादा प्रियता
४. व्यक्तिगत चारित्रिक योग्यता
५. समन्वय
६. लोकधर्म और मानवता
७. शिष्टवादिता

किसी लेखक की कृति की आलोचना करने से पूर्व चतुर्वेदीजी उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण अपने अन्तःसाक्ष्य के आधार पर करते हैं। यद्यपि वे सर्वोपरि 'मानव' की प्रतिष्ठा और उपासना करने के समर्थक हैं, फिर भी परम्पराओं, संस्कारिता और आदर्श से किसी न किसी रूप में आवद्ध भी रहते हैं।

साहित्यिक तपस्वी : परशुराम चतुर्वेदी

डा० भगीरथ मिश्र

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी को सबसे पहले मैंने कहाँ देखा, यह स्मरण नहीं और इसका कारण मुझे यही लगता है कि उनकी वेशभूषा, रूपरेखा आदि सभी बाह्य रूप इतना सामान्य है कि निरालाजी के व्यक्तित्व के समान कोई निराला प्रभाव उनके व्यक्तित्व का नहीं पड़ता। उनके बाह्य व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं—शुभ्रता, शुचिता, सरलता। अतएव आधुनिक लेखकों में वे निराला से नहीं वरन् गुप्तजी से अधिक साम्य रखते हैं। गुप्तजी बड़े विनोदी भी थे। अतः उनकी सरलता भी कभी-कभी डंक सा मार देती। चतुर्वेदीजी के सम्बन्ध का अभी तक मेरा कोई ऐसा अनुभव नहीं है कि जिसमें कोई तीखे व्यंग्य का भी प्रहार हो। वास्तव में वे पूर्ण सन्त हैं। सन्त-साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन करते-कराते वे मानो उसके प्रतीक से हो गए हैं और उनका दर्शन गोस्वामी तुलसीदासजी की पंक्ति को स्मृति पर सजग कर देता है—‘सन्त सरल चित जगत हित...’।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि ओलिवर गोल्डस्मिथ ने अपने युग की प्रसिद्ध साहित्यिक विभूति डा० जानसन के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए एक पंक्ति में लिखा था—

“नथिंग आफ दि बियर बट दि स्किन”—कि डा० जानसन का व्यक्तित्व देखने में ही भालू के समान है, परन्तु भालू की खाल के अतिरिक्त और उनमें कुछ भी उसका नहीं। गोल्डस्मिथ महोदय उनके बिल्कुल विपरीत। उनके साथी उनको नितान्त भोला, यहाँ तक कि आधा पागल सा समझते थे और संसार के चतुर व्यक्ति उनके साथ कुछ इसी दृष्टि से व्यवहार

करते थे। परन्तु सतत जागरूक गोल्डस्मिथ की चेतना पर ऐसे समस्त लोगों का चरित्र अंकित हो जाता था जिसके विवरण ने उन्हें अपने युग का एक विलक्षण हास्य लेखक बना दिया।

यह संकेत किसी समानता से प्रेरित होकर नहीं वरन् रोचकता के कारण दिया गया है। यहाँ मैं कहना यही चाहता हूँ कि किसी के बाह्य और अप्रचंड व्यक्तित्व से यह निष्कर्ष निकालना कि उसके साथ साधारणता का ही सम्पर्क है, बिल्कुल गलत है, भ्रामक है। प्रायः ऐसे लेखकों की चेतना अप्रकट रूप में संसार के विविध व्यक्तियों के चरित्रों का अध्ययन करती रहती है और अपने अनुभव और धारणाओं को दृढ़ या पूर्ण करती है। ये ही अन्तर्मुख चेतनाशील व्यक्ति प्रायः अनवरत रूप से लिखने वाले निकलते हैं। चतुर्वेदीजी को मैं इसी प्रकार अन्तर्मुख चेतनाशील सतत उद्योगी कर्मठ व्यक्ति के रूप में देखता हूँ।

स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़धवाल के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी पहले मेरी धारणा थी कि इस नाम का कोई भारी भरकम शरीर वाला लम्बा-चोड़ा व्यक्ति होगा। पर देखने पर इस नामधारी व्यक्ति की दुर्बल क्षीणकाया को देखकर बड़ी कठिनाई से विश्वास करना पड़ा। उन्हीं डाक्टर बड़धवाल की हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने में मैं संलग्न था। चतुर्वेदीजी को ही उसके रूपान्तर का पूरा श्रेय है। पत्र-व्यवहार से आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के नाम और लेख आदि से कोई बड़े लम्बे-चोड़े व्यक्तित्व की ही कल्पना मेरे मन में गड़ी हुई थी; पर मिलने पर परशुराम का (शेष पृष्ठ ४० पर)

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की साहित्य-साधना

• डा लक्ष्मीसागर वाष्णेंय

पिछले तीन-चार दशकों से आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की कीर्ति दिन पर दिन निखरती और दूर-दूर तक व्यापक होती गई है। सन्त साहित्य और मध्ययुगीन साहित्य के क्षेत्र में आपने जिस अथक परिश्रम और निःस्वार्थ तल्लीनता के साथ आलोचनात्मक और मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं उन पर आपकी प्रतिमा की अमिट छाप है और उनमें आपके व्यक्तित्व विशिष्ट का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

बलिया में एकान्त साहित्य साधना में लीन रहते हुए आचार्य परशुराम चतुर्वेदीजी ने हिन्दी भाषा और साहित्य को जो गौरव प्रदान किया है उससे राष्ट्र-भाषा उन्नति के शोध शिखर पर आरोहण करने में समर्थ हुई है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक लेखों के अतिरिक्त 'मीराबाई की पदावली' का संपादन करने वाले चतुर्वेदीजी के अन्य अनेक अनुपम कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं। नव निबन्ध (१९५१), उत्तरी भारत की सन्त परम्परा (१९५१), सूफी काव्य संग्रह (१९५१) मध्यकालीन प्रेम साधना (१९५२) हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह (१९५२) सन्तकाव्य (१९५२) मानस की रामकथा (१९५३) वैष्णव धर्म (१९५३), कबीर-साहित्य की परख (१९५४), मध्यकालीन शृङ्गारिक प्रवृत्तियाँ तथा भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ (१९५५) बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक (१९५६), दादूदयाल ग्रंथावली (१९६६) आदि रचनाओं से श्री परशुराम चतुर्वेदी की साहित्याभिरुचि की व्यापक परिधि और आपके

विशेषानुराग का परिचय प्राप्त होता है। इस साहित्य में आपकी अपरिसीम मननशीलता प्रकट होती है।

चतुर्वेदीजी के साहित्य से मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य सिद्ध, नाथ, सन्त तथा सूफी साहित्य की प्रवृत्तियों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। नव निबन्ध आपके समय समय पर लिखे गये पाण्डित्यपूर्ण निबन्धों का संग्रह है जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध हिन्दी के कतिपय शृंगारी कवियों से है और उनसे तुलनात्मक आलोचना का आदर्श प्रस्तुत होता है। लेखक ने शृंगार शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण कर अपनी मौलिकता प्रकट की है। आपकी दृष्टि कवियों की रचनाओं के ऐसे पक्षों की ओर गई है जिनके प्रति प्रायः किसी का ध्यान नहीं जाता। 'सूफी काव्य संग्रह' में कवि परिचय और मूल पाठ के अतिरिक्त भूमिका में सूफीमत की विवेचना और भारत में उस के इतिहास पर चतुर्वेदीजी ने महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। आपकी आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि के सहज दर्शन इस ग्रंथ की भूमिका में होते हैं। आलोचनात्मक दृष्टि कोण के साथ-साथ आलोच्य विषय के साथ पूर्ण सहानुभूति चतुर्वेदीजी की अपनी विशेषता है। 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' में आलवार भक्त कवियों, वाउलों की प्रेम साधना, मीराबाई की प्रेम साधना, हित हरिवंश, नन्ददास आदि के अध्ययन के माध्यम द्वारा आपका वैष्णव धर्म सम्बन्धी अध्ययन रुचि का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। पिटेपिटाये मार्ग का अवलम्बन ग्रहण न कर व्यापक दृष्टिकोण और मनो-वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के साथ आपने अपना अध्ययन आकर्षक बनाया है और चिन्तन को मानवीय धरा-

तल पर रखा है ।

वास्तव में साहित्यिक रचनाओं के माध्यम द्वारा चतुर्वेदीजी मानवीय प्रवृत्तियों का अपना विवेच्य विषय बनाते हैं । मध्ययुग में प्रेम उन्हीं प्रवृत्तियों के एक महत्वपूर्ण पक्ष का प्रतिनिधित्व करता था । उसका संकीर्ण अर्थ ग्रहण न कर चतुर्वेदीजी ने उसका वह रूप ग्रहण किया जिसकी अभिव्यक्ति, दर्शन, कला साहित्य संगीत आदि के माध्यम द्वारा होती है । 'हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह' शीर्षक सुन्दर ग्रंथ में हिन्दी के आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक के प्रेम-प्रवाह के अभिनव दर्शन प्राप्त होते हैं । ऐसा सांगोपांग अध्ययन तथा निरूपण इधर बहुत दिनों से देखने में नहीं आया । संत साहित्य के तो चतुर्वेदीजी मार्मिक पारखी हैं और अपने अध्ययन के फलस्वरूप संकलित सामग्री को 'सन्त-काव्य' शीर्षक संग्रह के माध्यम द्वारा प्रस्तुत कर आपने हिन्दी संसार का बड़ा भारी उपकार किया है । संत साहित्य के साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक आदि महत्त्वों से तो हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी परिचित ही हैं और उसका आज भी हमारे जीवन में क्या स्थान है, इससे वे अवगत हैं । आज भी वह हमारे जीवन में मानसिक गहवरो में प्रकाश पहुँचाता रहता है । ऐसे ही साहित्य का सारतत्त्व सन्त साहित्य मर्मज्ञ एवं अधिकारी विद्वान श्री परशुराम चतुर्वेदीजी द्वारा प्राप्त होना उसके महत्त्व को द्विगुणित कर देता है । 'मानस की राम कथा' में चतुर्वेदीजी के व्यापक अध्ययन और गहरी छान बीन के साथ निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं । इधर रामकथा के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले थे वे साधारण पाठकों को सुलभ नहीं हो पा रहे हैं । चतुर्वेदीजी ने अपनी प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम द्वारा यह शुभ कार्य सम्पन्न कर अपने को हिन्दी पाठकों की कृतज्ञता का पात्र बना लिया है । चतुर्वेदीजी का 'वैष्णव धर्म' शीर्षक ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के एक अन्यतम अभाव की पूर्ति करता है । भारतीय चिन्ताधारा की प्रमुख परम्परा के रूप में वैष्णव धर्म का प्रमुख स्थान रहा है । इस सम्बन्ध में

अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में अनेक सुन्दर ग्रन्थ मिलते हैं । हिन्दी में ऐसे ग्रन्थ का अभाव था । चतुर्वेदीजी ने वैष्णव धर्म का एक सुगठित और शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है और लगभग उसके सभी पक्षों पर विचार किया है । हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है । 'रहस्यवाद' के प्रकाशन द्वारा एक गम्भीर किन्तु उलझे विषय का पहली बार सुलभ और सुबोध रीति से विषय प्रतिपादन हुआ है ।

कबीर की चर्चा भी हिन्दी में आये दिन होती रहता है और कबीर साहित्य का अध्ययन भी अनेक दृष्टियों से हुआ है और हो रहा है । भारतीय सांस्कृतिक जीवन में कबीर का निस्सन्देह महत्वपूर्ण स्थान है । उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब कि दो विभिन्न संस्कृतियों का संघर्ष प्रारम्भ हो गया था और दोनों का समन्वय अवश्यम्भावी था । उस समय की सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति को संभालने, परखने और ठीक-ठीक मूल्य निर्धारित करने की अत्यन्त आवश्यकता थी । कबीर का महत्त्व केवल सामाजिक और धार्मिक दृष्टियों से ही नहीं, अपितु साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टियों से भी है । कबीर के इस सम्पूर्ण व्यक्तित्व का मूल्यांकन हिन्दी क्षेत्र में ही नहीं उससे बाहर भी विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति महापुरुषों द्वारा हुआ है । ऐसे ही अनेक अध्ययनों में से चतुर्वेदीजी कृत 'कबीर साहित्य की परख' एक महत्वपूर्ण अध्ययन है । विद्वान् लेखक ने सन्त काव्य की परम्परा, कबीर के सिद्धान्त और उनकी साधना, कबीर का समन्वयवाद, रहस्यवाद, प्रतीक योजना, छन्द योजना, रचना शैली, कबीर साहित्य और संगीत आदि विविध पक्षों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है । इसके नये संस्करण में 'कबीर और कबीरपन्थी साहित्य' का तुलनात्मक अध्ययन कर स्तुत्य कार्य किया है । 'मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ' में मध्यकालीन विविध शृंगारिक प्रवृत्तियों का दार्शनिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ विवेचन तथा मूल्याङ्कन किया है । 'भारतीय साहित्य

की सांस्कृतिक रेखाएँ' शीर्षक पुस्तक में चतुर्वेदीजी के १७ निबन्धों का संग्रह है जिनसे आपकी बहुज्ञता और व्यापक अध्ययन का परिचय प्राप्त होता है। अपने मध्यकालीन प्रिय विषयों—सन्त-साहित्य, प्रेमाख्यानक काव्य आदि से लेकर बौद्धधर्म तक के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। विद्वान् लेखक ने देश के पूर्वपरिचित आदर्शों का पुनर्मूल्याङ्कन किया है। इस पुस्तक में चतुर्वेदीजी की व्यापक दृष्टि, सामयिक सूक्ष्म, व्यावहारिक व्याख्या, वैज्ञानिक विवेचन आदि देखने योग्य हैं।

किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदीजी की सबसे अधिक महत्वपूर्ण पुस्तक 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' है। यही पुस्तक आपकी ख्याति को अमर बनाए रखने के लिए यथेष्ट है। जिस समय यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी उस समय हिन्दी-साहित्य के विद्वानों और विद्यार्थियों ने उसका मुक्तकण्ठ से स्वागत किया था। सन्त-साहित्य पर तो चतुर्वेदीजी पहले से ही कार्य करते आ रहे थे और समय-समय पर आपके लेखों तथा अन्य पुस्तकों द्वारा हिन्दी के पाठकों को आपके विचारों से परिचय प्राप्त होता रहता था। 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में अधिक वर्षों के अध्ययन का सार निहित है। डा० धीरेन्द्र वर्मा के मतानुसार "यह एक प्रकार से हिन्दी सन्त-परम्परा का 'विश्व-कोश' सा है। वास्तव में चतुर्वेदीजी का यह ग्रन्थ अपने विषय के सम्बन्ध में अद्वितीय है। वैसे तो ज्ञान के क्षेत्र में अन्तिम सीमा कोई अर्थ नहीं रखती, किन्तु सन्त-साहित्य के सम्बन्ध में अभी तक जितने ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक ग्रन्थ उपलब्ध हैं उन सब में प्रस्तुत पुस्तक सबसे अधिक ज्ञानवर्धक है। उसमें अनेकानेक अन्यत्र दुर्लभ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं और उनमें से अधिकांश प्रामाणिक हैं। सच बात तो यह है कि चतुर्वेदीजी की हिन्दी-साहित्य को यह नई देन है और उसमें आपकी ठोस साहित्य-साधना के दर्शन होते हैं। इसका नया संस्करण पहले से अधिक समृद्ध है। आपकी विचारकोटि की वैज्ञानिकता की सभी ने

सराहना की है। भारतीय साधना का प्रारम्भिक विकास, स्मार्त सम्प्रदाय, सहजयान सम्प्रदाय, श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदाय, नाथ सम्प्रदाय, सूफी सम्प्रदाय, आलवार सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय, कबीर पन्थ, नानक पन्थ, दादू पन्थ, निरंजनी सम्प्रदाय, बावरी पन्थ, सतनामी सम्प्रदाय, शिवनारायणी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, रामसनेही सम्प्रदाय, राधास्वामी सत्संग, महात्मा गांधी आदि के सम्बन्ध में चतुर्वेदीजी की यह पुस्तक हिन्दी में ही नहीं अन्योन्य भाषाओं में भी अद्वितीय है। वैज्ञानिक विचारप्रणाली और स्पष्ट तर्कप्रणाली की इस पुस्तक पर पूरी छाप है। आपने सन्त-सिद्धान्तों का भी भलीभाँति मन्थन किया है।

उपर्युक्त पंक्तियों से चतुर्वेदीजी की साधना और आधुनिक समय में आपकी हिन्दी-साहित्य को देन का कुछ-कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। चतुर्वेदी-साहित्य का उचित मूल्यांकन तो भविष्य ही करेगा और उसे चोटी की देन ठहरायेगा।

चतुर्वेदीजी के सम्पर्क में आने पर कोई भी आप से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। आप अत्यन्त सरल और निस्पृह स्वभाव के हैं। इस बात का पता उन्हें नहीं लग सकता जो उनके निकट सम्पर्क में कभी नहीं आए। आपके जीवन में साहित्य-सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पेशे से यद्यपि आप वकील हैं, किन्तु आपका मन और मस्तिष्क साहित्य-सागर में ही अवगाहन करता रहता है। साहित्य आपके जीवन का कर्तव्य बन गया है और उस कर्तव्य का पालन करना आपका धर्म। आपका हृदय अत्यन्त कोमल है। आप से मिलने पर नम्रता और ज्ञान-राशि का एक ही व्यक्तित्व में सम्मिश्रण हुआ मिलता है। 'विद्या ददाति विनयं' के आप साक्षात् प्रतीक हैं। साहित्यिक जीवन की भाँति आपका सामाजिक जीवन भी खरा और निर्मल है। आप बड़े ही सौम्य और मितभाषी हैं। आप स्वतन्त्र और अध्यवसायपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। लगन और तत्परता आपकी विशेषताएँ हैं। इसीलिए आप साहित्य-सेवा के व्रत से

कभी विचलित नहीं हो पाते। आधुनिक समय में बहुत से विद्वान् साहित्य में व्यवसाय करते हैं। चतुर्वेदीजी जनता की अधोभूमिका से लाभ उठाकर व्यवसाय करना जानते ही नहीं। साहित्य-सेवा ही आपका मुख्य लक्ष्य है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आप एक उज्ज्वल मणि के समान हैं। आपने अपने अनेक सांसारिक बोझों का भार वहन करते हुए भी साहित्य-सेवा से विमुखता ग्रहण नहीं की। वे बाहर से सीधे-साधे और अन्तरंग से एक गम्भीर चिन्तक हैं।

चतुर्वेदीजी के वृद्ध शरीर में युवा मस्तिष्क है और एक स्नेही हृदय है। आप में कभी तृप्त न होने वाले ज्ञान की पिपासा है। साथ ही अपने विचारों के प्रति आप में हठधर्मिता नहीं है। नए विचारों और नए ज्ञान का स्वागत करते हुए आपको कोई संकोच नहीं होता। समस्त नवीन बातों का आप इच्छापूर्ण स्वागत करते हैं। 'साहित्य-पथ' इसका प्रमाण है। चतुर्वेदीजी का जीवन साहित्य सेवियों को प्रोत्साहन प्रदान करता है। आपने अपने जीवन की जितनी षड़ियाँ साहित्य और समाज को दी हैं उतनी बहुत कम लोग दे पाते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आधुनिक समय तक हिन्दी साहित्य की उत्तरोत्तर उन्नति होती रही है। उसकी गति में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं हुआ। उसकी गति को गति प्रदान करने वालों में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का भी प्रमुख योग है। हिन्दी पाठकों के हृदय में आपने कितनी शीघ्र स्थान बना लिया है, यह तथ्य किसी भी साहित्य के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी है। उसकी गौरव और उसकी कीर्ति मौलिक और अनूदित दोनों ही प्रकार की पुस्तकों से है और यह हिन्दी के साहित्यिकों के अथक प्रयासों के फलस्वरूप ही हो सकेगा। इस समय उसका जो भी पक्ष सौरभ दिग्दग्ध में व्याप्त हो रहा है वह चतुर्वेदीजी जैसे साधकों की साधना का ही परिणाम है। आप जैसे सत्यान्वेषी और तत्त्वार्थी से हिन्दी आज शोभा सम्पन्न है। निस्सन्देह आपकी पुस्तकों से हिन्दी भाषा का वैभव बढ़ा है।

—अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

गर्भित टेक, देव कवि का प्रेम निरूपण, घनानन्द कवि का विरह वर्णन, भारतेन्दु काल की हिन्दी कविता में जातीयता, बोधा कवि की विरह वारीश, मानस की रामकथा, वैष्णवधर्म, सूफी काव्य-संग्रह, आदि लेख और ग्रंथ आपके बहुमुखी सर्वांगपूर्ण अध्ययन के द्योतक हैं। इसमें उनका अध्ययन और आलोचनात्मक दृष्टि-दोनों का ही परिचय मिल जाता है।

चतुर्वेदीजी एक जागरूक साहित्यकार हैं। साहित्य के क्षेत्र में परशुरामजी विकासवादी सिद्धान्त को मानते हैं। विकासवाद सिद्धान्त से आपका

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग का साहित्य उस युग की परिस्थितियों के अनुसार लिखा जाता है, और चूंकि ये परिस्थितियाँ सदैव विकासोन्मुख रहती हैं, अतः साहित्य का भी सतत् विकास होता जाता है। इस प्रकार आपके मतानुसार साहित्य मात्र का कभी ह्रास नहीं हुआ है। इसीलिए परशुरामजी कभी साहित्यिक अथवा सामाजिक रूढ़ियों से बँधकर नहीं रह सके हैं। यदि एक ओर उनकी प्राचीनता के प्रति श्रद्धा का भाव है तो दूसरी ओर नवीनता के प्रति उत्साह भी।

—हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

पं० परशुराम चतुर्वेदी

डा० हरदेव बाहरी

पण्डित परशुराम चतुर्वेदी मध्यकालीन हिन्दी काव्य के सुपरिचित शोधक तथा आलोचक हैं। उनकी प्रसिद्ध कृति मीराबाई की पदावली १९४१ में प्रकाशित हुई थी। इसके उपरान्त दस वर्ष का मौन रहा और किसी का ध्यान भी न रहा इस वयप्राप्त विद्वान की ओर। विगत वर्षों के बीच एक दो नहीं, एकाएक 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' जैसे महाग्रन्थ समेत एक दम कई पुस्तकें सामने आकर साहित्य-जगत् पर छा गईं और हिन्दी-सेवी चकित रह गये। इन वर्षों की इस देन का अर्थ हुआ हजारों पृष्ठ जिनमें कुछ सी पृष्ठ परिशिष्टों के सम्मिलित हैं।

तीन ग्रन्थ 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा', 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह', और 'वैष्णव धर्म' ऐतिहासिक तथा गवेषणात्मक हैं। इनमें प्रथम तो अनेकानेक उत्तर भारतीय सन्तमतों से सम्बन्धित एक प्रकार का 'विश्व-कोश' ही है। इसमें भक्ति-आन्दोलन की खोज वेदों तक की गई है। बौद्ध और जैन शास्त्रों के अतिरिक्त शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, रामानन्द, सूफियों आडवार, शैवों द्वारा स्थापित मतों से परे निगुण-भक्ति मतों में कबीर-पन्थ, सिख पन्थ, दादू पन्थ, बावरी पन्थ, मल्लूक पन्थ, बाबालाली पन्थ, घरणी-श्वरी पन्थ, शिवनारायणी पन्थ, चरनदासी पन्थ, रामसनेही पन्थ, राधास्वामी सत्संग आदि सभी मत-पन्थों का सम्यक् विवेचन किया गया है और उनके प्रमुख गुरुओं के जीवनचरित भी दिये गये हैं। रामानन्द से लेकर, इस ग्रन्थ के अन्तिम सन्त महात्मा गांधी तक सभी ज्ञात सन्तों के आदर्शों तथा सिद्धान्तों की इसमें खोजबीन की गई है।

प्रेम के रूप अनन्त हैं और प्रेमी-प्रेमिकाओं के भी। हिन्दी-साहित्य ने अपनी १२०० वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में प्रेम के सभी रूप-रंगों तथा सम्बन्धों का चित्रण किया गया है। पुत्र या पुत्री का मातृ-प्रेम, देशभक्त का देश-प्रेम, कवि या कलाकार का प्रकृति-प्रेम, मानवतावादी का मानव-प्रेम, प्रेमी और प्रेमिका का पारस्परिक प्रेम, भक्त की भगवद्भक्ति या भगवान की भक्तवत्सलता सभी कुछ का। यह सब कल्पना भी हो सकती है या हर दशा में भक्ति भी हो सकती है। अध्ययन की यह दिशा बड़ी रोचक तथा आकर्षक है और 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह' में चतुर्वेदीजी ने साहित्य के इस सुकोमल तथा महत्वपूर्ण विषय का विवेचन किया है। सारा अध्ययन सोदाहरण होने के साथ सरल किन्तु गम्भीर शैली से मण्डित है।

'वैष्णव धर्म' में उत्तर तथा दक्षिण भारत में प्रचलित वैष्णव मतों का ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक विवरण उपलब्ध है। शैली सारगर्भित तथा पाण्डित्यपूर्ण है। वैष्णव धर्म ने भारत की सम्पूर्ण संस्कृति को प्रभावित किया है और इस रूप में पुस्तक समस्त भारत की प्रादेशिक भाषाओं साहित्य-छात्रों के लिये उपादेय है।

सांस्कृतिक तथा साहित्यिक निबन्ध—चतुर्वेदीजी ने सांस्कृतिक तथा साहित्यिक विषयों पर प्रायः शताधिक निबन्ध लिखे हैं। जिनमें कुछ उनकी तीन पुस्तकों—नवनिबन्ध, मध्यकालीन प्रेम साधना, गार्हस्थ्य जीवन और ग्राम-सेवा आदि में संकलित हो चुके हैं। इनमें अन्तिम पुस्तक का साहित्यिक के बदले नैतिक और लौकिक मूल्य अधिक है। दूसरे संग्रह में

दस निबन्ध हैं और नामकरण अन्तिम निबन्ध के शीर्षक पर हुआ है। अन्य निबन्धों में वे नौ लेख हैं जिनमें दो सामान्य साहित्यिक विषयों पर हैं और शेष विभिन्न मध्यकालीन शृङ्गारिक कवियों पर। जैसे विद्यापति, आलम और शेख, बिहारी, देव, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, मीराबाई पर, एक-एक अडवारों, सहजियों, बाउल, जायसी, हितहरिवंश, नन्ददास और रसखान पर। नवनिबन्ध में निबन्धों का समावेश कालक्रमानुसारी है। स्थापना की मौलिकता और शैली इनकी विशेषता है।

‘मीराबाई की पदावली’, ‘सूफी काव्य-संग्रह’, ‘संत काव्य’ और ‘मानस की रामकथा’ सुसम्पादित तथा विवेकपूर्ण संकलन हैं तथा सतर्क टिप्पणियों से युक्त। क्रमशः ७२, ९५, १२९, तथा १६६ पृष्ठों के परिचयात्मक अध्यायों में समाविष्ट जीवनवृत्तात्मक, आलोचनात्मक तथा ऐतिहासिक सामग्री सम्पादक की गहन विद्वत्ता का द्योतक है।

सन्त-साहित्य पर अधिकार—वृत्ति से वकील श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखने-पढ़ने की कला शौकिया अर्जित की है। उनकी उपलब्धि अति महान् है। सन्त-साहित्य के वे अधिकारी विद्वान् हैं। हिन्दी-साहित्य के अध्ययन में उनकी देन

वस्तुतः बड़ी है। उनके ग्रन्थों में विवेचन का वह वैविध्य है जो एक साथ ऐतिहासिक, तुलनात्मक, परिचयात्मक और विषयानुसारी होने के साथ ही विश्लेषणात्मक, प्रगतिशील और वैज्ञानिक भी है। मुख्यतः साहित्यिक होते हुए भी ये दार्शनिक, ऐतिहासिक, जीवनी लेखक यहाँ तक कि भाषा-वैज्ञानिक को भी चिन्तन-सामग्री तथा ज्ञान प्रदान करते हैं। बाउल, सूफी, सत्त्वत, अडयार सन्त, कलन्दर, गोदा, अलवार, नानक, अगस्त्य, विदेह, सीता, कबीर, नीमा, गोसाई, रसखान, त्रिलोचन, प्रेम, साधना, काम, शृङ्गार, तथा बीसियों ऐसे शब्द हैं जो नया प्रकाश देते हैं। अपने सम्पादित ग्रन्थों में चतुर्वेदीजी सर्व परिशिष्ट में शब्दार्थ कोश दे देते हैं। जिसका शब्द-विपर्यय तथा शब्दकोशीय महत्व भी मध्यकालीन हिन्दी भाषा के अध्येता के लिए कम नहीं है। पारिभाषिक, पुराकथात्मक, जीवनवृत्तात्मक तथा भौगोलिक शब्दों का उनकी अपनी व्याख्या का एक विशेष महत्व है। उनके ग्रन्थ-सूची परिशिष्ट तत्सम्बन्धी भावी अध्येताओं तथा शोधकर्ताओं के लिये पथ प्रदर्शक होंगे।

—रीडर, हिन्दी-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

(पृष्ठ ३४ का शेषांश)

परशुत्व तो दूर रहा, कहीं भी किसी प्रकार के पुरुषत्व का (पुरुषत्व का नहीं) पूर्ण अभाव देखकर मैं तो चमत्कृत ही रह गया।

मैं इसे हिन्दी का गौरव ही समझता हूँ कि कुछ वकील, डाक्टर आदि अन्य प्रकार का जीवन मार्ग अपनाने वाले व्यक्तियों के द्वारा उसके भण्डार की पूर्ति हुई है।

‘उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा’ के साथ अध्ययन और अनुशीलन की जो एक नई परम्परा चतुर्वेदी जी ने डाली है वह आलोचना और अनुसन्धान की

दृष्टि से विलक्षण सामाजिक और सांस्कृतिक मूल रखती है। यह वास्तव में साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक इतिहास लिखने का सुन्दर प्रयास है।

चतुर्वेदीजी का ज्ञानभाण्डार अथाह है उसमें वे जितने भी रत्न, हमें उनकी उदारता से प्राप्त हो सकें वे सभी मूल्यवान् होंगे। उनकी एक निश्चित दृष्टि और सुनिश्चित दिशा है और उनकी कार्यप्रणाली भी प्रवाहित और अनवरत गतिशील है।

—अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

परशुराम चतुर्वेदी और उनका कार्य

● स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

आज का हिन्दी जगत् श्री परशुराम चतुर्वेदी को अपनी श्रद्धा तथा आदर प्रदान करता है। उन्होंने जीवन का अधिकांश एक विशेष प्रकार के लाभकर साहित्यिक कार्यों में व्यतीत किया है। आधुनिक हिन्दी संसार में चतुर्वेदीजी को कोमल व्यक्तित्व तथा मधुर स्वभाव वरदान स्वरूप प्राप्त है। उनका परिचय पाना और उन पर अपना समग्र स्नेहभाव वरसा देना, दोनों समानान्तरगामी हैं।

जिस 'सन्त-साहित्य' को उन्होंने अपना बना लिया है, वह भारतीय साहित्य-परम्परा का एक स्वर्णिम अध्याय है। मध्यकालीन भारतीय के धार्मिक पुनर्जागरण पर यह छाया हुआ है। अपने स्रष्टा सन्तों के समृद्धि जीवन-दर्शन से अनुप्राणित इस साहित्य ने एक बार मध्याह्न सूर्य के समान चमक कर जीवन को उस काल में जीने योग्य बना लिया जब मानव बुद्धि और आत्मा के निविड़ अन्धकार से आच्छादित हो गया था। इस महादेश के मध्यकालीन इतिहास की घड़ियों में राजनीतिक स्वाधीनता और सामाजिक उदारता से वंचित जनता एक घेराव के भीतर घुटन के साथ जीवन और अभिव्यक्ति के लिए तड़प रही थी। उसी समय कबीर, मीरा, तुलसीदास और सूरदास जैसे महान् सन्त अपने अपरिमित व्यक्तित्वों को लेकर उठ खड़े हुए और उन्होंने हमारे तत्कालीन जीवन के अनेक पक्षों को प्रकाशित कर दिया। उनके अन्तर में प्रस्फुटित किरणों ने वह दार्शनिक प्रकाश बिखेरा जिससे विशाल समाज के हर वर्ग को सहारा देकर बुझने से बचाया। न केवल उत्तर-भारत ने वरन् सारे देश ने एक साथ सन्तों द्वारा

प्रज्वलित दीपमालिका में समवेत योगदान किया— राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, असम आदि सर्वत्र के सन्त कवियों ने।

महामानव—उन महापुरुषों के असीम ऋण को हम भूल नहीं सकते जिन्होंने उच्चतम साहित्य का ऐसा भव्य भवन निर्मित करके और उससे भी परे जनमानस की परिकल्पना को जीवन के दार्शनिक मूल्यों के प्रति उन्मुख किया। सन्त और कवि की यही देन वास्तविक देन है। सन्त कवि अपने अन्तर की सनातन सत्यानुभूति से मण्डित पूर्ण वाणी बोलता है और अपनी भावना को अनोखे अधिकार के साथ शब्दों और छन्दों से उसे सँवारता है। यही कारण है कि सन्त वाणी में अधिक प्रतिरोधशीलता, स्थायित्व तथा शब्दों का व्यापक प्रभाव होता है।

असम के शंकरदेव, बंगाल के कृतिबास और चण्डीदास, उड़ीसा के जगन्नाथदास तथा शरददास, आन्ध्र के वेमन एवं पोतन्न, कर्णाटक के पुरन्दरदास और कनकदास, महाराष्ट्र के तुकाराम तथा रामदास, गुजरात के नरसी मेहता, राजस्थान की मीराबाई, सिन्ध के शाह लतीफ, सचल स्वामी एवं दलपत, कश्मीर की लल्लैश्वरी आदि के योग से समस्त उत्तर भारतीय प्रदेशों से प्रवाहित दिव्य मन्दाकिनी ने कबीर, तुलसी, सूर आदि के साथ समग्र देश को महती ज्ञानधारा में आप्लावित कर दिया।

ये नर-नारी माँ सरस्वती के वर प्राप्त भक्त या उपासक ही नहीं ये वरन् उससे भी महत्वपूर्ण की सत्य, सौन्दर्य, शान्ति और सामञ्जस्य के प्रति उनकी पत्नी अन्तर्दृष्टि। यह उन्हीं का काम था जो उन्होंने

एक ऐसे दर्शन का उद्घोष किया जिसमें जो उन्होंने सामाजिक न्याय, विश्वबन्धुत्व अनुशासित जीवन, मानव समाज तथा समय के प्रति शान्तिपूर्ण दृष्टिकोण समाहित थे।

महती परम्परा—हमारी सभी प्रादेशिक भाषाओं को इस परम्परा का गर्व है। यदि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा जाय तो इन मध्यकालीन सन्तों की वाणी में विचारों, आकांक्षाओं, आदर्शों, धार्मिक उद्देश्यों तथा शैली एवं अभिव्यंजना के पीछे एक अद्भुत अभिन्नता का सूत्र अनुस्यूत है। वस्तुतः हम आधुनिक युग के प्राणियों को अपने सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की प्रत्येक दिशा में सङ्घर्षों के सुलभाव के लिए उस साहित्य के सन्देशों की और अधिक आवश्यकता मान्य होती है।

जीवन के कई दशकों से पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने इस अमूल्य परम्पराओं को जैसे अपना बना लिया है। हमारे इस मध्यकालीन सन्त कवियों के अधरों से निःसृत इस स्वच्छ अमृत का उन्होंने खूब छक कर पान किया है। उनके बृहत्तम कार्य 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' से अनेक अध्ययन की गहराई एवं विस्तार, उनकी पैनी अन्तर्दृष्टि तथा सहानुभूतिपूर्ण सूक्ष्म-बुद्धि का पता चलता है जिसके कारण मध्यकालीन सन्त काव्य की व्याख्या देने तथा उत्तेजक सन्देश को पुनरुज्जीवित करने में समर्थ हुए।

एक कीर्ति-स्तम्भ—यह ग्रन्थ एक धीर-गम्भीर

अध्ययन का कीर्ति स्तम्भ ही है और जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है, ऐसा लगता है अपने ताने-बाने में उन्होंने कोई भी मूल्यवान कथ्य छोड़ा नहीं है। यह ऐसा और प्रमाणपुष्ट और तथ्यपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ है जिसमें भारतीय धार्मिक परम्पराओं, उनकी शाखा-प्रशाखाओं और सन्तों की व्यक्तिगत जीवन गाथाओं, उनकी साहित्यिक रचनाओं तथा सिद्धान्तों का समवेत समावेश है। स्मार्त, सहजिया, जैन, नाथ, सूफी, वैष्णव, शैव, भक्त इन सभी मत-मतान्तरों को इसमें अपना प्राण्य स्थान तथा उचित विवेचन उपलब्ध हुआ है और इनके उज्ज्वल वर्णनों में जयदेव, नामदेव, रामानन्द, कबीर, नानक, दादू आदि के वर्णन पाकर पाठक गद्गद हो उठता है। ग्रन्थ में तो सैकड़ों सन्तों के वर्णन आए हैं, सब नाम गिनाना तो यहाँ सम्भव नहीं।

यह महाग्रन्थ प्रायः कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। परन्तु एक काम पूरा करके चतुर्वेदीजी विश्राम लेने वाले तो नहीं। इसके तुरन्त बाद ही श्री चतुर्वेदीजी अपना एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य लेकर सामने आये—प्रारम्भ से आधुनिककाल व्यापी वैष्णव धर्म का आलोचनात्मक तथा ऐतिहासिक पर्यालोचना से सम्बन्धित। हिन्दी साहित्य के इतिहास की सरणि में यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण स्थान की पूर्ति करेगा। चतुर्वेदीजी ने अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिख कर तथा विभिन्न हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शताधिक-निबन्धों द्वारा भी हिन्दी-साहित्य को समृद्ध किया है।

साहित्य-सन्देश का मूल्य

साहित्य सन्देश का वार्षिक मूल्य आजकल

६) रुपए है। परन्तु अब भी कुछ सदस्य ५) रुपए

का मनीआर्डर भेज देते हैं। फलतः हमें पत्राचार करना

पड़ता है और ग्राहक को १) रुपया भेजने में व्यर्थ खर्च होता

है। अतः सभी सदस्य अब ६) भेजने की कृपा करें। तथा जिन्होंने

५) भेजे हैं वे स्वतः ही १) भेज दें जिससे उन्हें पूरे वर्ष का ग्राहक बना

लिया जाय।

—मैनेजर

सन्त की तुला पर परशुराम चतुर्वेदी

• डा० शिवनाथ

सत्यं तपो ज्ञानर्मा, सता च विद्वत्प्रणामं च
सुशीलता च ।
एतानि यो धारयत स विद्वान्न केवलं यः
पठत स विद्वान् ॥

अपने अग्रज तुल्य आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के ज्यों-ज्यों वैयक्तिक और सारस्वत सम्पर्क में आता गया, त्यों-त्यों उक्त श्लोक की सत्यता मुझ पर निखरती गई कि कोई पढ़ने मात्र से विद्वान नहीं होता; वास्तविक विद्वान वह है जो सत्य, तप, ज्ञान, अहिंसा, विद्वत्प्रणाम और सुशीलता को धारण करता है। विद्वान के ये गुण श्रीयुत परशुराम चतुर्वेदीजी में प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं और वे वास्तविक विद्वान हैं। अनुभव प्रमाणित करता है कि लोक में प्रधानतः दो प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। एक तो वे जिनका चरित्र दूर से बहुत ही आकर्षक जान पड़ता है, मगर ज्यों-ज्यों उनके चरित्र में पैठिए त्यों-त्यों उनके प्रति घृणा बढ़ती जाती है। दूसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जिनका रूपरंग बाह्य आकर्षण से रिक्त होता है, लेकिन क्रमशः उनके अधिक से अधिक नैकत्व की प्राप्ति उनके महत्व को बढ़ाकर हमारे मन को उनकी ओर अधिक से अधिक आकृष्ट करती जाती है। ऐसे लोग बाहर से आज की चका-चौंध प्रिय दुनिया के लिए बेकार, मगर भीतर मान-वता से लवालब भरे होते हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ऐसे ही व्यक्ति हैं।

व्यक्तित्व की संतई—इनके व्यक्तित्व की संतई के दर्शन मुझे पहली बार नागरी प्रचारिणी सभा की अर्धशताब्दि समारोह के अवसर पर हुए थे। 'मीरा-

बाई की पदावली' के लेखक ये ही हैं—यह जानकर बहुत ही बड़ी उत्सुकता का शमन हुआ था। इस ग्रन्थ के पूर्व मीरा के सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक ग्रन्थ नहीं था। इसके पश्चात् तो उनकी संतई का रूप मुझ पर क्रमशः निखरता गया। साहित्यकार, अर्थात् समाज का सांस्कृतिक नेता आज आदमियत पर दृष्टि न रखकर बाह्य सांसारिकता के पीछे जो दीढ़ धूप में लगा है वह इसी कारण कि उससे साहित्यकारगत संतई हटती जा रही है। इसलिए उसका धर्म साहित्य नहीं, टका हो रहा है। अतः इस संतई को हमें अपने में भरना है।

साहित्य और दर्शन के मान्य पण्डित—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी साहित्य और दर्शन के मान्य पंडित हैं। इनकी जो रचनाएँ अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं उनसे यह स्पष्ट है कि इनका प्रिय विषय भारतीय मध्ययुगीन साहित्य और दर्शन है और उनके भीतर बैठे संत ने अध्ययन, मनन, तथा विवेचन के लिए उक्त युग के प्रधानतः संत साहित्य को चुना है। भारत का मध्ययुगीन साहित्य भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं अथवा उसके विभिन्न सम्प्रदायों को लेकर चला है। कहना न होगा कि चतुर्वेदीजी की पैठ उक्त विभिन्न दार्शनिक शाखाओं में खूब गहरी है, जैसा कि इनकी रचनाओं से स्पष्ट है।

हिन्दी में संत साहित्य कुछ सीमित अर्थ में चलता है, अर्थात् निर्गुण संत साहित्य के अर्थ में जैसे, कबीर, दादू आदि का साहित्य। मगर सगुणोपासक कवियों का साहित्य संत साहित्य नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आचार्य परशुराम चतु-

वैदी ने सन्त साहित्य को इसी व्यापक अर्थ में लेकर कार्य किया है। इन्होंने शैव, वैष्णव, शाक्त, सूफी आदि सभी साहित्यों की विवेचना मध्ययुगीन सन्त साहित्य के अन्तर्गत की है। ऐसा करते हुए उक्त सभी सम्प्रदायों का मार्मिक विवेचन हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। सन्तमत एक विशेष प्रकार की जीवन-पद्धति है।

भारतीय मध्ययुगीन साहित्यकारों में से कम ही ऐसे हैं जो भारतीय आचारशास्त्र की कड़ी सीमाओं में अपने को बाँध कर चले हैं। प्रायः सन्त साहित्यकारों ने समाज तथा सामान्य जन को दृष्टि में रखकर उदार आचार्यशास्त्र का ग्रहण और समर्थन किया है। उनकी दृष्टि मानवता पर सर्वत्र है। वे किसी भी बंधे-बंधाये आचारशास्त्र को आदमियत के ऊपर निछावर करने को सदैव और सर्वत्र उद्यत रहे हैं। ऐसे मानवतावादी और उदार साहित्यकारों को अपने अध्ययन मनन तथा विवेचन का प्रमुख क्षेत्र बनाना यह प्रमाणित करता है कि आचार्य परशुराम चतुर्वेदी की दृष्टि सर्वत्र और मानवता तथा आद-

मियत पर रहती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि ये उदार आचारशास्त्र के समर्थक हैं। इससे यह भी साफ है कि ये भी असली और व्यापक अर्थों में सन्त हैं।

हिन्दी में इधर मध्ययुगीन साहित्य पर काफी काम हुआ है। इस क्षेत्र में जितना काम हुआ है उसमें आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का काम अधिक व्यापक और प्रामाणिक है। इन्होंने मध्ययुगीन साहित्य की उक्त युग के सन्तों की चिन्तन और दर्शन के व्यापक परिप्रेक्ष में रखकर विश्लेषण किया है। किसी पूर्वाग्रह के वशीभूत होकर ये इस साहित्य के विवेचन की ओर नहीं बढ़े हैं। इस प्रकार समीक्षागत न्याय इन्होंने अपने समक्ष साहित्य के प्रति अन्याय कैसे कर सकता है, सन्त होने के कारण वह सन्त को पहचानता जो है—

‘विद्वानेव विजानाति विद्वज्जन परिश्रमम्’
(कुवलयानन्दः)

—हिन्दी भवन, शान्ति-निकेतन, प० बंगाल।

(पृष्ठ ४६ का शेषांश)

उपस्थित किया है। उनके अन्य ग्रन्थ भी कम महत्व के नहीं हैं। यद्यपि उपर्युक्त उनमें अन्यतम हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न शोध ग्रन्थों आदि पर लिखी उनकी अनेक विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ भी हैं।

बहुतों को शायद यह विदित न हो कि पण्डितजी बलिया में वकालत करते हैं। ऐसा विद्याव्यसन और पाण्डित्यपूर्ण शोधकार्य कानूनी पेशे के साथ शायद

अटपटा मालूम हो, परन्तु खोजना और फिर उसका मूल्यांकन करना सर्वथा उनके पेशे के अनुरूप है।

भारत विशेषतः इस प्रकार की विद्वत्ता में समृद्ध रहा है। हमारे समक्ष बंध जायसवाल और कारो के नाम उदाहरण हेतु प्रत्यक्ष ही हैं जिन्होंने वकालत करते हुए शोधकार्य को अग्रसर रखा।

—महानगर, लखनऊ।

एक महान सर्जक समालोचक

• डा० भगवतशरण उपाध्याय

किसी बड़े नगर की चमक-दमक या किसी रंगे-पुते विश्वविद्यालय की गरिमा से दूर पूर्वी उत्तर-प्रदेश की एक नगरी में धूलिधूसरित हस्तलेखों के अम्बार के बीच बैठा एक विद्वान दीमक दंशित, किन्तु युग-युग से अपने में अपार पुरातन ज्ञानराशि को समेटे दुर्लभ तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थराशि को उलटा-पलटा करता है। हस्तलेखों के मिलान, कटे-फटे स्थलों के सम्भाव्य पाठों द्वारा उद्धार से उस खोए हुए अतीत ज्ञान की उपलब्धि के लिए धुँधली पंक्तियों पर दृष्टि दौड़ाते हुए, मानस-पटल पर उनका कूड़ा-कंकट साफ करते हुए थकान से चूर वे इन विखरे ज्ञान-कणों का अनुसन्धान करते हैं जो अतीत में बहु-मूल्य होकर भी आज पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा करते हैं। ये हैं पण्डित परशुराम चतुर्वेदी जो मात्र तथ्य संग्रह को अपना पुरस्कार मानते हैं।

उनके विशाल उन्नत ललाट और भृकुटियों के नीचे दो स्नेहपूर्ण नेत्र, सुरूप नासिका, घनी लम्बी नुकीली मूँछें, यह है उनका रूप, नासिका के अनुरूप छोटी ठुड़ी, उज्ज्वल केशराशि को ढँकती हुई सफेद गांधी टोपी ये सब उनके स्वरूप की भव्यता प्रदान करते हैं। वेश में कोई अनोखापन तो नहीं है, पर कुछ है उनमें आकर्षित करने वाला।

सर्वोच्च गुण—उनकी आकृति की यह सहज सामान्यता उनके व्यक्तित्व (या चरित्र) का अपनापन है। सामान्य स्तर से उच्च शिखर पर उठते हुए अपने विशुद्ध अध्ययन को अपनी लगन तथा अध्यवसाय से उन्होंने बरबस सबका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। वस्तुतः यह उनका प्रायः विरल और

सर्वोच्च गुण है, जब कि आज के युग में मौन साधना एक अमान्य गुण माना जाता है और तुमुल उद्बोध के द्वारा ही आगे बढ़ना सम्भव होता है। चार दशकों की मौन साधना ने उन्हें हिन्दी-सेवियों के मध्य देदीप्यमान आसन प्रदान किया है।

दशकों का खोज कार्य—उनका बहुतेरा कार्य प्रायः १९५१ और १९५३ के बीच प्रकाश में आया है। यद्यपि हमारी साहित्यिक तथा शोध-पत्रिकाओं के माध्यम से उनका योगदान चार दशकों की कालावधि में निरन्तर परिव्याप्त है किन्तु उनके संकलन-ग्रन्थ अब सामने आए हैं। इसका एक उचित कारण यह है कि वर्षों तक चले जाने वाले इस शोध कार्य की उपलब्धियों और तर्क-सम्मत निष्कर्षों का स्थायी महत्व है। इस प्रकार श्रमसाध्य अध्ययन से प्रकाश की जो किरणें क्रमशः पकड़ में आती हैं वे चकाचौंध में विलीन नहीं होने पाती। पण्डितजी के उद्योग से उनकी उपलब्धियाँ इस प्रकार मुद्रणपूर्व तर्कपुष्ट होकर समन्वित रूप में बन सकी हैं। यही मुख्य कारण है उनके विप्लव से प्रकाशित होने का।

सर्जक समालोचक—प्रमुख समालोचकों में वे अन्यतम हैं। वस्तुतः 'समालोचक' उपयुक्त शब्द नहीं है क्योंकि यह संयोग से 'ऐसे' का बोधक है जिसके स्वयं के पैर न हों और वह दौड़ना सिखाता हो। यहाँ उपयुक्त शब्द के अभाव में ही इसका प्रयोग किया गया है, वे सर्जक समालोचक हैं। परिणामतः उनके कार्य का इतना ही महत्व है जितना उस ज्ञान का जिसे वे प्रकाश में लाए हैं। उनकी शैली अध्ययन के

भार से बोझिल है। ज्ञानोद्धार के क्रम में वे जो कुछ प्रकाश में लाए हैं वह प्रचुर है और वे भी प्रचुर सामग्री हैं जिन पर छानबीन की अपेक्षा है जिससे उन तथ्यों को बहन कर सकें।

सन्तों की ज्ञानराशि—प्राचीन सन्तों के अपार ज्ञान में गति या सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त लोग कम ही हैं और उनसे भी कम हैं वे जो उसका वास्तविक मूल्यांकन कर सकें। इस दिशा में चतुर्वेदीजी की सरणि परिमाण में विशाल है और किसी निष्कर्ष पर अंगुल्यानिर्देश करने वाले को गहरा गोता देने में समर्थ है। मध्यकालीन सन्तों का जीवन और कृतित्व उनका विशेष प्रिय विषय रहा है। उनका दर्शन और कथन उनके सत्य का स्वरूप, उनकी अभिव्यंजना, उनकी वाणी, उनकी ठेठ भाषा और शैली, उनकी अतिगूढ़ शब्दावली—सब मिलकर उससे अनभिज्ञ जन को रहस्यपूर्ण अर्थ देते हैं।

इन अभिव्यंजनाओं की गहराई में गोता लगाने के लिये न केवल समालोचक की पंनी अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा है, बल्कि यह आवश्यक है कि सुदीर्घ और अप्रकट परम्परा का उसे ठोस ज्ञान हो, उनकी विशुद्ध और उलझी हुई गुरु-शिष्य परम्परा का, उनकी साधना और क्रिया कर्मकाण्ड से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली का भी। वस्तुतः शोध के इस उलझे और कठिन मार्ग का जितना ही ज्ञान बढ़ता जाता है उतना ही अधिक इस निष्ठावान विद्वान के अथक परिश्रम का लोहा मानना पड़ता है।

रहस्यवादी वाङ्मय में बहुतेरों ने कार्य किया है और उसकी अटवी में दिशा-लाभ भी किया है। स्वयं हिन्दी में भी इस दिशा में कार्य करने वालों का अभाव नहीं है परन्तु विषय का वास्तविक ज्ञान, पठनीय शैली में कठिन विषय का उपस्थापन और उसके निर्माताओं के जीवनवृत्त आदि का अभी तक अभाव-सा रहा है। यह कहना तो अर्थहीन ही होगा कि चतुर्वेदीजी के निष्कर्ष सर्वथा निर्दोष हैं अथवा उनकी उपलब्धियाँ सदा अक्राव्य हैं, परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने अति गहन प्रवेश में

अपना स्वतन्त्र मार्ग बनाया है।

परिनिष्ठित कार्य—उनका ठोस और परिनिष्ठित ग्रन्थ 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' अपने आप में एक उदाहरण है। सामग्री की अनोखी प्रचुरता, अध्ययन का अनोखा धैर्य, अनोखी छानबीन, बड़े और छोटे सन्त, उनका साहित्य, उनकी करनी-कथनी, उनके अग्रणीत यत् और पन्थ सभी का इस विश्व-कोष कोटि के ग्रन्थ में सम्यक् विवेचन हुआ है। प्रायः जहाँ सामग्री की प्रचुरता होती है वहाँ विश्लेषण शिथिल पड़ जाता है। परन्तु यहाँ कहना पड़ेगा कि समर्थ शोधकर्ता ने दोनों के बीच सन्तुलन बनाये रखा है।

सन्तों की जीवनियाँ उनकी अभिव्यंजना की तथा व्यंग्य-विनोद को रूपायित करती हैं और इन दोनों का विश्लेषण सत्य का उद्घाटन करता है। रहस्य की अनेक ग्रन्थियों का सुलभाव इस ग्रन्थ में है और गूढ़ सिद्धान्त, दुर्बोध क्रम तथा साधन इस ग्रन्थ में सरलता से हृदयंगम होते हैं।

मध्यकालीन सन्त तो फिर भी सरलता से समझ में आते हैं, किन्तु आरम्भिक महायानी, मन्त्रयानी, वज्रयानी, सहजयानी, तांत्रिक आदि अन्यान्य अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रायः बड़ी उलझनें उपस्थित कर देते हैं उन्हें समझ पाना बड़ा कठिन हो जाता है।

पण्डितजी के लिये यह विशुद्ध और गौरव का विषय है कि वे इन मतों के धूमिल क्षेत्र में प्रविष्ट होकर इन मतों की निगूढ़ गुह्यता का भेदन कर सके हैं। क्यों और कैसे इन सन्तों का उदय हुआ और स्मृतियों के मूल आधार पर ही जैसे प्रतिशोध के रूप में उन्होंने आघात किया, जो कुछ पापपूर्ण या घृणित समझा जाता था उसे ही उन्होंने प्रशस्त कहा। यह सब वस्तुतः आनुसंगिक अध्ययन का विषय है। यह मात्र विवेचन विषय नहीं है वरन् ऐसे शोध का क्षेत्र है जहाँ इतिहास और समाजशास्त्र का सम्मिलित प्रयास अपेक्षित है।

श्रमसाध्य शोध कार्य—पण्डित परशुराम चतुर्वेदी उनमें मूर्द्धन्य है जिन्होंने श्रमसाध्य शोध का आदर्श (शेष पृष्ठ ४४ पर)

पण्डित परशुराम चतुर्वेदी : जीवन और कृतित्व

• श्री राजेन्द्रासह गोड़

बलिया नगर से पूर्व दिशा की ओर लगभग १० मील दूर जवहीं एक ग्राम है। यह ग्राम पतितपावनी गङ्गा के किनारे बसा हुआ है। इसी गाँव के एक ब्राह्मण-परिवार में २५ जुलाई, सन् १८९४ को परशुराम चतुर्वेदी का जन्म हुआ था। उनके पिता पण्डित रामछवीले चतुर्वेदी की आस-पास अच्छी ख्याति थी और उनका परिवार अत्यन्त सुसम्पन्न एवं प्रभावशाली समझा जाता था। ऐसे परिवार में बालक परशुराम की जैसी शिक्षा होनी चाहिए थी, नहीं हो सकी। आरम्भ में उनकी शिक्षा महाजनी-पद्धति पर हुई और संस्कृत का भी अभ्यास कराया गया। उसी समय से संस्कृत की ओर उनकी विशेष अभिरुचि हो गई। हिन्दी की शिक्षा कक्षा २ तक ही मिली।

बालक परशुराम प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी थे। पढ़ने-लिखने में उनका बहुत जी लगता था। उस समय उनके मामा श्री शिवशंकर चौबे बस्ती के कोत-वाल थे। एक दिन वह अपनी बहिन से भेंट करने जवहीं आये और बालक परशुराम की पढ़ाई-लिखाई से प्रभावित होकर उन्होंने उसे बलिया नगर के अंग्रेजी विद्यालय में भेजने के लिए अपने बहनोई से आग्रह किया। इस आग्रह को वे टाल न सके। उन दिनों परशुरामजी के चचेरे नाना पण्डित यशोदानन्द चौबे गवर्नमेंट स्कूल, बलिया में अध्यापक थे और उसी स्कूल के छात्रावास के निरीक्षक भी थे। उन्हीं के अभिभावकत्व में बालक परशुराम की शिक्षा का सूपपात हुआ।

सन् १९११ ई० में 'वन्देमातरम्-आन्दोलन' का

आरम्भ हुआ। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक इस आन्दोलन की लहर दौड़ गई। तत्कालीन छात्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और बालक परशुराम भी इसकी लपेट में आ गये। उन्होंने इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया जिसका फल यह हुआ कि उन्हें स्कूल तथा छात्रावास से निकाल दिया गया। इससे उनकी शिक्षा में बाधा अवश्य उपस्थित हुई, पर उन के नाना ने अधिकारियों से कह-सुनकर उन्हें स्कूल में पुनः प्रविष्ट करा दिया और तब से सन् १९१४ ई० तक वह बराबर एकाग्र चित्त होकर, विद्याध्ययन करते रहे।

सन् १९१४ ई० में स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट की परीक्षा पास करने के पश्चात् परशुरामजी उच्च शिक्षा के लिए प्रयाग चले गये। यहाँ उन्होंने कायस्थ पाठशाला में नाम लिखाया और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, श्री रामचन्द्र टण्डन, श्री ललिता प्रसाद सुकुल, पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र, कविवर सुमित्रानन्दन पन्त, डा० हीरालाल जैन, श्री दुलारे-लाल भार्गव आदि साहित्यकार उनके समकालीन छात्र थे। परशुरामजी की उनसे घनिष्ठ मित्रता थी। ऐसी मित्र-मण्डली से ही उन्हें आरम्भ साहित्य सृजन का प्रोत्साहन मिला। इसी मित्र-मण्डली के कतिपय सदस्यों ने प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन सेंट्रल कालेज में हिन्दी परिषद् की स्थापना की। परशुराम जी इस परिषद् के मन्त्री निर्वाचित हुए।

इण्टमीडिएट के उपरान्त सन् १९१६ में बी०ए० की परीक्षा भी उन्होंने प्रयाग से ही दी। इसी बीच

उनके एक परममित्र का निधन हो गया। इस निधन का उनके कोमल हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह जीवन और मृत्यु के मूल-स्वरूप को समझने के लिए आकुल हो उठे। ऐसी दशा में उनकी विचार-धारा स्वभावतः दर्शन की ओर झुकी। बी० ए० पास करने के पश्चात् दर्शन शास्त्र का अध्ययन करने के लिए वह काशी गये और वहाँ के हिन्दू कालेज में दर्शन का अध्ययन करने लगे। उन्होंने अपने एम० ए० के लिए विषय ही लिया। उस समय प्रो० अधिकारी दर्शन विभाग के अध्यक्ष तथा श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी अध्यापक थे। अनुकूल बाबू परशुरामजी को पुत्रवत् मानते थे।

काशी हिन्दू कालेज से सन् १९२२ ई० में एम० ए० पास करने के पश्चात् परशुरामजी प्रयाग चले गये। यहाँ आने पर उन्होंने अपने पिता के कहने से कानून का अध्ययन आरम्भ किया और एल-एल० बी० की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् वह वलिया चले गये और वहाँ सन् १९२५ में उन्होंने वकालत प्रारम्भ की। वकालत प्रारम्भ करने के थोड़े ही दिनों बाद उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। वह अब भी वकील हैं पर उनके व्यक्तित्व में वकालत की तराश-खराश नहीं है। साहित्य-प्रेम से उन्हें इस जीविका का और साहित्य उनकी साधना का क्षेत्र है। दोनों के सुन्दर समन्वय में ही उनका जीवन समझा और परखा जा सकता है।

उनका सार्वजनिक जीवन भी सफल रहा है। वह अपने जिले के ग्रान्दरेरी मजिस्ट्रेट, ग्राम सुधार बोर्ड के अध्यक्ष और कई वर्षों तक जिला बोर्ड के सदस्य रह चुके हैं। इन पदों से उन्होंने जनता की प्रशंसनीय सेवा की है। वह उत्तर प्रदेशीय हिन्दुस्तानी एकेडमी की कौंसिल के सदस्य थे। अभी हाल ही में नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से आठ भागों में हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास तैयार करने की योजना बनी है। उसके चौथे खण्ड के सम्पादन का दायित्व चतुर्वेदीजी को सौंपा गया है।

चतुर्वेदीजी अध्ययनशील साहित्यकार हैं। उनकी

अध्ययनशीलता ने उन्हें जीवन के कृत्रिम बनाव-शृङ्गार से मुक्त कर दिया है। वह अपनी रहन-सहन में अत्यन्त सरल, स्वभाव में अत्यन्त संवेदनशील तथा अध्ययन में मनीषी हैं। परिवार में रहते हुए और उनकी समस्याओं से उलझते हुए भी वह कब और कैसे अध्ययन करते हैं—यह रहस्य का विषय है। इस समय वह जीवित चार पुत्र और चार कन्याओं के पिता हैं। उनका प्रथम विवाह सन् १९०५ ई० में हुआ था। उस समय वह १०-११ वर्ष के थे। पहली पत्नी की मृत्यु हो जाने के पश्चात् सन् १९१२ में उनका द्वितीय विवाह हुआ। इसी विवाह से उनकी सन्तानें हुईं। उनके परिवार में एक छोटा भाई और दो बहनें भी जीवित हैं।

सम्पादित एवं मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने कई पुस्तकों की भूमिकाएँ भी लिखी हैं, जो गम्भीर अध्ययन का पता देती हैं। डॉ० बड़वाल की 'दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोइट्री' की जो भूमिका उन्होंने लिखी है उससे उनकी अध्ययनशीलता और उनके पांडित्य का परिचय मिलता है। चतुर्वेदीजी ने अनुवाद करने में भी सफलता प्राप्त की है। 'ऐसेज आफ इमर्सन' तथा 'आर्ट एण्ड स्वदेशी' के अनुवाद हिन्दी के अनूदित साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान हैं।

इन अप्रकाशित अनुवादों को पढ़ने से मौलिक रचनाओं का सा आनन्द मिलता है। जहाँ तक हो सका है चतुर्वेदीजी ने लेखक की आत्मा की सर्वत्र रक्षा की है। 'कवीर कोश' और 'भोजपुरी शब्द-कोश' चतुर्वेदीजी की अपूर्ण रचनाएँ हैं। इन दोनों कोशों के प्रकाशन से हिन्दी-साहित्य का कितना उपकार होगा इसके कहने की आवश्यकता नहीं।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने चतुर्वेदीजी की जिव रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया है उनसे उनकी विचारधारा, उनकी साहित्यिक क्षमता और उनकी प्रतिभा का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। हिन्दी के के वह मौन साधक हैं। उन्होंने अब तक हिन्दी साहित्य को जो कुछ दिया है वह उनके गम्भीर अध्ययन और चिन्तन का फल है। साहित्य-निर्माण में

उनकी अपनी स्वतन्त्र विचारधारा है। वह जितना पढ़ते हैं, चितना अध्ययन करते हैं, उसे पचाकर अपने हाड़-मांस का अंश बना लेते हैं। वह धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक तीनों एक साथ हैं।

उनके व्यक्तित्व में इन तीनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। सुकरात, शंकराचार्य तथा स्वामी रामतीर्थ के धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की जहाँ उनके हृदय पर छाप है जहाँ उन्होंने रानाड़े, गोखले और चन्द्रावरकर आदि विचारकों के सामाजिक दर्शन से भी बहुत कुछ सीखा है। इसी प्रकार उनकी विचारधारा को प्रभावित करने में दक्षिणात्य विद्वानों का भी विशेष हाथ रहा है। पर इन समस्त प्रभावों के होते हुए भी उनका व्यक्तित्व अछूता है। वह अपनी विचारधारा के स्वयं निर्माता हैं और अनुभूतिपरक स्वतन्त्र विचार-पद्धति के समर्थक हैं। ज्ञान और चिन्तन के क्षेत्र में सम्प्रदायवाद उनके निकट अत्यन्त हेय है।

साहित्य के क्षेत्र में वह विकासवादी सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक युग का साहित्य उस युग की परिस्थितियों के अनुसार लिखा जाता है और चूँकि परिस्थितियाँ सदैव विकासोन्मुखी रहती हैं। अतएव साहित्य का भी सतत विकास होता जाता है। यही कारण है कि चतुर्वेदीजी अपनी साहित्य-साधना में साहित्यिक अथवा सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त रहे हैं। उनमें जहाँ एक ओर प्राचीनता के प्रति श्रद्धा का भाव है, वहाँ नवीनता के प्रति उत्साह, आकर्षण और लालसा। देश की वर्तमान राजनीति में भी उनकी दिलचस्पी रही है। इन्होंने खुलकर कभी किसी आन्दोलन में भाग नहीं लिया, पर भिन्न-भिन्न प्रकार की राजनीतिक विचारधाराओं का उनके मन, मस्तिष्क और साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। राजनीतिक विचारों में वह लोकमान्य तिलक से अधिक प्रभावित रहे हैं।

हिन्दी के वर्तमान आलोचकों में चतुर्वेदीजी का प्रमुख स्थान है। उनके साहित्यिक जीवन का प्रादुर्भाव उस समय से होता है जब वह केवल ११ वर्ष

के थे। अपनी इस छोटी अवस्था में उन्होंने एक दोहा लिखा था जो इस प्रकार है :—

बड़का बर के पास ही, राम बिरिछ का खण्ड ।

वहाँ अखाड़े में लड़ें, और करें हम दण्ड ॥

बलिया से प्रयाग आने पर उनकी काव्य-प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ। वह राष्ट्रीय आन्दोलनों का युग था। देश अपनी दासता की शृङ्खला तोड़कर स्वतन्त्र होने के लिए छटपटा रहा था। विद्यार्थियों में अपूर्व उत्साह और चेतना थी। ऐसे वातावरण में चतुर्वेदीजी का बालहृदय काव्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ और उन्होंने राष्ट्रीय कविताएँ लिखना आरम्भ किया। उस समय उनकी रचनाएँ 'प्रताप', 'कन्या मनोरञ्जन', 'कवि कीमुदी', 'मर्यादा' आदि पत्रों में प्रकाशित होती थीं। चतुर्वेदी के साहित्यिक जीवन में गद्य का आविर्भाव अपेक्षाकृत बाद में हुआ। आरम्भ में उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन और नीति सम्बन्धी कुछ लेख लिखे जो 'त्याग भूमि' और 'विकास' में प्रकाशित होते रहे। इन्हीं प्रारम्भिक लेखों का संकलन 'गार्हस्थ्य जीवन और ग्राम सेवा' में किया गया है। इन निबन्धों के पश्चात् उनके अध्ययन और लेखन में एक निश्चित क्रम और विकास दिखाई देता है। उनके गम्भीर अध्ययन का सूत्रपात हिन्दी के शृङ्गारिक काव्य से होता है। इस दिशा में उनके अध्ययन का फल उनकी रचना 'नव निबन्ध' में मिलता है। इसी प्रकार प्रेम-काव्य का विशेष अध्ययन 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह' तथा 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' के रूपों में दिखायी देता है। इन दोनों पुस्तकों में हिन्दी जगत को उनकी आलोचनात्मक रचि और उनकी मननशीलता का अच्छा परिचय मिलता है।

चतुर्वेदीजी के साहित्यिक जीवन का तीसरा रूप उनके वर्तमान साहित्य में देखा जा सकता है। शृङ्गार का विकास प्रेम में, और प्रेम का पर्यवसान भक्ति में होता है। इसी स्वाभाविक क्रम के अनुसार उनकी पुस्तक 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' उनके अध्ययन का प्रतीक है। हिन्दी-जगत् में इस पुस्तक द्वारा उन्हें अच्छा यश मिला है। यह अपने ढङ्ग की अनूठी पुस्तक है। सन्त-साहित्य, सन्त-मत और सन्त सिद्धान्तों की जैसी छानबीन उन्होंने की है वंसी उनके पूर्व कोई नहीं कर सका है।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : एक जीवन भाँकी

● डा० भोलानाथ तिवारी

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का जन्म सं० १९५१ श्रावण कृष्ण बुधवार को बलिया जिले के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में 'जबहीं' गाँव में हुआ था। यह वही जबहीं गाँव है जिसके बारे में बलिया में प्रसिद्ध है—

माथे पगरी कान्हे लट्ट।

तब देख जबहीं का ठट्ट ॥

चतुर्वेदीजी के पिता रामछबीले चतुर्वेदी बड़े वीरोचित स्वभाव के व्यक्ति थे। माता बड़ी सरल और स्मार्तभक्त थीं जिनके लिए ढेला से लेकर पर्वत तक की उपासना धर्म के अन्तर्गत हैं। आपके परिवार के इष्टदेव हनुमान और शिव रहे हैं पर अब अन्य हिन्दू घरों की भाँति यहाँ भी सभी पूज्य और आराध्य हैं।

शिक्षा—चतुर्वेदीजी की शिक्षा गुरुजी के पाठ^२ पर आरम्भ हुई। वहाँ आप पाँचवें वर्ष से आरम्भ कर सातवें तक पढ़ते रहे। इस शिक्षा का सम्बन्ध कैथी-लिपि तथा उसकी वरतावना, पहाड़ा, सर्वेया, ब्योड़ा, अंगुठा, ढंगुचा और विटगरहा आदि से था।

^१ 'जबहीं' गाँव के नाम का सम्बन्ध कुछ लोग भृगु-पुत्र च्यवन महर्षि के नाम पर रखे गए च्यवन ही से बतलाते हैं और कुछ लोग वहाँ जब अन्न अधिक होने के आधार पर पास के सपहीं (जहाँ साँप अधिक हों) आदि गाँवों की भाँति गाँव का यह नाम सार्थक बतलाते हैं।

^२ पुरानी महाजनी-परम्परा की शिक्षा जहाँ लिखना भूमि की पाटी पर आरम्भ होता है।

बाद में आप पास के राजपुर गाँव के प्राइमरी स्कूल में भर्ती हुए और १९०५ के फरवरी महीने तक पढ़ते रहे। उन दिनों आप कक्षा दो के विद्यार्थी थे। उसी वर्ष विवाह होने के कारण आपकी पढ़ाई स्थगित हो गई, पर फिर बाद में आपके पिता ने धार्मिक शिक्षा के लिए आपको संस्कृत पाठशाला में भेजा। वहाँ भी आप दो वर्ष तक पढ़ते रहे पर इसी बीच अपने मामा स्वर्गीय श्री शिवशंकर चौबे, कोतवाल बस्ती की प्रेरणा से आप गवर्नमेंट स्कूल, बलिया में पढ़ने चले आए। शिवशंकरजी उस बालक की प्रतिभा भाँप गए थे और यह उसी का फल है।

विवाह के छठे वर्ष आपकी पत्नी का प्लेग से देहान्त हो गया। आपका कहना है कि इस मृत्यु का मेरे जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। १९१२ में आपका दूसरा विवाह प्रथम स्त्री की चचेरी बहन के साथ हुआ।

दो वर्ष बाद १९१४ में आपने दसवीं कक्षा पास की और आगे के अध्ययन के लिए प्रयाग आये। यहाँ १९१९ में आपने अंग्रेजी, इतिहास और संस्कृत के साथ बी० ए० पास किया। उन्हीं दिनों आपके एक अभिन्न मित्र श्री योगीन्द्रनारायण का टी० बी० से देहान्त हो गया। इस मृत्यु का चतुर्वेदीजी के भावुक हृदय पर बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ा। वे मृत्यु के विषय में अधिकाधिक जानने को उत्सुक हो उठे और रेशनलिस्ट एसोसियेशन की सभी पुस्तकें मँगा कर पढ़ डालीं। विकासवाद को समझने के लिए भी कई पुस्तकें पढ़ीं और अपने को एगनास्टिक मानने लगे। इतने पर भी आपको सन्तोष नहीं हुआ, अतः

बी० ए० में दर्शन न लेने पर भी एम० ए० में दर्शन लिया। उन दिनों काशी विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग बहुत अच्छा था। अतः वहाँ चले गए। १९२२ में आपने दर्शन लेकर एम० ए० किया। बाद में काशी से पुनः आप प्रयाग आए और यहीं से १९२५ में वकालत पास की। यह शिक्षा इन्होंने अपनी अभिरुचि से न लेकर पिता की आज्ञा से जमींदारी के काम के लिए ली।

इन दिनों हिन्दी के प्रचार और प्रसार की ओर लोगों का ध्यान जा रहा था। फलस्वरूप प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी परिषद की स्थापना हुई और आप उसके मंत्री हुए। आपके उस समय के साथियों तथा समकालीन छात्रों में आचार्य नरेन्द्रदेव, धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, रामचन्द्र टण्डन, ललिता-प्रसाद सुकुल, सुमित्रानन्दन पन्त, दुलारेलाल भागव, प्रो० सतीशचन्द्र देव, रघुपतिसहाय 'फिराक' विशेष उल्लेख्य हैं।

हिन्दी, अंग्रेजी, तथा संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला, उड़िया, असमी, मराठी, पंजाबी तथा फ्रेंच और तिब्बती आदि विदेशी भाषाओं का भी आपको अभ्यास है। यह बहुभाषा ज्ञान आपके शोधकार्य में बहुत सहायक रहा है तथा तुलनात्मक अध्ययन के कारण आपके विचार बहुत सन्तुलित रहे हैं।

राजनीति और सार्वजनिक जीवन—देश की राजनीति और सार्वजनिक जीवन की ओर भी चतुर्वेदीजी जीवन के आरम्भ से ही आकर्षित रहे हैं। आपकी राजनीतिक जागरूकता का प्रथम प्रमाण उस समय मिलता है जब आप केवल आठवीं कक्षा के विद्यार्थी थे। १५ दिसम्बर १९११ को पंचम जार्ज के राजतिलक का महोत्सव होने वाला था जिसके उपलक्ष में बंगवासी में चतुर्वेदीजी ने लोकमान्य तिलक के छूटने का समाचार पढ़ा। तुरन्त आपने अपने कुछ और मित्रों के साथ जुलूस निकाला, फलतः आप लोगों को दण्डित होना पड़ा। आप स्कूल से निकाल भी दिए गए होते पर एक प्रभावशाली

अध्यापक अपने सम्बन्धी थे अतः बच गए। इस 'वन्देमातरम् आन्दोलन' के अनुभव से आपने यह परिणाम निकाला कि सक्रिय राजनीति उनके उपयुक्त नहीं है। आपने तभी से निश्चय किया कि राजनीति में कभी सक्रिय भाग न लेकर राष्ट्र-सेवा का अन्य क्षेत्र चुनेंगे। साहित्य-सेवा उसी का परिणाम है। भारतीय आन्दोलनों में दिलचस्पी रखते हुए तथा घाती के अतिरिक्त और वस्त्र खदूर का पहनते हुए भी आप अपने उस निर्णय पर अब तक दृढ़ हैं। सन् १९४२ में आपके घर की तलाशी हुई थी तथा आप जेल जाते-जाते बचे। राजनीति में आपको तिलक प्रिय रहे हैं। गांधीजी की राजनीति उन्हें अधिक आकर्षित न कर सकी है। हाँ, उनके मानव और सन्त रूप के प्रति वे अवश्य प्रभावित रहे हैं।

बलिया और उसके बाहर के सार्वजनिक जीवन में भी हाथ बँटाते रहे हैं। बलिया में जिन लोगों के प्रयास से 'चलता पुस्तकालय' की स्थापना की जा सकी उनमें आपका प्रमुख स्थान है। यह पुस्तकालय घर-घर पुस्तकें पहुँचाता है। इसके लिए आपने अपनी बहुत-सी पुस्तकें दे दीं। आज अपने यहाँ के शिक्षा-विभाग-समिति के सदस्य तथा ग्राम-सुधार बोर्ड के प्रथम चेयरमैन रह चुके हैं। पंचायतों में भी आप दिलचस्पी लेते रहे हैं। वकील होते हुए भी आप मुकदमों को समझीते द्वारा तय कराने के पक्ष में रहते हैं। यही कारण है कि मुन्सिफ, जज आदि इन्हें कमीशन का भार प्रायः सौंपते रहे हैं। आप कुछ दिनों तक ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे हैं। बाद में १९३५ में अपने भाई श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी अभियुक्त अन्तःप्रान्तीय षड्यन्त्र को मुखविर बनाने के लिए जब आप पर जोर डाला जाने लगा तो आपने उच्च पदस्थ अधिकारी को यह कह कर कि My brother is nearer than the king and my motherland is dearer than any thing offered. स्तोफा दे दिया।

आप गत २२ वर्षों से अपने यहाँ के हिन्दी विद्यापीठ के अवैतनिक आचार्य हैं और हिन्दी प्रचा-

रिणी सभा के कर्णधारों में हैं ।

साहित्यक जीवन—चतुर्वेदीजी के साहित्यिक जीवन का आरम्भ प्रायः ११ वर्ष की अवस्था से हुआ । आप उन दिनों पहलवान बनने के फेर में थे और अखाड़े पर जाया करते थे । अखाड़े के विषय में ही आपने सर्वप्रथम रचना की थी ।

बड़का बर के पास ही रामविरिछ का खंड
वहाँ अखाड़े में लड़ें और करें हम डण्ड ॥

उसी के आस-पास कानपुर के 'धर्म कुसुमाकर' पत्र में प्रकाशित हिन्दी का एक चित्र देखकर चतुर्वेदीजी ने पद्य की कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं, जिसकी एक पंक्ति थी—

अहो होत मन अति पुनीत ऋषि रूप निहारी ।

उन्हीं दिनों आपने एक स्तोत्र भी लिखा था—
जै शिव शम्भो शिव शम्भो

मुण्डमाल हगविशाल सर्प को लपेटे भो
डिमिक डिमिक डमरू बाजत होत थैया रङ्ग भो
वृषवाहन रच धतूरा भंग खात अनन्द भो
'परशु' के प्रभु कृपा सागर भस्म झलकत अङ्ग भो ॥

चतुर्वेदीजी की प्रथम प्रकाशित रचना 'भालू का नाच' शीर्षक कविता थी जो प्रयाग के 'कन्या मनोरञ्जन' में सन् १९१४ में प्रकाशित हुई थी । आपकी कविता प्रथम गद्य-रचना भी उसी पत्र में १९१५ में प्रथम बार प्रकाशित हुई थी जिसका शीर्षक 'कर्कशा और जिन' था ।

बाद में आप राष्ट्रीय कविताएँ लिखने लगे जो 'प्रताप' में निकलती थीं । 'प्रताप' के सम्पादक श्री गणेशशङ्कर विशार्थी का आप पर बहुत स्नेह था । एक बार जब वे प्रयाग आये तो हिन्दू वॉर्डिंग हाउस में चतुर्वेदीजी के कमरे में जाकर इनसे मिले और इनकी रचनाओं की सराहना की ।

धीरे-धीरे आपकी कविताएँ और लेख 'प्रताप' और 'कन्या मनोरञ्जन' के अतिरिक्त 'त्यागभूमि' तथा 'विकास' आदि में छपने लगे । उन दिनों के आपके लेखों का संग्रह इधर 'गीर्हस्थ जीवन और ग्रामसेवा' नाम से प्रकाशित हुआ है ।

धीरे-धीरे चतुर्वेदीजी अधिक अध्ययनशील होते गए और कविता लिखना छोड़ केवल गद्य को अपना क्षेत्र चुना । आपने संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के साहित्य का खूब मनन किया । उन दिनों आपको कालिदास और शेली से बड़ा प्रेम था । वही शृंगारा-अध्ययन आगे बढ़ कर प्रेम और भक्ति में स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ । हिन्दी भक्ति-साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप आपका ध्यान सर्वप्रथम तुलसी की ओर आकर्षित हुआ और आपने भूमिका के साथ मानस का संक्षिप्त संस्करण तैयार किया । भूमिका तो गायब होगई पर 'संक्षिप्त रामचरित मानस' १९३४ में हिन्दुस्तानी प्रेस, वाँकीपुर, पटना से प्रकाशित हुआ । इधर नवीन रूप में बहुत गवेषणापूर्ण भूमिका के साथ 'मानस की राम कथा' नाम से यह प्रकाशित हुआ है ।

आरम्भ की कविताओं को यदि छोड़ दिया जाय तो चतुर्वेदीजी की कृतियाँ चार वर्गों में रखी जा सकती हैं ।

१—आलोचना पुस्तकें

२—सम्पादित ग्रन्थ और उनकी भूमिकाएँ

३—निबन्ध

४—अन्य लोगों की पुस्तकों की भूमिकाएँ ।

आपने कई पुस्तकों की विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ भी लिखी हैं जिसमें डॉ० बड़थवाल के 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' तथा पद्मावली 'शबबन' की 'मीरा-एक अध्ययन' आदि पुस्तकों की विशेष महत्त्व रखती हैं ।

औरिएंटल कांग्रेस तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन में दिए गए आपके कई लिखित भाषण हैं जिसमें कुछ विभिन्न पत्रिकाओं में निकल चुके हैं । यों भी आप फुटकर लेख लिखते रहते हैं जो सम्मेलन पत्रिका, लीडर, अमृत पत्रिका, अजन्ता, कल्पना, भारती, किशोर, अनुशीलन, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हिन्दु-स्तानी, कन्या मनोरंजन, नवजीवन, विद्यार्थी, मर्यादा, कवि कौमुदी, श्री शारदा, त्यागभूमि, सुधा, सरस्वती, प्रताप, विकास, लोकवाणी, सन्तवाणी, ज्ञानोदय,

कल्याण, पारिजात तथा वीणा आदि पचासों पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में देखे जा सकते हैं। 'राष्ट्रीय वीणा' नाम के राष्ट्रीय कविताओं के एक प्रकाशित संग्रह में आपकी कविता संकलित हो चुकी है जो राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा सम्पादित है।

हिन्दी कविता में कबीर तथा तुलसी इन्हें विशेष प्रिय हैं। सन्त-साहित्य के गहन अध्ययन के नाम आपने 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' पुस्तक लिखी है 'जिसे उत्तरी भारत के सन्त साहित्य का विश्वकोश' कहा जा सकता है। यह पुस्तक कई पुरस्कार पा चुकी है।

चतुर्वेदीजी ने अनुवाद-कार्य भी किया है। डॉ०

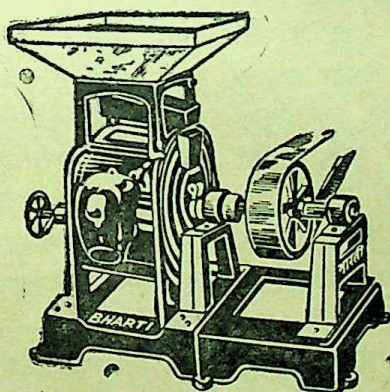
बड़थवाल की थीसिस का आपके द्वारा किया गया अधिकांश अनुवाद हिन्दी काव्य में 'निर्गुण सम्प्रदाय' प्रकाशित हो चुका है। आपने कुमार स्वामी की पुस्तक 'आर्ट एण्ड स्वदेशी' तथा 'एमसंस एसेज' के लेखों का भी अनुवाद किया है। ये अभी अप्रकाशित हैं।

बलिया जैसे साधारण नगर में रहकर जहाँ कोई सम्पन्न पुस्तकालय भी नहीं है आपने इतना कार्य किया है और करते जा रहे हैं, यह देख कर बड़ा सुखद आश्चर्य होता है।

—किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली।

भारती आटा चक्की

(ब्रास बीयरिंग)



१—स्वतः आर्इलिंग ब्रास बीयरिंग

२—तीसरे पैडिस्टल सहित

३—डबल पिन सिस्टम

४—बाल बीयरिंग को दाब

(बाल बीयरिंग में भी उपलब्ध)

मुख्य वितरक :—

सिंघल ब्रादर्स, यमुना रोड, आगरा-४

मिल स्टोन मर्चेन्ट

टेलीफोन : ७२६६० : ७३८२६

हिन्दी के प्रकोण में तमिल के आलवार सन्त

• डा० न० वी० राजगोपालन

“भाषागीतिः प्रशस्ता भगवतिवचनाद् राजवच्चोपचारात् सा चागस्त्यप्रसूतात्विति परिजगृहे भूमिकाभेदयोग्या । यत्तत्कृत्यं श्रुतीनां मुनिगणविहितैः सेतिहासैः पुराणैः तन्नासौ सत्त्वसीम्नः शठमथनमुनेः संहिता सार्वभौमी ॥”

तमिल के पुराने वैष्णव सन्तों में प्रमुख “शठ-रिपु” की कृतियों के बारे में प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य श्री वेदान्तदेशिक (तेरहवीं शती ईस्वी) ने यह लिखा है। इसका अर्थ है—भाषा अर्थात् संस्कृत से भिन्न तमिल भाषा में लिखी गई गीति—आलवारों की कृतियाँ प्रशस्त इसलिए हैं कि उनमें भगवान का प्रतिपादन किया गया है और यह भाषा (तमिल) महर्षि अगस्त्य से निर्मित हुई है। आध्यात्मिक-भक्ति साधना के प्रतिपादन में संस्कृत के समान इस (तमिल) की भूमिका स्वीकार करने योग्य है और वेद प्रतिपादित निश्चयेस साधन धर्मों का विवरण करने वाले इतिहासों और पुराणों में यह शठरिपुकृत तमिल गीति प्रबन्ध संहितावत् सर्वोत्कृष्ट है।”

अन्यत्र एक तमिल रचना में श्री वेदान्तदेशिक ने यह कहा है कि ‘इन आलवार सन्तों के ‘तमिल-वेद’ के अध्ययन से वेद के अनेक अस्पष्ट अर्थ स्पष्ट हो गये।

आलवारों की कृतियों के महत्त्व की इन उद्धरणों में कुछ झलक मिल जाती है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि भारतीय वाङ्मय में सत्त्वोन्मेष से उद्गत परम प्रेम रूप भक्ति का भावस्फूर्ति पूर्ण उन्मुक्त उद्गार सर्वप्रथम इन आलवारों की कृतियों में दिखाई पड़ते हैं और ये ही उद्गार उपनिषद्, भगवद्गीता जैसे ग्रन्थों में प्रतिपादित भक्तिमार्ग की अनुभूतियों के जीवन्त उदाहरण हैं। • वैष्णव भक्ति आन्दोलन

का यही प्रथम चरण था और इसके पश्चात् यामुन, रामानुज जैसे आचार्यों के द्वारा प्रचारित होकर यह भक्ति-पद्धति भारत के अन्यान्य प्रदेशों में प्रचलित हुई।

कर्णाट, आन्ध्र महाराष्ट्र, गुजरात के क्षेत्रों में क्रमशः बढ़ती हुई हिन्दी तथा बंगाल के प्रदेशों को भक्ति की यह अमर अमृत वाहिनी आप्लावित करने लगी। यही कारण है कि हिन्दी के अमर भक्त तथा सन्त कवि कबीर, सूर, तुलसी, नन्ददास, मीरा जैसे कवियों की वाणी में जो भक्तिभाव की विविध अनुभूतियाँ व्यक्त होती हैं उनमें आलवार सन्तों की वाणी की प्रतिध्वनि सी सुनाई पड़ती है।

पादमपुराण के निम्नलिखित श्लोक इसी बात का संकेत करते हैं। ये श्लोक ‘भक्ति’ के द्वारा नारद के प्रति कथित हैं—

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्नाटके गता ।
क्वचित् स्थिता महाराष्ट्रे गुजरे जीर्यतां गता ॥
तत्र घोरे क्लेर्योगान् पाखंडैः खंडितांगका ।
दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सहमन्दताम् ॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरुषिणी ।
जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम् ॥

(पादमपुराण, उत्तरखंड, श्रीमद्भागवतमाहात्म्य प्रथम अध्याय, श्लोक ४८-५०)

अतः भारतीय वाङ्मय में अभिव्यक्त वैष्णव-धर्म आन्दोलन को समझने के लिए तमिल के आलवार सन्तों की कृतियों का परिचय आवश्यक होगा। इसका परिचय न होने का यह परिणाम है कि हिन्दी, बंगला आदि भाषा-साहित्यों में वर्णित भक्ति के सम्बन्ध में अनेक अप्रामाणिक धारणाएँ प्रकट की

गयी हैं। डा० ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने हिन्दी भक्ति-साहित्य के बारे में जो विचार प्रकट किये हैं वे इसी प्रकार के हैं। इधर अनेक हिन्दी-विद्वानों ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए यह विचार प्रकट किया है कि यहाँ (अर्थात् उत्तर भारत में) जो भक्ति-धारा प्रचलित हुई वह विदेशी शासकों के हाथ पराजित भारतीय जनता के नैराश्य और हीनभाव का परिणाम है। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अति प्राचीन काल से ही भारत में वेदविहित यज्ञ-याग आदि कर्मचरणा के साथ-साथ, पाँचरात्र, वेदान्त आदि आगमों के द्वारा प्रतिपादित और वेदान्त के सिद्धान्तों से समन्वित एक आध्यात्मिक साधना पद्धति प्रचलित रही है जो ज्ञान और कर्म को अपने अंग के रूप में अपनाकर शुद्ध सतमय भावानुभूतिप्रधान पारमात्मिक प्रेम पर चलती है। आत्म-अनात्म का विवेक, आत्म-परमात्म-स्वरूप का ज्ञान, सांसारिक बन्धन तथा उसकी मुक्ति के उपाय का ज्ञान तथा जीव और प्रकृति से परे इनके नियन्ता तथा शेषी के रूप में स्थित भगवान के सर्वज्ञत्व, सर्वमयत्व, सर्वशक्तित्व, कारण्य, औदार्य, वाल्लभ्य आदि गुणों का आकर्षण इत्यादि के होने पर आत्मा में परमात्मा के प्रति निरन्तर तैलवारा के समान चलने वाली प्रीतिमय स्मृति-परम्परा को 'भक्ति' नाम दिया गया। इसके तीन स्तर माने गये हैं—परभक्ति, परज्ञान, परमभक्ति। इन भक्ति की 'अवस्थाओं' के अनुभव में स्थित साधक जगत के कर्म करते हुए भी उनके कर्तृत्व और फल को अपने में न मानकर भगवान को ही अर्पित करके जीवन-यापन करता रहता है। प्रीतिरूप स्मृति-सन्तति में भगवान के विविध रूपों तथा गुणों का साक्षात्कार करता है। इस आनन्द में उत्पन्न होने वाली वाणी उस मधुर अनुभूति की भावभक्ति से निष्सृत होने के कारण अत्यन्त विलक्षण और प्रभावशाली होती है। ऐसी कविता सामान्य जीवन के स्तर से भिन्न किन्तु जीवन से समन्वित आनन्दानुभूति को व्यक्त करती है अतएव साधारण पाठक को भी आकृष्ट करती है। किन्तु पंडित पामर, सामान्य जन-साधक आदि व्यक्ति अपने

व्यक्तित्व और रस-ग्रहण योग्यता के अनुसार ही इस कविता को समझता है। हिन्दी में कबीर, रैदास, सूरदास, तुलसी जैसे सन्तों की वाणी ऐसी ही है। तमिल के प्राचीन सन्तों की वाणी भी इसी प्रकार की है।

ये आलवार दक्षिण भारत में छठी शताब्दी और दसवीं शताब्दी ईस्वी की अवधि में भिन्न-भिन्न समयों में अवतीर्ण हुए। ऐसे बारह सन्तों की वाणियाँ अब उपलब्ध होती हैं जो कुल मिलाकर चार सहस्र पद (छन्द) हैं और 'दिव्यप्रबन्ध' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि सभी जातियों के व्यक्ति हैं; एक सन्त तो पंचमवर्ग के हैं। एक 'गोदादेवी' नामक महिला भी हैं। जिन्होंने भगवान को अपना पति वरण किया और शारीरिक, मानसिक और आत्मिक रूप में भगवान में लीन हो गयीं।

'आलवार' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ—'निमग्न होने वाले' अर्थात् भगवान की भक्ति नामक अमृत-धारा में निमग्न। दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि अपने ज्ञान और भक्ति के प्रभाव से लोगों का 'उद्धार करने वाले' हैं। आलवारों के समय के पश्चात् आये 'आचार्यों' में 'नाथमुनि' प्रथम हैं और उन्होंने ही अपने समय में दक्षिण भारत में यत्र-तत्र मौखिक रूप में प्रचलित आलवारों के गीतों को बड़े परिश्रम से सङ्कलित किया और क्रमबद्ध करके उनके अध्ययन की परम्परा चलायी।

आलवारों के नाम और उनके गीतों की संख्या इस प्रकार है—

(१) सरोयोगी	१०० छन्द
(२) भूतयोगी	१०० "
(३) महायोगी	१०० "
(४) भट्टनाथ	४७३ "
(५) भक्तिसार	२१६ "
(६) कुलशेखर	१०५ "
(७) योगिवाहन	१० "
(८) भक्ताङ्घ्रिरेणु	५५ "
(९) परकाल	११५३ "

(१०) पराङ्कुश या शठरिपु १२६६ ,,

(११) मधुर कवि ११ ,,

(१२) गोदादेवी १७३ ,,

उपर्युक्त गीतों के साथ 'श्रीरङ्गामृत' नामक एक भक्त के द्वारा 'श्री रामानुजगायत्री' नाम से विरचित १०८ पद भी 'दिव्य प्रबन्ध' में सम्मिलित किये गये हैं।

पाँचरात्र आगमों के अनुसार उपास्य भगवान् के अनेक रूप हो सकते हैं। जैसे—'पररूप' या 'परवासु-देव का रूप' जो कि अनन्त ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति और वीर्य युक्त हो (इसीलिये 'भगवान्' नाम से युक्त हैं) शांत और उदात्त रूप में श्री वैकुण्ठ में विराजमान रहते हैं।

दूसरा रूप ब्यूह अवतारों का है जिन्हें संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी कहते हैं। उपर्युक्त छः गुणों में से दो-दो गुणों से विशिष्ट ये तीन पृथक् रूप मान कर उपासना की जाती है। तीसरा है विभव अवतारों का रूप अर्थात् राम, कृष्ण, नृसिंह, त्रिविक्रम आदि असंख्य अवतार। चौथा 'अर्थारूप' है अर्थात् दारू (काठ), घातु (स्वर्ण आदि) सुधा (गारा) आदि की निमित्त सर्वांग-सुन्दर और सर्वलक्षण-पूर्ण मूर्तियों में भगवान् का साक्षात्कार करना। भारत के विभिन्न मन्दिरों में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ इसी प्रकार की हैं। पाँचवाँ 'अन्त-र्यामी' रूप है, अर्थात् साधक को ध्यानावस्था में अपने अन्तःकरण में प्रकट होने वाली भगवान् का प्रशान्त गम्भीर आकार।

आलवारों की भक्ति में उपर्युक्त सभी रूपों का स्थान है। अतएव राम, कृष्ण आदि को आकृति में स्थित अर्चारूप का वर्णन करते हुए ये भक्त अन्यान्य अवतारों की लीलाओं तथा घटनाओं का उल्लेख करते हैं। जैसे गोदादेवी रङ्गनाथ और श्रीनिवास (श्रीरङ्ग और तिरुपति में विराजमान अर्चामूर्ति) के प्रति आत्म निवेदन करती हैं और साथ ही गोकुल में स्थित कृष्ण की भावना में तन्मय हो जाती हैं।

इन भक्तों के भाव नाना प्रकार के हैं। सख्य, दास्य, माधुर्य, वात्सल्य आदि विविध भावों में भग-वद् गुणों का अनुभव होता है। प्रणयानुभूति में

संयोग वियोग की विविध दशाएँ दिखाई पड़ती हैं। किन्तु ऐसी स्थितियों में भी जगत् के समस्त पदार्थों में परिब्याप्त भगवान् की अनन्त शक्ति के प्रति सचेतता और उससे तादात्म्य का भाव भी बना रहता है। प्रत्येक आलवार को अपनी-अपनी भक्ति-भावना की विशिष्टता है। एक आलवार कहता है—

प्रेम मेरा दीपक है; उमंग तेल है। मेरी अस्थियों को पिघलाने वाली यह चिन्ता (स्मृति) बत्ती है। ज्ञानमय तमिल (गीतों) का निर्माण करके मैंने नारायण के प्रति ज्ञानदीप जला रखा है।

(भूतयोगी)

एक अन्य आलवार कहता है—

यह धरती दीपक है; हिल्लोल भरा समुद्र तेल है। प्रखर किरण—सूर्य ज्योति है। मैंने उज्ज्वल चक्रधारी (विष्णु) के चरणों को गीत-माला अर्पित की है जिससे संकट तथा बन्धन छूट जायँ।

(सरोयोगी)

पराङ्कुश या शठरिपु का स्थान आलवारों में अग्र-गण्य है। इनकी कृतियाँ अत्यन्त गम्भीर भावनापूर्ण हैं और उपनिषदों की व्याख्या-सी लगती हैं। एक विलक्षण 'रहस्यानुभूति' इनकी कृतियों में देखी जा सकती है। इनके गीतों का यथावत् अनुवाद करना असंभव है।

"एक सर्व प्रशंसित उत्तम (सत्ता) कहूँ

या विशाल भव्य पृथ्वी कहूँ;

शीतल वीचीमय सागर कहूँ;

या अग्नि कहूँ; पवन कहूँ;

झैला हुआ आकाश कहूँ

या उज्ज्वल ज्योतिर्युग्म (सूर्य-चन्द्र) कहूँ;

या कहूँ कि ये सब वही है; मैं कृष्ण को किस प्रकार पुकारूँ; नहीं विदित है।"

"सभी (अचेतन) पदार्थ और सभी चेतन वही है; सब के अपने-अपने मत के अनुसार ग्राह्य होता है; पंचेन्द्रियों से ग्राह्य नहीं होता; केवल ज्ञान (अनुभूति रूप साक्षात्कार) के लिए गम्य है।

प्राणों के और आत्मा के भीतर अनन्य भावना

जो हो सकती है, यदि वह व्याप्त हो जाय तो वह (भगवान) मिल सकता है” इसी प्रकार अन्यत्र कहा है—

“दारिद्र और सम्पन्नता, नरक और स्वर्ग, शत्रुता और मित्रता, विष और अमृत, इन विविध रूपों में वही प्रभु व्याप्त है, वही मेरा उद्धारक है; उसके दर्शन मैंने ‘श्री वैकुण्ठ’ (एक पुण्यस्थल) में किये।

परांकुश के गीतों में भक्ति की विभिन्न स्थितियों के सूचक अनेक तमिल शब्द प्रयुक्त हैं। एक शब्द है ‘अवा’ अर्थात् ‘कामना; या आतुरता पूर्ण इच्छा। भगवान के प्रति यह कामना उत्पन्न होकर धीरे-धीरे शरीर, प्राण, मन को गलाने लगती है और ‘वेटकै’ (तीव्र आवेग या तृष्णा) बन जाती है। यह भावना “मन में समाती नहीं; आत्मा उसमें डूब जाती है।” अब वह ‘पट्रू’ ‘आसक्ति’ बन गयी है। यह आसक्ति ऐसी है कि उससे जगत और शरीर की सुख मिट गयी है। वही ‘परिवु’ प्रियतम के सुख और सुरक्षा के प्रति व्याकुलता या घबराहट होती है।

इसका अन्तिम परिणाम ‘प्रेम’ है जिसके सागर में गोते लगाते हुए भक्त जगत को और अपने को खो देता है और अगाध आनन्द में लीन रहता है।

परकाल नामक अन्य आलवार की १००० से अधिक पद हैं। इन्होंने दक्षिण के सिरे से लेकर उत्तर में बदरीनाथ तक की यात्रा की थी और अपने यात्रा-स्थानों के वर्णनों के साथ भगवान के सौन्दर्य, गुणों और लीलाओं का विलक्षण वर्णन किया है। ऐसे वर्णन हैं जैसे भगवान को अपने सामने देख रहे हैं, संवाद कर रहे हैं। भगवान के अंग-प्रत्यंग की शोभा, मुखमुद्रा, रंग आदि की ऐसी अनुभूति अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी तमिल भाषा शैली में अन्याहुश रोचकता है। इस भाषा की चरम अभिव्यक्ति शक्ति इनकी कृतियों में दिखाई पड़ती है। ऐसी कृतियों को पढ़कर कोई और कृतियों की उपेक्षा करे तो यह सम्भाव्य ही है।

आलवारों की इन कृतियों में आत्मा, भगवान, जगत आदि तत्त्वों का जो विवेचन मिलता है, वही

विशिष्टाद्वैत दर्शन का आधार बना। श्री रामानुज ने प्रतिपादित किया है कि बोधायन कृत ब्रह्मसूत्र में इसी दर्शन का विवेचन है और टंक, द्रमिड आदि अनेक प्राचीन आचार्यों ने, जो शंकराचार्य से पूर्व के थे, अपने-अपने ग्रन्थों में इस दर्शन का प्रतिपादन किया था। इससे प्रमाणित होता है कि आलवारों के समय में इससे भी पूर्व से आगत ऐसी भक्ति-पद्धति प्रचलित रही है और भारत के अनेक भागों में वैष्णव आगमों के अनुसार निर्मित अनेक मन्दिरों में भगवान की अर्चा मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थीं। यह देशव्यापी भक्ति-पद्धति किन्हीं कारणों से कुछ प्रदेशों में लुप्त हो गई। किन्तु जैसा कि श्री भागवत का कथन है—

कृताद्रुपु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम् ।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥
क्वचित् क्वचिन् महाराज द्रविडेषु च भूरिः ।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥

(श्री भागवत, एकादशस्कन्ध, अध्याय ५,
श्लोक ३८-४०)

अर्थात् कृत त्रेता और द्वापर युगों में लोग यह कामना करते रहते हैं कि कलियुग में उनका जन्म हो। क्योंकि कलियुग में नारायण-परायण परम भागवत अनेक अवतीर्ण होंगे। ये भारत में कहीं-कहीं और द्रविड देश में अधिक संख्या में होंगे। ताम्रपर्णी, पयस्विनी कावेरी, महानदी आदि पुण्य नदियों का जल जो पीते हैं वे शुद्ध मन होकर प्रायः वासुदेव के अनन्य भक्त हो जाते हैं।

आलवारों के जन्म-वृत्त उक्त कथन को प्रमाणित करते हैं। इनकी कृतियों का विशद परिशीलन करने से भारत के भक्ति-आन्दोलन तथा निगम-आगम धर्म के इतिहास का पता लगेगा और आध्यात्मिक साधना का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

— रीडर, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।

परशुराम चतुर्वेदी के अध्ययन की दिशाएँ

● राजकिशोरसिंह

यह एक सामान्य तथ्य है कि व्यक्तित्व और कृतित्व के मूल में लेखक का जीवन दर्शन निहित होता है। अपनी प्रतिभा, व्यक्तित्व और जीवन दर्शन से विरत होकर साहित्य रचना करने वाले व्यक्ति में निश्चित रूप से एकांगी और दलीय मनोवृत्ति का प्रदर्शन अधिक होगा। चतुर्वेदीजी के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने इन प्रदर्शनों की निरन्तर उपेक्षा की है। अपने साहित्य में भी और जीवन में भी। यही कारण है कि उनके समस्त साहित्य में उनके जीवन के अनुरूप ही सरलता, स्वच्छता और गम्भीर तत्त्वों के दर्शन होते हैं। मेरा यह निश्चित मत है कि वर्तमान युग में साहित्य और व्यक्तित्व का साम्य उनमें अधिक स्पष्टता से व्यक्त हुआ है, लेकिन इन सबके मूल में जो बात स्पष्ट दिखाई देती है, यह है उनके अध्ययन की दिशाएँ। सामान्यतया चतुर्वेदीजी द्वारा लिखित साहित्य को मौलिक शोधपूर्ण, सम्पादित और निबन्ध—तीन कोटियों में विभाजित किया जाता है। लेकिन यह विभाजन वस्तुतः प्रकाशन के दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त है; अध्ययन के रूप में चतुर्वेदी साहित्य को दो भिन्न रूपों में देखा जा सकता है। एक तो उनके पाठकों के दृष्टिकोण से और दूसरे स्वयं लेखक की मनोवृत्ति और व्यक्तित्व के अनुसार।

पाठकों के दृष्टिकोण में चतुर्वेदी साहित्य का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :—

(अ) सन्त साहित्य के स्रोत, मान्यताएँ, विकास और शाखाएँ।

(आ) सूफी और प्रेमाख्यान काव्य—विविध रूप,

स्वतन्त्र विवेचन और स्थापनाएँ।

(इ) सगुण भक्तिवादी काव्य—विकासमान परिवर्तन, मान्यताएँ, प्रभाव और स्वतन्त्र विवेचन।

(ई) निबन्ध—आलोचनात्मक, सामाजिक।

(उ) भूमिकाएँ—सम्पादित ग्रन्थों की, अन्य द्वारा लिखित ग्रन्थों की।

(ऊ) विशिष्ट शब्दों के तत्त्व-विवेचन—वैज्ञानिक और विकासमान अर्थों में।

इनके अतिरिक्त आलोचना साहित्य में प्रचलित मान्यताओं—आलोचक, निबन्धकार के रूप में, व्यक्तित्व के दृष्टिकोण से, उनकी शैली भाषा आदि के आधार पर तो अध्ययन की परम्परा हिन्दी साहित्य की अपनी मान्यता है ही।

चतुर्वेदीजी की रचनाओं—दाहूदयाल ग्रंथावली, भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ और बौद्ध-साहित्य की सांस्कृतिक झलक—में सम्भवतः प्रथम को (अ) के अन्तर्गत, द्वितीय को (आ) तथा (उ) के अन्तर्गत तथा अन्तिम को संस्कृति एक नवीन दृष्टिकोण—के आधार पर देखा जा सकेगा। इसी प्रकार हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान और भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा को मुख्यतः (आ) में समाविष्ट किया जा सकता है। फिर रहस्यवाद अपने ढङ्ग का वैचारिक ग्रन्थ है (इ) के अन्तर्गत हम मध्यकालीन प्रेम साधना और भक्ति साहित्य में मधुरोपासना की गणना कर सकते हैं। (ई) में साहित्य पथ उल्लेखनीय है। कबीर साहित्य की परख हिन्दी काव्यधारा में प्रेमप्रवाह की भाँति आलोचना ग्रन्थ है। इस प्रकार अधिकांश लेखकों की तुलना में चतुर्वेदी साहित्य की उचित और

निष्पक्ष अध्ययन तथा आलोचना प्रस्तुत की जा सकती है। इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न भी विचारणीय है कि आखिर अन्य आलोचकों की भाँति चतुर्वेदीजी भी क्लिष्ट क्यों नहीं हुए ? और मूलतः यह प्रश्न उनके कृतित्व का उतना नहीं है जितना कि उनके व्यक्तित्व का और साथ ही उनके अध्ययन की स्पष्टता का।

जहाँ तक उपर्युक्त विभाजन की बात है चतुर्वेदीजी की सन्त साहित्य सम्बन्धी कृतियों में सन्तमत के प्रादुर्भाव, विविध रूपों में उसका विकास, उनकी आन्तरिक और बाह्य मान्यताओं का विवेचन, विविध स्रोतों से अपने मत की पुष्टि के लिए सामग्री का संचय और स्थापना आदि तत्त्वों का स्पष्ट विवेचन किया गया है। इसी प्रकार सूफी काव्य के प्रति समस्त पूर्व, प्रकाशित सामग्री पर विचार करने के साथ-साथ उन मूल स्रोतों की भी जाँच की गई है जिससे होकर सूफी काव्यधारा को अविरल प्रवाह मिला है। इस रूप में हम चतुर्वेदी साहित्य में उस विषय से सम्बद्ध समस्त स्रोतों का संकेत भी प्राप्त करते चलते हैं। इन सबका प्रभाव यह हुआ कि लेखक के मन में दार्शनिक तथा भक्ति साहित्य की एक भाव भूमि तैयार हो गयी। यही कारण है कि अन्य लेखकों द्वारा लिखित ग्रन्थों में उनके द्वारा लिखित भूमिकाओं का महत्त्व उन ग्रन्थों से कम नहीं है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में मात्र भूमिका और दो शब्द लिखने का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि विषय विवेचन का। इस प्रकार उनके द्वारा लिखित भूमिकाओं के स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा है। इस सम्बन्ध की अन्तिम बातें हैं निबन्धों और विशिष्ट शब्दों के तत्त्व विवेचन की। चतुर्वेदीजी के निबन्धों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे स्वतन्त्र शैलीकार नहीं हैं। उनके निबन्ध प्रायः शोध पूर्ण होने के कारण जहाँ एक ओर सत्यासत्य का स्वरूप उद्घाटित करते हैं अथवा किसी नवीन विचार की स्थापना करते हैं, वहाँ उसी प्रभाव के कारण शैली स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं कर पाते। सच तो यह है उनके निबन्धों की स्थिति उनके ग्रन्थों की ही भाँति है और वे उनकी समस्त संभाव-

नाओं के लघुरूप से प्रतीत होते हैं। इससे कभी-कभी लगता है कि यह निबन्ध भावी ग्रन्थों की भूमिकाएँ तो नहीं हैं ? पाठकों के दृष्टिकोण से अन्तिम बात है विशिष्ट शब्दों की। चतुर्वेदीजी ने अपने अन्यान्य ग्रन्थों में—विशेषकर दार्शनिक तथा प्रेमाख्यान साहित्य में तत्सम्बन्धित शब्दों की आदि स्थिति, उनके ऐतिहासिक प्रयोग, अर्थसङ्कोच, अर्थविस्तार, अर्थरूढ़ि, अर्थविपर्यय उनकी परिभाषा, व्युत्पत्ति और व्याख्या का व्यापक स्वरूप स्थिर करते हुए उनकी अन्यतम स्थापना प्रस्तुत की है। साथ ही एक विशिष्ट शब्द का भिन्न सम्प्रदायों अथवा कवियों ने किन अर्थों में प्रयोग किया है इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

स्वयं लेखक की मनोवृत्ति और व्यक्तित्व के अनुसार चतुर्वेदी साहित्य को दृष्टि में रखने पर दो बातें सामने आती हैं। एक तो यह कि संस्कारजन्य भावनाओं के अनुरूप विषयों का चयन और दूसरे विषय विवेचन के प्रति लेखक की दृष्टि। विभिन्न ग्रंथों के विषय और सामग्री के प्रति इतना ही यथेष्ट होगा कि यद्यपि चतुर्वेदीजी ने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के दार्शनिक पक्ष को ही विशेषतः अपने विवेच्य विषय के रूप में ग्रहण किया है, तथापि उनकी एकांगी रूप से उतने में ही सीमित नहीं कर सकते। उनके अन्य ग्रन्थों में विषय, परिवर्तन, उनमें तत्त्वज्ञान, गहन समस्याओं का समाधान, वैचारिक सम्पन्नता एवं विकासमान दृष्टिकोण उनके अध्ययन की विभिन्न दिशाओं की ओर संकेत करते हैं। प्रायः चतुर्वेदीजी ने मध्यकालीन साधनाओं के स्वरूप को मध्यकालीन तक ही सीमित नहीं रखा है, वरन् उन की पूर्वा पर परम्पराओं पर भी भली भाँति विचार किया है। इस रूप में आदि भारतीय साहित्य तथा इतर भारतीय साहित्यों के प्रभाव और मूल स्रोतों की ओर भी उनके अध्ययन की दिशाएँ विस्तृत होती गई हैं, जिनकी परम्पराएँ आज तक की विकासमान स्थापनाओं के साथ-साथ बढ़ती आई हैं। इन समस्त रूपों में चतुर्वेदीजी की मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति

विकासमान ऐतिहासिक विचार-परम्परा, व्याख्यात्मक विवेचन, सैद्धान्तिक स्पष्टता, प्रचलित मान्यताओं का रहस्योद्घाटन, तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव, कारण और साधक की मौलिक चेतना को स्वतन्त्र स्थिति और आलोचना आदि अनेक रूपों में अत्यन्त सरल ढंग से हुई है।

लेखक की मनोवृत्ति का एक रूप और है उसकी अन्तर्दृष्टि। वर्ण्य विषय के प्रति पूर्वाग्रह की भावना चतुर्वेदी साहित्य में नहीं मिलती। लेखक की दृष्टि उसकी स्थिति, विकास, प्रभाव आदि अन्यान्य रूपों पर रहती है। फलस्वरूप हम किसी भी विषय के प्रति लेखक को गम्भीरता, सचाई और तदनुकूल वातावरण की सृष्टि करते हुए पाते हैं। गम्भीरता का केवल इतना ही अभिप्राय नहीं है कि लेखक अपने विषय की गहराई तक उतरने का प्रयत्न करता है। वरन् यह भी है कि तत्सम्बन्धी छोटी से छोटी बात भी कितनी मूल्यवान है और उसका वास्तविक और सांकेतिक अर्थ क्या है। शब्द-विवेचन के अन्तर्गत इसका मूल्य अधिक बढ़ जाता है। ऐसे उदाहरणों की संख्या बहुत है और उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, कबीर साहित्य की परख, वैष्णव धर्म, तथा मध्य-कालीन प्रेम-साधना, भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना आदि पुस्तकों में इस विषय पर अपने ढंग से विचार किया गया है। यों विषय-विभाजन और मनोवृत्ति का सम्बन्ध रुचि वैविध्य की ही पुष्टि करता है और इस रूप में लेखक सर्वत्र न तो एकान्त परम्परावादी है और न विषय के साथ बरजोरी करने वाला ही।

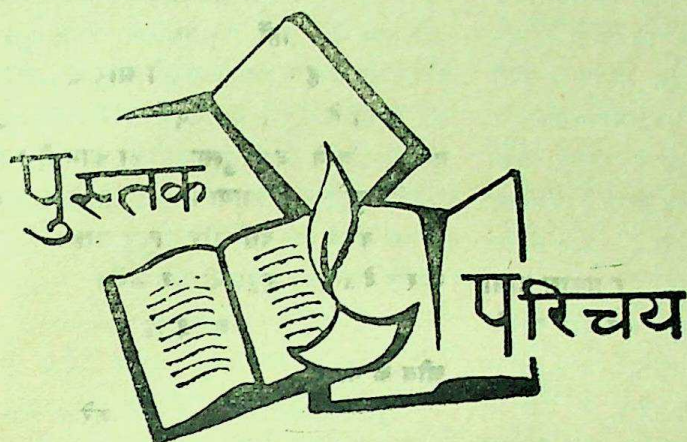
मूलतः लेखक में अध्ययन की विभिन्न दिशाओं का उन प्रवृत्तियों की ओर संकेत करने का संकल्प है जिसके प्रति भ्रम अधिक है। जिनके अवगाहन की अनेक बार आवश्यकता है। साथ ही लेखक अपने उत्तर-दायित्व के प्रति सजग है और तदनुकूल कार्यों के प्रति सचेष्ट भी। इन प्रवृत्तियों का प्रभाव यह हुआ कि लेखक ने हिन्दी आलोचना पद्धति को एक नया मोड़ दिया है।

साधारणतः मनोवृत्ति, साहित्य और व्यक्तित्व इन तीनों प्रश्नों को अलग करके नहीं देखा जा सकता लेकिन जहाँ चाँद के कलंक को प्रणाम करने की बात आती है, वहाँ लेखक का व्यक्तित्व, कृतित्व और मनो-वृत्ति तीनों ही अलग हो जाते हैं। चतुर्वेदीजी के जीवन और साहित्य में ये तीनों ही बातें बाहर और भीतर एक-सी हैं। यही कारण है कि गम्भीर तत्त्व-विवेचन में भी हमें उनकी शैली की सरलता और स्पष्टता के दर्शन होते हैं। कुछ आलोचकों के विचार से चतुर्वेदीजी शैलीकार नहीं हैं। लेकिन यह सोचने की बात है कि जहाँ एक ओर गम्भीर विषयों का विवेचन गम्भीर और आडम्बरपूर्ण शैली में करने पर एक व्यक्ति शैलीकार बन सकता है, तो क्या गम्भीर तत्त्वों की सरल ढङ्ग से व्याख्या करनेवाला शैलीकार नहीं है? वास्तविकता यह है कि व्यक्तित्व और कृतित्व की परिधि में लेखक की मनोवृत्ति का विशेष महत्व है, और वह किसी भी लेखक से प्राप्त होती है। चतुर्वेदी साहित्य को इससे अलग करके नहीं देखा जा सकता।

“मानव जाति ने जो साचा, समझा और पाया है, वह पुस्तकों के जादू भरे पृष्ठों में बन्द है; उन पृष्ठों को खोलिये और संसार भर का ज्ञान प्राप्त कीजिये”

आज ही अपनी मन पसन्द की पुस्तकें मंगायें—

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा—२



समालोचनाथ

प्रत्येक पुस्तक

को

दो प्रतियाँ

श्राणी चाहिये

शोध-ग्रन्थ

जैन ग्रन्थ भण्डार्ज इन राजस्थान—

लेखक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक—श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी, महावीर भवन, जयपुर, पृ० ३७०, मूल्य १५.००

समीक्ष्य पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध ग्रन्थ है। जैन साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः जैन साहित्य का अपने में पूर्ण समृद्ध एवं सम्पन्न होने से उसकी छाया परवर्ती साहित्य पर सहज रूप से पड़ी है।

प्रस्तुत कृति में लेखक ने सर्वप्रथम भारतवर्ष के ग्रन्थ भण्डारों को आकलित किया है तदनन्तर राजस्थान के भण्डारों पर अपनी पनी दृष्टि गड़ाई है। पुस्तक में कुल छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना, साधुओं, भट्टारकों श्रावकों आदि के अतिरिक्त हस्तलिखित पोथियों से सम्बन्धित अपेक्षित सामग्री को समाहित किया गया है। दूसरे अध्याय में अपने देश के अन्य भण्डारों का पर्यवेक्षण है जिनसे विदित होता है कि राजस्थान के भण्डार कितने समृद्ध

एवं प्राचीन हैं तथा उसमें उनका क्या स्थान है। तीसरे अध्याय में राजस्थान का सर्वेक्षण है जिसके अन्तर्गत अजमेर, बीकानेर, कोटा, जोधपुर, उदयपुर आदि प्रखण्डों को लिया गया है। निष्कर्षतया यही अध्याय इस पुस्तक का हृदय है। चौथे अध्याय में इन्हीं की चर्चा विषयगत रूप में हुई है। पाँचवें अध्याय में जैन भण्डारों की उपयोगिता एवं सक्षमता पर विचार किया गया है। छठे अध्याय में कुछेक महत्त्वपूर्ण कृतियों एवं विषयों का सारगर्भित विवेचन किया गया है। और प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी आदि के कृतिकारों का कृतियों सहित संक्षिप्त रूपरेखा भी दी गई है,

समग्र रूप से पुस्तक अनुसन्धित्सुओं एवं जैन साहित्य प्रेमियों के लिए बहुत ही उपयोगी है।

—कामता गुप्त 'कमलेश'

आलोचना

शोध : तत्त्व और दृष्टि—

सं०—डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, प्रकाशक—सरदार पटेल यूनीवर्सिटी, बल्लभ नगर, (गुजरात)।
पृ० १४२, मूल्य ६.००

विगत अगस्त १९६७ में उक्त सरदार पटेल विश्वविद्यालय में एक शोध गोष्ठी का आयोजन हुआ था जिसमें शोध के सम्बन्ध में अनेक विचारोत्तेजक निबन्ध पढ़े गए थे। निबन्ध पढ़ने वाले हिन्दी के बहु-श्रुत अध्यापक और आचार्य थे। इस पुस्तक में उन्हीं निबन्धों का सङ्कलन है। प्रथम लेख विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री ईश्वरवरण पटेल का है जिसमें आपने उन विषयों और विचारों को प्रकट किया है जो शोधक के लिए सबसे पहले जानना जरूरी है। डा० सत्येन्द्र ने सारस्वत अनुसन्धान के कुछ पक्षों पर प्रकाश डाला है। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अनुसन्धान और आलोचना के भेद बताकर उनका पारस्परिक सम्बन्ध बताया है। स्व० आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने शोध के विभिन्न प्रकार और डा० हरबंशलाल शर्मा ने शोध की प्रक्रिया बताई है। सामग्री संकलन, पाद टिप्पणियाँ, परिशिष्ट आदि शोध के विभिन्न सोपानों पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने प्रकाश डाला है। भाषा विज्ञान में शोध कार्य—तुलनात्मक शोध जैसे उपयोगी विषयों की अधिकारी विद्वानों ने चर्चा की है। इस प्रकार शोधक के लिए प्रस्तावना या प्रारम्भिक ज्ञान के लिए यह सब निबन्ध पढ़ना उपयोगी और आवश्यक है। ऐसे १८ विषयों की इन पुस्तक में बहुत ही गवेषणा-पूर्वक चर्चा की गई है। ऐसी महत्वपूर्ण पुस्तक एक अहिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालय ने प्रकाशित कर एक आदर्श उपस्थित किया है, जिसके लिए हम उसके अधिकारियों विशेषकर श्रीमान् पटेल और डा० खंडेलवाल को बधाई देते हैं।

बिहारी सतसई की सतलरी —

लेखक और प्रकाशक—ब्रजराजसिंह अधिवक्ता, १२/८२ बेजरी चौक, रायपुर। पृ० १६६, मू० ३.५०

बिहारी सतसई की टीकाएँ तो बहुत हुई हैं पर उसे सात लरियों में पिरोकर और उसका नामकरण करने का दुर्लभ प्रयास प्रस्तुत लेखक ने ही किया है। अभी तक सब लोग सतसई में शृङ्गार ही शृङ्गार पाते थे, पर डा० ब्रजराजसिंह ने उसके हर दोहे में अध्यात्म ढूँढ़ने का प्रयास किया है और 'चमक, तमक,

हाँसी, सिसक, मसक, मटक, लपटानि'—इन सात शीर्षकों में किया है। यह सब बिहारी के एक दोहे की एक पंक्ति में है। इन सबका आध्यात्मिक अर्थ करके उसी तरह के दोहों को एकत्रित करने का सर्वथा नवीन प्रयास है। आपने अपनी ओर से आध्यात्मिक अर्थ बनाने के संकेत भी दिए हैं। लेखक का यह प्रयास हमारी राय में बड़ा दुस्साहस का काम है। फिर भी अपनी बुद्धि का व्यायाम करने के लिए पाठक इस पुस्तक को जरूर देखें और ठाकुर साहब के शोध का स्वरूप देखने का कष्ट स्वीकार करें।

कविता

जीत के गीत—

लेखक—सुदर्शनचक्र, प्रका०—करेण्ट बुक डिपो, महात्मा गाँधी मार्ग, कानपुर-१, पृ० ५२, मूल्य १.००

'प्रस्तुत गीत संग्रह में क्रान्तिकारी लेखक सुदर्शन चक्र ने अपने राष्ट्र प्रेम की एक ओजस्वी काव्यधार प्रवाहित की है जिसमें उर्दू, मिश्रित अवधी भाषा का पुट है। सभी गीत गेय हैं यही इसकी विशेषता है। भावना के श्रंखुर—

ले०—विश्वम्भर 'आरोही', प्रका०—बन्धु प्रकाशन, दुर्गा कालोनी, जयेन्द्रगंज, लखनऊ, ग्वालियर। पृ० १००, मूल्य ३.००

प्रस्तुत कविता संग्रह में मन की अनुभूतियों के अतिरिक्त दिल की कचोट है जिसकी ध्वनि सभी बुद्धिजीवी मानवों में स्पन्दित होती रहती है पर उन्हें काव्य रूप में परिणित करने में कवि आरोही पूर्ण सफल हैं। इनकी कविताओं में अधिकांशतः टीस संतास, वेदना एवं सम्वेदना है। पेट्रिस लुमुम्बा की हत्या, शास्त्रीजी का निधन, निराला एवं गाँधी की याद सम्बन्धी कविताएँ मनको स्पर्श करती हैं। समग्र रूप से कविता का भाव कहरारस को अपने में समाये हुए पाठकों के समक्ष आता है।

उपन्यास

लाल किताब—

ले०—सुदर्शनचक्र, प्रका०—सरस्वती साहित्य सदन, ६६।५, विजयनगर, कानपुर-५। पृ० ६४, मूल्य १.००

पुस्तक-परिचय]

प्रस्तुत उपन्यास वसुधैव कुटुम्बकम् अर्थात् लाल किताब, क्रान्तिकारी जीवन से सम्बन्ध रखती है। गांधी एवं मार्क्स की तुलना इसका अभीष्ट है। उपन्यास की विषयवस्तु रोचक एवं भाषा सुगठित है।

अपराजिता—

लेखक—सिक्लेयर लेविस, अनुवादक—डा० उमा-पतिराय चन्देल, प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली। पृ० ७३०, मूल्य ६.००

प्रसिद्ध अमरीकी लेखक श्री सिक्लेयर लेविस का यह उपन्यास नोबुल पुरस्कार पा चुका है। यह उनका चौथा उपन्यास है। इससे पहले उनके तीन उपन्यास 'रेन', 'मेन स्ट्रीट' और 'वेनिट' थे। 'वेनिट' ने उन्हें बहुत प्रसिद्ध किया पर नोबुल पुरस्कार उन्हें इसी चौथे उपन्यास 'ऐरोस्मिथ' पर मिला। उनका अन्तिम उपन्यास 'वर्ल्ड सो वाइड' था जो उनकी मृत्यु से एक वर्ष पूर्व सन् १९५० में प्रकाशित हुआ था।

प्रस्तुत उपन्यास का चरित्र नायक एक डाक्टर है और कथानक का विषय चिकित्सा विज्ञान से सम्बन्धित है। उपन्यास को पढ़ने से चिकित्सा विज्ञान की अनेक भीतरी बातों पर प्रकाश पड़ता है और ऐसा मान्य होता है जैसे लेखक एक बड़ा चिकित्सक या अपने विषय का बहुत बड़ा वैज्ञानिक है। उपन्यास में विषय का प्रतिपादन आध्यात्मिक घरातल पर हुआ है ऐसा जैसा बहुत कम उपन्यासों में मिलता है। इसी कारण यह उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हुआ और उपन्यास जगत में इसने शीर्ष स्थान प्राप्त किया।

यह बड़े हर्ष की बात है कि 'ऐरोस्मिथ' का अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो गया। अपराजिता इसका सुन्दर रूप है। हम अनुवाद की सफलता के लिए भी अनुवादक को बधाई देते हैं।

—महेन्द्र

नाटक

अधूरी मूर्ति—

ले०—गोविन्दवल्लभ पंत, प्रका०—राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली-६, पृ० १०५, मूल्य ३.५०।

समीक्ष्य पुस्तक चार अङ्कों का एक संक्षिप्त अभिनीत नाटक है। नाटककार का दृष्टिकोण ऐतिहासिक होते हुए भी राष्ट्रीयता से पीछा न छोड़ा सका एतदर्थ नाटक में राष्ट्र-प्रेम का झिलमिलाता प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शायद इसी भावना से उत्प्रेरित होकर वह अधूरी मूर्ति का दूसरा नाम 'कोहनूर का लुटेरा' भी रखना अपना अभीष्ट समझता है। संकल्पनाओं के संघर्ष में नाटककार ने समन्वयवादी दृष्टि रखकर कथावस्तु को गति दी है, यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

नाटक का अभिनय रेडियो पर हो चुका है इसी लिए उसके मुद्रित रूप में ध्वनि एवं पात्रों के भावों को अधिक उभार कर लिखा गया है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि नाटककार इसे रेडियो रूपक बनाने में ही अपना अभीष्ट समझता है। जो तथ्यतः उचित भी है। समग्र रूप से नाटक में सजीवता ध्वनित होती है।

—कामता गुप्त 'कमलेश'

जीवन-चरित्र

सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय खण्ड २४, २५, २६—

प्रकाशक—प्रकाशन विभाग, भारत सरकार-दिल्ली, पृष्ठ क्रमशः ६३१, ६७६, ६८०, मूल्य प्रत्येक खण्ड का ७.५०।

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ माला के अनेक खण्डों का परिचय 'साहित्य-सन्देश' के इन पृष्ठों में समय-समय पर दिया जाता रहा है। इस ग्रन्थमाला में गांधीजी के पत्र, तार, लेख, टिप्पणियाँ और भाषण हैं जो उनके तत्कालीन जीवन और देश की परिस्थिति पर सम्यक् प्रकाश डालते हैं। प्रस्तुत खण्डों में यह सामग्री १९२४ की है। यह वह समय था जब असहयोग आन्दोलन असफल हो चुका था और ब्रिटिश अधिकारियों की कुटनीति के कारण देश के विभिन्न भागों में हिन्दू-मुस्लिम दंगों के कारण देश की स्थिति बहुत ही दयनीय हो गई थी। इसी काल में त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू आदि नेताओं ने स्वराज्य पार्टी को जन्म देकर कौंसिल में प्रवेश करना उचित समझा था। इन खण्डों में प्रका-

शित सामग्री से गांधीजी की मनोवेदना पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि सभी विकट परिस्थितियों के पड़े रहने पर भी गांधीजी ने किस प्रकार देश को सत्पथ दिखाया और किस प्रकार इन नेताओं से समझौता न हो सकने पर भी उनके द्वारा आगे चलकर देश के दिन फिरे। संक्षेप में गांधीजी के यह लेख उस समय तो देश को सुमार्ग बता ही सके, आज भी इन्हें पढ़कर हम विभ्रम होने से बच सकते हैं। गांधीजी की लेखनी के यह संग्रह वास्तव में स्थायी महत्व की चीज हैं जो आज से हजारों वर्ष बाद भी अपना महत्व रक्खेंगे। और जिन पुस्तकालयों में यह साहित्य पहुँच जायगा एक दिन वह अपने को धन्य समझेंगे।

अध्यात्म और दर्शन

उपनिषदों की भूमिका—

लेखक—डा० राधाकृष्णन्, प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० ११५, मूल्य ७.००

प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् की यह पुस्तक उनकी अंग्रेजी की पुस्तक 'दि प्रिंसिपल उपनिषद्स' की भूमिका का हिन्दी अनुवाद है। भारतीय दर्शन साहित्य में वेदों और उपनिषदों का बड़ा महत्व है। वेद चार और उपनिषद १८ प्रसिद्ध हैं। इन उपनिषदों में भारतीय रीति-नीति और सदाचार का विस्तृत विवेचन है। प्रस्तुत पुस्तक में माननीय लेखक ने उपनिषद पढ़ने वालों के लिए एक प्रकार से उनकी भूमिका रूप में अनेक विषयों पर प्रकाश डाला है। वेद और उपनिषदों में क्या सम्बन्ध है? ब्राह्मण ग्रन्थ क्या हैं? जीवात्मा क्या है? भारतीय दर्शन में सदाचार और आरण्यक का क्या मूल्य है?—इस तरह के महत्वपूर्ण विषयों पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। निश्चय ही डा० राधाकृष्णन् की यह पुस्तक बड़ी मूल्यवान है। ऐसी सुन्दर पुस्तक को हिन्दी जगत में लाने के लिए राजपाल एण्ड सन्स धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं।

राजनीति

विराट जाग्रति और प्रजातन्त्र की बुनोती—

मूल लेखक—जान स्ट्राची, अनु.—इन्द्रदेव उपाध्याय, प्रका०—सिद्धार्थ पब्लिकेशन्स प्रा० लि०, ३५ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६, पृ०—२३८, मू० ६.५०

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध चिन्तक एवं समाजवादी श्री स्ट्राची के भाषणों का हिन्दी अनुवाद है। ये भाषण सर्वप्रथम १९६१ में सिगापुर में दिए गए थे। उनको क्रमवद्ध रखकर पुस्तकाकार बनाने का एक मात्र अभीष्ट यह है कि प्रजातन्त्र में इसकी महत्ता। चीन का साम्यवादी एकतन्त्रवाद की दृष्टि एशिया में दुष्परिणाम लाने का द्योतक है। विचारक ने इस ज्वाला को सही रूप में समझा था। एशिया कई देशों का मिश्रित राज्य है। इसमें भारत का प्रजातन्त्र एकतन्त्रवाद के लिए चुनौती के रूप में स्थित है। एतदर्थ श्री स्ट्राची जो स्वयं समाजवाद एवं प्रजातन्त्र के हामी थे। अपने परिपक्व विचारों में इन्हीं समस्याओं को समझाया है। प्रजातन्त्र की सफलता वयस्क युवक एवं युवतियों पर आधारित है, इसीलिए उन्होंने साम्यवाद की कटु आलोचना करते हुए उसके परिणामों को भी यथेष्ट रूप में संकेत किया है।

पुस्तक का नैतिक परिप्रेक्ष्य में अपना निजी महत्त्व है। अतएव इसका राजनीति एवं समाज विज्ञान के क्षेत्र में अतिशय स्वागत होगा, ऐसी आशा है।

विविध

शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (१९६४-६६)—

प्रका०—शिक्षा मन्त्रालय, भारत-सरकार—दिल्ली। पृष्ठ ७९१, मूल्य १०.००।

यह भारी भरकम प्रकाशन शिक्षा आयोग की उस रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद है जिसे भारत-सरकार के द्वारा स्थापित डा० कोठारी की अध्यक्षता में बने आयोग ने २-३ वर्ष के निरन्तर प्रयत्न और परिश्रम के बाद मूलतः अंग्रेजी में प्रकाशित किया था। इस आयोग में शिक्षा विशेषज्ञ और वर्तमान विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० दीलतसिंहजी कोठारी के अतिरिक्त १५ और शिक्षा विशेषज्ञ थे।

आयोग ने सैकड़ों शिक्षा-सेवादल और शिक्षा-विचारकों से बातचीत की, उनके वयान लिए और अपनी प्रश्नावली पर उनके उत्तर लिए। इसके बाद महीनों आयोग के सदस्यों ने बैठकर विचार-विमर्श किया और फिर एक रिपोर्ट तैयार की जिसका हिन्दी-अनुवाद अब प्रकाश में आया है। इस रिपोर्ट से उन सब विषयों पर प्रकाश पड़ता है जो आज हमारी शिक्षा के मार्ग में बाधक हो रहे हैं। साथ ही यह भी दृष्टि मिलती है कि शिक्षा में किस तरह का क्या परिवर्तन किया जाय जिससे हमारे छात्रों में समाज-सेवा की भावना जाग्रत हो। माध्यमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा का परिवर्तन-परिवर्द्धन करना इष्ट होगा। औद्योगिक शिक्षा का विकास कैसे सम्भव है—यह सब बातें इस रिपोर्ट से विदित हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा-सम्बन्धी विविध विषयों सम्बन्धी पचासों आंकड़े देकर इस रिपोर्ट को अधिक उपयोगी बनाया गया है। इस प्रकार शिक्षा-प्रेमियों और शिक्षा-क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के लिए यह रिपोर्ट एक प्रकार से

मार्ग-निर्देशिका का काम करेगी। हम इस रिपोर्ट के लिए डा० कोठारी के आभारी हैं और उनके परिश्रम और सूझ-बूझ की प्रशंसा करते हैं। —महेन्द्र

पत्र-पत्रिकाएँ

वाग्वर (वागड़ प्रदेश का त्रैमासिक साहित्यिक पत्र)—संयुक्तांक, ६८—

सम्पादक—गिरीश शर्मा, प्रकाशक—वागड़ प्रदेश साहित्य-परिषद, हुंजरपुर, राजस्थान। पृष्ठ १४३, मूल्य १०.००।

प्रस्तुत पत्रिका वागड़ प्रदेश के उन्नयन, साहित्य के प्रचार एवं प्रसार को ध्यान में रखकर प्रकाशित की गई है। वागड़ प्रदेश का साहित्य, लोक-साहित्य एवं सन्त-साहित्य सभी अभी तक उपेक्षित रहा है। उसको पुनर्जीवन मिले तथा साहित्य गतिमान हो, यही इसका मूल व्यय है।

पत्रिका का प्रकाशन क्षेत्रीय प्रकोण में महत्वपूर्ण है। —कामतागुप्त कमलेश

मध्यकालीन सूफी साहित्य की तीन विशिष्ट पुस्तकें

१. सूफी-काव्य विमर्श

डा०—श्याम मनोहर पाण्डेय ६.००

[प्रस्तुत कृति में प्रारम्भिक सूफी कवि मौलाना दाऊद, कुतुबन, जायसी, मंझन आदि के मर्म का उद्घाटन करने वाले चौदह शोध-निबन्ध संग्रहीत हैं।]

२. चान्दायन

—सं० डा० माताप्रसाद गुप्त २०.००

३. मृगावती

—सं० डा० माताप्रसाद गुप्त २०.००

उक्त पुस्तकें हिन्दी के प्रथम दो सूफी प्रेमालयान 'चान्दायन' और 'मिरगावत' नामों से प्रसिद्ध काव्यों के प्रथम सुसम्पादित संस्करण हैं। जिनमें अद्यावधि प्राप्त रचनाओं के समस्त पाठों का उपयोग करते हुए उनका मूल पाठ स्थिर किया गया है और पाठान्तरों को देते हुए प्रत्येक छन्द का ऐसा विशद अर्थ भी दिया गया है जिससे उसका मर्म अनायास ग्रहण किया जा सके। दोनों की भूमिकाओं में रचयिता, रचनाकाल और स्थान, रचना के नाम रूप, रचना की कथा और उसका आधार, उसके सन्देश, उसकी सम्पादन सामग्री, उसके पाठों की लिपि परम्परा, उसके सम्पादन सिद्धान्त और उसकी भाषा पर विस्तार से विचार किया गया है। अन्त में रचना के दुर्बोध शब्दों का एक व्युत्पत्तिपरक कोश भी दिया गया है।

तिनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

श्रेष्ठ समीक्षात्मक ग्रन्थ

हिन्दो साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डा. गणपतिचन्द्र गुप्त २५.००, सा. संस्क. १५.००

प्रारम्भिक काल से अब तक के हिन्दी साहित्य का सर्वथा प्रामाणिक विवेचन; उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा २५०० रु० से पुरस्कृत; पृष्ठ-संख्या १००८ ।

आधुनिक साहित्य और साहित्यकार : डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, डी. लिट्. ७.५०

इसमें भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, महादेवी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा प्रभृति साहित्यकारों व कामायनी, गोदान, मृगनयनी, सन्यासी, आँसू आदि रचनाओं का विवेचन नूतन दृष्टि से किया गया है ।

बिहारी सतसई : वैज्ञानिक समीक्षा : डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, डी. लिट्. ५.५०

महाकवि बिहारी के जीवन-चरित, व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन, काव्यदर्शन, प्रेरणा-स्रोत, शृंगार-निरूपण, विरह-वर्णन, भक्ति-भाव, हास्य-व्यंग्य, मुक्तक-रूप, शैली-पक्ष, आदि का प्रामाणिक एवं गम्भीर विवेचन ।

प्रेमचन्द और गोदान : नव मूल्यांकन : डा. कृष्णदेव झारी ६.५०

'गोदान' नामकरण, कथानक, चरित्र-चित्रण, समाज-दर्शन, नारी-चित्रण, आदर्शवाद-यथार्थवाद, गांधीवाद-समाजवाद, उद्देश्य, शिल्प-विधान आदि का गम्भीर विवेचन ।

ग्रीक साहित्य-शास्त्र : हरीश करुण ५.५०

प्लेटो, अरस्तू, लोजाइनस, दमित्रियस आदि के पाँच काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद ।

रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा : डा. कृष्णदेव झारी ६.००

आधुनिक दृष्टि से रस-सिद्धान्त का सर्वांगीण, स्पष्ट एवं मौलिक विवेचन ।

साहित्य की आत्मा : डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, डी. लिट्. ५.५०

भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि से काव्य की आत्मा एवं आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की विवेचना ।

साहित्य के तत्त्व : डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, डी. लिट्. ५.००

भाव, विचार और कल्पना की साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक एवं सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि से मीमांसा ।

साहित्य की शैली : डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, डी. लिट्. ७.५०

भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर शैली और रीति के भेदों, तत्त्वों, गुणों तथा शैली व व्यक्तित्व के सम्बन्धों व रीति, अलङ्कार, बिम्ब, प्रतीक सिद्धान्तों की सूक्ष्म विवेचना ।

सन्त-काव्य का दार्शनिक विश्लेषण (शोध-प्रबन्ध) : डा. मनमोहन सहगल १२.५०

विशेषतः कबीर एवं गुरु नानक के दार्शनिक विचारों की स्पष्ट विवेचना ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य : डा. गणपतिचन्द्र गुप्त ७.००

आ. द्विवेदी के निबन्ध-साहित्य, अशोक के फूल, बाणभट्ट की आत्मकथा आदि पर विद्वानों के तीस लेख ।

साहित्य-विज्ञान (शोध-प्रबन्ध) : डा. गणपतिचन्द्र गुप्त, डी. लिट्. २०.००

साहित्य के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विवेचन, डी० लिट्० के लिए स्वीकृत तथा उत्तर प्रदेश सरकार से १००० रु० के पुरस्कार से एवं डालमिया पुरस्कार से सम्मानित ।

प्रकाशक—

भारतेन्दु भवन, १०६/५ लोअर बाजार, शिमला-१

‘साहित्य सन्देश’ जुलाई-अगस्त १९६८]

[भाग ३०, अंक १-२]

नये प्रकाशन

महादेवी : नया मूल्यांकन

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, डी० लिट०

यह महादेवी पर लिखित विभिन्न लेखों का संग्रह नहीं है अपितु सर्वथा नूतन दृष्टि से रचित सर्वांगोण, प्रामाणिक व मौलिक समीक्षात्मक ग्रन्थ है जिसमें महादेवी के व्यक्तित्व, दर्शन, जीवन-दर्शन, युग-बोध, काव्य-दर्शन, बौद्ध-प्रभाव, रहस्यवाद, छायावाद, प्रणय भाव, वेदना-भाव, दुःखवाद, गीतिकाव्य, गद्य-काव्य, प्रतीक विधान, विश्व-विधान, सौन्दर्य-बोध, शिल्प एवं शैली आदि की विवेचना काव्य-शास्त्रीय व सौन्दर्य-शास्त्रीय आधार पर की गयी है।

मूल्य २० रुपये; सस्ता संस्करण १२.५०

दो नये शोध-लेख

● कबीर : कल्पना-शक्ति और काव्य-सौन्दर्य—

श्री ब्रह्मदत्त शर्मा ७ रु० ५० पैसे

● जायसी के पद्यावत का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—

कुमारी सुभाष वाला ७ रु० ५० पैसे

प्रकाशक—

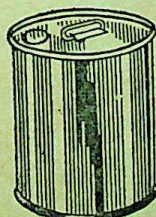
भारतेन्दु-भवन,

१०६/५ लोअर बाजार, शिमला-१

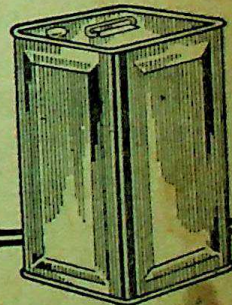
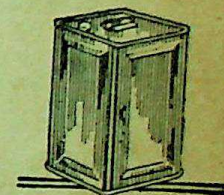


डबलसीम कनस्तर

तथा डिब्बे



सादा
मार्क
रंगीन



विशेषतायें लीक प्रूफ, आकर्षक धुपाई !
निर्माता:- जी. जी. इण्डस्ट्रीज़, आगरा फोन-३६७४

[साहित्य-सन्देश जुलाई-अगस्त १९६८]

[भाग ३०, अंक १-२]

हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास

(ले० डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०)

आदिकाल से लेकर अब तक के सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का प्रामाणिक विवेचन !

वैज्ञानिक दृष्टि से नूतन काल-विभाजन एवं परम्पराओं का वर्गीकरण !

नवीनतम शोध पर आधारित एवं विकासवादी दृष्टि से विवेचित !

पृष्ठ संख्या—१००८, बड़ा साइज, मूल्य २५.००

साधारण संस्करण का मूल्य १५.००

जिसे उत्तर-प्रदेश सरकार ने २५०० रुपये का विशेष पुरस्कार देकर सम्मानित किया है ! इस प्रसंग में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

“.....यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि उत्तर प्रदेश सरकार ने आपके वैज्ञानिक इतिहास का सम्मान किया है। पुस्तक सम्मान के ही योग्य है। आपने जिस परिश्रम और साधना से कार्य किया है उसका उत्तम फल प्राप्त होगा ही, अभी तो यह आरम्भ मात्र है, इससे भी उत्तम फल दूर नहीं...”

(लेखक को लिखे गये पत्र से उद्धृत)

अन्य विद्वानों एवं पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रशंसित—

● “.....समग्रतः पूरा ग्रंथ मौलिक चिन्तन और नवीन व्यवस्थाओं से परिपूर्ण है। लेखक ने अद्यावधि उपलब्ध सामग्री से पूरा-पूरा लाभ उठाया है तथा इतिहास की बनी बनाई लीक से हटने का प्रयास किया है।”

—डा० पद्मसिंह शर्मा ‘कमलेश’ (‘आकाश वाणी’ से प्रसारित समीक्षा)

● “.....लेखक ने भ्रान्तिपूर्ण पूर्व-स्थापनाओं एवं रूढ़ियों की आलोचना में निर्भीकता प्रदर्शित करते हुए प्रत्येक स्थल पर अपना स्पष्ट मत दिया है जो प्रतिभा, साहस और आत्म-विश्वास का प्रमाण है।

(कादम्बिनी, दिल्ली)

● “जहाँ इसका काल-विभाजन और परम्पराओं का वर्गीकरण सर्वथा नूतन और मौलिक है वहाँ इसमें तथ्यों की परिपूर्णता, विवेचन की वैज्ञानिकता और शैली की सरलता और स्पष्टता भी सर्वत्र दृष्टि-गोचर होती है।”

(विश्लेषण, शोध-पत्रिका, कुश्क्षेत्र-विश्वविद्यालय)

● “डा० गुप्त का इतिहास अपने विषय की एक नयी उपलब्धि है। लेखक के विचारों में स्पष्टता और सरलता के साथ-साथ सूक्ष्म ग्राह्य शक्ति भी है।”

(‘सेनानी’, बीकानेर)

● “लेखक को अब तक प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर साहित्यिक इतिहास को वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित करने की चेष्टा में सफलता मिली है।”

(‘युगप्रभात’, केरल)

● “प्रस्तुत ग्रन्थ में साहित्य की नवीनतम विचारधाराओं तथा कृतियों का समावेश हो जाने से उसकी उपादेयता में चार चाँद लग गये हैं।”

(राष्ट्र-भारती, वर्धा)

● निस्सन्देह डा० गुप्त ने इस महत्वाकांक्षी प्रयास के द्वारा हिन्दी साहित्य-इतिहास लेखन में एक नयी कड़ी जोड़ दी है।”

(नयी धारा, पटना)

इतिहास सम्बन्धी परम्परागत भ्रान्तियों के निराकरण के लिए आप इसे अवश्य पढ़ें।

प्रकाशक—भारतेन्दु भवन

१०६।५ लोअर बाजार, शिमला-१

'साहित्य-सन्देश' जुलाई-अगस्त १९६८]

[भाग ३०, अङ्क १-२]

स्कूल-कालेजों के

पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य

साहित्य-सन्देश की पुरानी फाइलें

ज्ञान-वृद्धि का अपूर्व साधन

और

शोध के लिए परम उपयोगी

साहित्य-सन्देश को निकलते हुए ३० वर्ष हो गए। इसके प्रथम १५ वर्ष के कोई अङ्क अब नहीं मिलते। इधर १५-१६ वर्षों की फाइलें उपलब्ध हैं, पर वे भी अब समाप्त होती जा रही हैं।

आप अपने पुस्तकालय की शोभा और सम्पन्नता बढ़ाने के लिए इन फाइलों को अभी मँगवा लें, वरना 'सरस्वती', 'माधुरी' की तरह 'साहित्य-सन्देश' की फाइलें भी मिलना असम्भव हो जायगा।

प्रत्येक फाइल में ५०० से ऊपर पृष्ठ हैं, सजिल्द का मूल्य १०) प्रति फाइल है।

पुस्तकालयों और 'साहित्य-सन्देश' के ग्राहकों के लिए पौनी कीमत में। रेल से फाइलें भेजी जायँगी। अतः आर्डर के साथ कम से कम ५) पेशगी भेजिए और रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखिए।

साहित्य-सन्देश अपने विशेषाङ्कों के लिए प्रसिद्ध है। हर वर्ष की फाइल में एक-दो विशेषाङ्क मिलेंगे।

आशा है आपका आदेश हमें शीघ्र प्राप्त होगा।

प्रबन्धक : साहित्य-सन्देश कार्यालय, आगरा-२

हिन्दी की विविध विधाओं पर प्रकाशित

हमारी नवीन पुस्तकें

- | | | | |
|----|------------------|---------------------|------|
| १. | हिन्दी आलोचना : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |
| २. | हिन्दी उपन्यास : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |
| ३. | हिन्दी कहानी : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |
| ४. | हिन्दी नाटक : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |
| ५. | हिन्दी निबन्ध : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |

सभी पुस्तकें जिल्ददार हैं और बड़े आकार में बड़िया सफेद कागज पर छपी हैं।

इनमें उस विषय के

चोटी के विद्वानों के चुने हुए लेख संग्रहीत हैं।

उ प यो गि ता

को देखते हुए हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन तो छपते ही आगरा विश्वविद्यालय ने अपनी बी० ए० की परीक्षा में स्वीकृत करली थी।

सब को एक साथ मँगाने पर विशेष रियायत

सभी पुस्तकों का मूल्य २५.०० रु० है लेकिन जो सज्जन अभी पुस्तकों का रियायती मूल्य १८.७५ पेशगो मनीआर्डर से भेज देंगे उनको पोस्टेज और रजिस्ट्री का खर्च भी नहीं देना पड़ेगा।

यह रियायत —

३१ दिसम्बर १९६८ तक है।

साहित्य रत्न भण्डार, साहित्य कुञ्ज, आगरा।

साहित्य संदेश

[आलोचना मासिक]

भाग-३०

अंक-३-४

सम्पादक

महेन्द्र

सहायक

कामतागुप्त 'कमलेश'

प्रबन्ध सम्पादक

कमलेन्दु जैन

सितम्बर-अक्टूबर—१९६८

मूल्य

आजीवन	१००.००
एक वर्ष का	६.००
दो वर्ष का	११.००
तीन वर्ष का	१५.००
एक अंक का	.६०
इस अंक का	१.००

हमारी विचारधारा

विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों के कार्यालयों की भाषा—

आज का समय, हिन्दी प्रतिष्ठापन के लिए अपना सारा श्रम एवं अध्यवसाय इसी ओर लगा रहा है पर बड़ी ग्रीड़ा का विषय है कि हमारे विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग इस ओर से पूर्णतया उपेक्षित से हैं जैसे इनके कान में जूँ तक नहीं रेंगती। विज्ञान, तकनीकी, वाणिज्य, कानून आदि में हिन्दी का प्रयोग यथा प्रयास पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। उसके कार्यकर्त्ता तथा अधिकारी इस ओर दत्त-चित्त हो लगे हैं। विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग जोकि हिन्दी के प्रचार-प्रसार में अपना सानी नहीं रखते पर जहाँ बाह्य रूपरेखा हिन्दी की है, वहाँ उसके कार्यालयों की भाषा अब तक अंग्रेजी ही बनी हुई है। उसके सभी कार्य अंग्रेजी के बिना चल ही नहीं सकते। कार्यालय में प्रविष्ट करते ही अंग्रेजी के सूचना-पटों से स्वागत होता है। शिक्षा का माध्यम जहाँ पूर्णरूपेण हिन्दी हो, अथवा हिन्दी होने के समीप हो, वहाँ इस तरह का अंग्रेजियत से आता बनाए रखना उचित नहीं।

हिन्दी विभागों के कोई-कोई अध्यापक ही नहीं, उनके वरिष्ठ प्राध्यापक तक अपने हस्ताक्षर अंग्रेजी में करके अपने नाम एवं पद की मुहर अंग्रेजी में लगाते हैं। हमें खेद है कि बाहर नहीं स्वयं हमारे नगर-में ही ऐसे महारथी हैं जो पीठाध्यक्ष होकर भी हिन्दी को पीठ दिखाते हैं। यही क्यों, कभी-कभी तो ऐसा भी देखने को मिला करता है कि विद्यालय और पद के नाम की मुहर भी हिन्दी में है किन्तु हस्ताक्षर अंग्रेजी में हैं या हस्ताक्षर हिन्दी में हैं तो विद्यालय, विभाग तथा पद की मुहर अंग्रेजी में है। इससे प्रमाणित होता है कि अंग्रेजी किसी न किसी रूप में अभी तक वहाँ जमी हुई है। यहाँ तक ही नहीं छोटी-छोटी सामान्य सूचनाएँ तक भी अंग्रेजी में ही प्रसारित की जाती हैं। सूचना-पट तक अंग्रेजी का बाना पहने रहते हैं। विद्यार्थी समाज जोकि हिन्दी अध्ययन के लिए इन विभागों में आता है, उसे सर्वप्रथम अंग्रेजी से ही टक्कर लेनी पड़ती है।

कार्यालयों का अल्प शिक्षित लिपिक वर्ग तो ऐसा अंग्रेजी दाँ होता है मानो सद्यः ब्रिटेन से आया हो। पर उनकी अंग्रेजी तो ऐसी होती है जोकि एकमात्र उनके अधिकारी वर्ग ही समझ पाते हैं या वे स्वयं,

भलतः मिल्टन एवं शेक्सपियर भी उनके शिष्य प्रतीत होते हैं। इस तरह हिन्दी-विभागों में 'खग जाने खग ही की भाषा' की उक्ति पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। हिन्दी के नाम पर उदर-पोषण करने वाले ये लोग बाहर से कितने ही भोले-भाले लगते हैं किन्तु अन्दर से उनके भीतर ऐसी विषैली भावना निवास करती है जो हिन्दी हित को समाप्त कर रही है।

इस तरह हिन्दी विभागों की भाषा को देखते हुए ऐसा विश्वास सहज ही हो जाता है कि यथार्थ में हिन्दी के विरोधी ये ही हिन्दी के मठाधीश हैं जो कि अपने नामों के आगे बड़ी-बड़ी पदवी लगाए हुए पर्यटन कर रहे हैं और संगीत ब्रिटेन का गा रहे हैं। 'वीणा वादिनि वर दे'—उनकी कुर्सी सलामत रहे।

१९७३ तक हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्रारम्भ—

राज्यमन्त्री श्री भगवत भा आजाद ने विभिन्न विश्वविद्यालय के उपकुलपतियों से आग्रह किया है कि वे १९७३ तक विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं के माध्यम से आध्यापन प्रारम्भ कर दें। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार भारतीय भाषाएँ अपनाने के लिए दृढ़ संकल्प है और वह चाहती है कि योजनाबद्ध रूप से शिक्षा का माध्यम परिवर्तन कम-से कम समय में हो जाय। इस समय हिन्दी में पाठ्य-पुस्तक तैयार करने के लिए सभी हिन्दी भाषी राज्यों में स्वायत्त संगठन बना लिए गए हैं। और जहाँ नहीं हो सके हैं, वहाँ शीघ्र ही बनाने की योजना है। राजस्थान और बिहार की राज्य सरकारों को तो इस कार्य के लिए पाँच-पाँच लाख रुपये का अनुदान भी प्रदान किया जा चुका है।

श्री भा ने उपकुलपतियों को आश्वासन दिया है कि रुपये की कमी से इस कार्य में बाधा नहीं होगी। उन्होंने उपकुलपतियों को समन्वय-समिति की गत बैठक में किए गए निर्णय को स्मरण कराया और कहा कि शिक्षा के समस्त निकायों में सभी स्तरों पर

और व्ययसायी शिक्षा जैसे इन्जीनियरिंग, विधि और कृषि में डिग्री कोर्स में शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाना १९७३ तक अवश्य पूरा होना चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पुस्तक निर्माण का कार्य समन्वित ढंग से आयोजित करने पर श्री आजाद ने बल दिया। और कहा कि ऐसा नहीं होना चाहिए कि पुस्तकों के अभाव के कारण यह कार्य पूरा न हो सके। उन्होंने कहा कि मैं अपने अनुभव के आधार पर एक कठोर सत्य कहना चाहता हूँ कि यह परिवर्तन पुस्तकों या शिक्षकों की लगन या शिक्षा पद्धति से प्रेम बताने वाले राजनीतिक नेताओं के आश्वासन से कार्यान्वित नहीं होगा। इस देश के विद्यार्थी, जिनके लिए हम, आप और विश्वविद्यालय हैं, वे कम से कम समय में भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने को कटिबद्ध कर देंगे। एतदर्थ विश्वविद्यालय के उपकुलपतियों से हमारा साग्रह निवेदन है कि वे समय और परिस्थिति को देखते हुए शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनाने में अपना सहयोग दें। इसमें उनके हित के साथ ही देश और समाज की भलाई भी है।

राजस्थान का भाषा विभाग—

राजस्थान सरकार का भाषा विभाग उस आशा और उत्साह से खोला गया था जिस पर विगत वर्ष वहाँ की सरकार ने २६ जनवरी, ६८ से अपना सभी कार्य हिन्दी में करने की घोषणा की थी। पर समय आया और बीत भी गया किन्तु उस घोषणा पर तनिक भी ध्यान न दिया गया। भाषा विभाग ने कार्यालयों के काम में आने वाले बहुत से प्राविधों, योजनाओं तथा कागजातों को हिन्दी में अनुवाद भी कराया। पर इधर सरकार की दुलमुल नीति तथा परिवर्तनीय दृष्टिकोण से उसके सभी किए हुए कार्य तथा अनुवाद यथावत् पड़े हैं।

इससे राजस्थान में हिन्दी के प्रयोग की क्या स्थिति हो रही है और भविष्य में क्या होगी, सोच-कर बड़ा दुःख होता है क्योंकि राजस्थान अकेले ने हिन्दी साहित्य का जितना अधिक भण्डार भरा है उतना भारत के किसी भी अन्य प्रदेश ने नहीं।

केरल में हिन्दी प्रचार—

केरल प्रदेश से प्रकाशित हिन्दी की एक पत्रिका 'पूर्व ज्योति' में श्री के० जी० बालकृष्ण पिल्ले का एक लेख 'केरल में हिन्दी प्रचार : एक सिंहावलोकन' शीर्षक से कुछ दिन पूर्व प्रकाशित हुआ था। जिसमें केरल में हिन्दी के प्रति क्या धारणा है तथा उसकी स्थिति वर्तमान समय में कैसी है ? आदि की सविस्तार व्याख्या की गई है। साथ ही इस समय वहां कौन-कौन से विद्वान तथा लेखक हिन्दी-सेवा में रत हैं, सभी का विवरण दिया गया है।

हमारी सम्मति में केरल में हिन्दी प्रचार के वेग का किसी भी हिन्दी प्रदेश से मुकाबिला किया जा सकता है। उदाहरण के लिए केरल के साधारण नगर कडप्पा के कालेज में हिन्दी के प्राध्यापकों की संख्या नौ है। जबकि इस समय उत्तर प्रदेश के प्रमुख महानगर और उत्तर भारत के प्रमुख और प्राचीन कालेज 'आगरा-कालेज' में हिन्दी के ६ अध्यापक नहीं हैं और साधारण कालेजों की तो बात ही क्या है। वहाँ एम० ए० में हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी इसी प्रकार अधिक है। हमें प्रसन्नता है कि केरल के अग्रणी प्रचारक प्रोफेसर ए० चन्द्रहासन को भारत सरकार ने हिन्दी निदेशालय का निदेशक बनाया है। प्रो० चन्द्रहासन इस काम को बड़ी दक्षता और परिश्रम से कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वान हिन्दी की सेवा करते हुए केरल के हिन्दी प्रेम का परिचय दे रहे हैं। अतएव श्री पिल्ले के विचारों को पढ़कर हिन्दी प्रदेशी जनता की आँखें खुलें और वे लोग भी अपने विचारों को बदलें जो दक्षिण में हिन्दी विरोध का नारा लगाते हुए नहीं अघाते।

हिन्दी में तार या मनीग्रार्डर न लेने पर कठोर कार्यवाही—

केन्द्रीय संचार मन्त्रालय के राज्य मन्त्री श्री आई. के. गुजराल ने यह घोषणा की है कि जो कर्मचारी हिन्दी में आए हुए तार तथा मनीग्रार्डर न लेगा उसके विरुद्ध केन्द्रीय प्रसारण मन्त्रालय कठोर कार्यवाही

करेगा। क्योंकि ये कर्मचारी जनता को व्यर्थ ही निरुत्साहित करते हैं तथा हिन्दी की उपेक्षा करते हैं। श्री गुजराल ने जालन्धर में पञ्जाब क्षेत्र के डाक-तार विभाग के उच्चाधिकारियों को मीके पर ही इस सम्बन्ध में आदेश दिया कि वे इस प्रकार की आई हुई जनता की शिकायतों को अधिक ध्यान से सुनें जिसमें हिन्दी में लिखे हुए तार तथा मनीग्रार्डर के न लेने की शिकायत की गई हो। अधिकारी वर्ग कर्मचारियों को भी इस बात का निर्देश कर दें कि इस तरह के तार और मनीग्रार्डर पर पूरी निगरानी रख कर उसे सर्वप्रथम करें।

राजकीय कार्य हिन्दी में करने पर पुरस्कार—

भारत-सरकार ने अपने नये आदेशों के अनुसार केन्द्रीय कर्मचारियों तथा भारत-सरकार के प्रतिष्ठानों, अधिकरणों और निगमों के कर्मचारियों को सरकारी कामकाज हिन्दी में करने की छूट दी है और साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि हिन्दी में काम करने वाले कर्मचारियों को किसी भी हिन्दी पत्र का अंग्रेजी अनुवाद भी नहीं देना पड़ेगा। न उसके लिये उन्हें किसी भी प्रकार से बाध्य ही होना पड़ेगा। फल-स्वरूप अनेक कर्मचारियों ने अब अपना कार्य हिन्दी में करना प्रारम्भ कर दिया है।

केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी-परिपद् ने हिन्दी में काम करने वाले कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के लिए 'हिन्दी व्यवहार प्रतियोगिता' का भी आयोजन किया है। यह प्रतियोगिता १५ नवम्बर, १९६८ से प्रारम्भ होकर १४ जनवरी १९६९ तक दो महीने की अवधि तक रहेगी। इस समय में जो कर्मचारी सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग करेंगे, उनके द्वारा हिन्दी में लिखे गये प्रत्येक १० शब्दों के पीछे १-१ अंक देकर अधिक अंक प्राप्त करने वाले कर्मचारियों को लगभग एक हजार रुपये के पुरस्कार दिए जायेंगे। साथ ही अधिक अङ्क प्राप्त करने वाले कर्मचारी को एक प्रशस्ति-पत्र भी दिया जाएगा। प्रशस्ति पत्रों की संख्या कई होगी जोकि एक सीमा के ऊपर अङ्क पाने वाले कर्मचारियों को प्राप्त होंगे। इस

प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए कर्मचारियों को कोई प्रवेश शुल्क नहीं देना पड़ेगा ।

इस प्रकार की प्रतियोगिता से निश्चय ही कार्यालयों में हिन्दी प्रयोग पर प्रभाव पड़ेगा और लोग हिन्दी की ओर मुखरित होंगे । इसके अतिरिक्त हिन्दी के पत्रों की कार्यवाही हिन्दी में होने से उसकी लोक-प्रियता भी बढ़ेगी तथा पारस्परिक कार्यों में सहयोग की भावना भी प्रबल होगी ।

तमिलनाद में हिन्दी-शिक्षा की योजना विचाराधीन—

तमिलनाद में हिन्दी की शिक्षा देने के लिए दक्षिण भारत हिन्दी प्रचारक सभा की 'जनता हिन्दी विद्यालय' स्थापित करने की योजना पुष्टि के लिए केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के विचाराधीन है ।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की सरकार द्वारा त्रिभाषा फार्मूला स्वीकार न करने के निर्णय के कारण तमिलनाद में हिन्दी का शिक्षण स्थगित कर दिया गया था ।

दक्षिण हिन्दी प्रचार सभा के महासचिव श्री एस० आर० सा गपाणि ने कहा है कि जनता हिन्दी विद्यालय की योजना, हिन्दी शिक्षा के लिए अलग हिन्दी स्कूल खोलने की नहीं, बल्कि उन सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक संस्थाओं को हिन्दी शिक्षकों की सेवाएँ उपलब्ध हेतु है जो अपने सदस्यों को हिन्दी पढ़ाने में दिलचस्पी रखती हों ।

उन्होंने कहा कि यह सोचना गलत है कि विद्यालय राज्य में हिन्दी के कई स्कूल खोलना चाहता है ।

हिन्दी शिक्षण के मार्ग में सभा के सामने सबसे बड़ी दिक्कत धन का अभाव है । इसलिए वह हिन्दी शिक्षा के लिए शिक्षकों को नियुक्त करने में असमर्थ है ।

उन्होंने कहा कि हिन्दी विरोधी आन्दोलन के

वावजूद तमिलनाद के युवकों में हिन्दी के प्रति उदासीनता नहीं है । १९६७ में मद्रास से २५५०९ विद्यार्थी हिन्दी परीक्षा में बैठे, जिनमें से ७२७३ शहर के थे । इसी तरह आन्ध्र से ३९२८१ और मैसूर से ४६४४८ विद्यार्थी हिन्दी परीक्षाओं में बैठे ।

उन्होंने कहा कि जिस तरह दक्षिण में हिन्दी का प्रचार हो रहा है उसी तरह सभा ने उत्तर भारत में दक्षिण भारतीय भाषाओं के प्रचार की योजनाएँ तैयार की हैं । उत्तर भारत के दक्षिण भारतीय संगठनों में दक्षिण भारतीय भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था की जायगी । इसके शिक्षक वही होंगे जो हिन्दी और किन्हीं दो भारतीय भाषाओं की जानकारी रखते हों । सभा परीक्षाओं का आयोजन करेगी और सफल परीक्षार्थियों को डिप्लोमा वितरित करेगी । राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश ने इस योजना के प्रति दिलचस्पी प्रकट की है ।

दिल्ली में हिन्दी ही एकमात्र सरकारी भाषा—

दिल्ली प्रशासन ने स्वराष्ट्र मन्त्रालय की नाराजगी के वावजूद यह घोषणा कर दी है कि हिन्दी ही दिल्ली की एकमात्र सरकारी भाषा है । हाँ, केवल उन अहिन्दी भाषी राज्यों को, जो अंग्रेजी अनुवाद पर ही बल देंगे, हिन्दी के पत्रों के साथ उनके अंग्रेजी अनुवाद भेजे जायेंगे । वैसे अधिकांश राज्य इस बात के लिए सहमत हो गये हैं कि उनसे उनकी क्षेत्रीय भाषा में ही पत्र-व्यवहार किया जाय । दिल्ली प्रशासन ने अंग्रेजी के आंशिक प्रयोग की अवधि अधिक से अधिक पाँच वर्ष रखने का निश्चय किया है । दिल्ली प्रशासन की ओर से केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री को यह भी सुझाव भेजा गया है कि देश भर में शिक्षा-पद्धति एक जैसा ही होनी चाहिये ।

वीरगाथा काल के उपेक्षित तत्व

डा० मोहनलाल जिज्ञासु

हिन्दी-साहित्य का इतिहास कई अध्यायों में विभक्त है। इसके आरम्भ-काल को 'वीरगाथा काल' की संज्ञा दी गई है। इसे 'प्राचीन काल', 'आदिकाल' एवं 'चारण काल' के नामों से भी अभिहित किया गया है। काल एक ही है, केवल नाम भिन्न-भिन्न पड़ गये हैं। इसका समय ११ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक माना गया है। इस काल के कवियों में दो-चार के नाम अवश्य लिये जाते हैं जिन्हें अप्रामाणिक भी सिद्ध किया गया है। इतना होते हुए भी तत्कालीन काव्य-प्रवृत्तियों का निरूपण बराबर होता आया है। परन्तु इस काल के विषय में इतिहास-लेखकों एवं विश्वविद्यालय के हिन्दी-विद्यार्थियों में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं जिनका निराकरण आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गया है। अस्तु,

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में वीरगाथा-काल के साहित्य को राजस्थान का साहित्य अवश्य माना गया है किन्तु इस साहित्य का अध्ययन करना तो दूर रहा, इस प्रान्त पर भी सहृदयता से विचार नहीं हुआ है। इस काल का प्रणेता राजस्थान में शायद ही आया हो और शायद ही उसने यहाँ के सांस्कृतिक वैभव को जानने की चेष्टा की हो। जो कुछ लिखा गया, वह अधिकांश बाहर के विद्वानों का है। अतः सिद्धान्त के रूप में जो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए हैं, वे सत्य से दूर तथा ज्ञान से शून्य हैं। आत्मीय परिचय के अभाव में इस उपेक्षित साहित्य के प्रति न्याय नहीं हो पाया। मुसलमानी तथा अंग्रेजी शासन काल में राजस्थान छोटे-मोटे १६ विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ था। साहित्य भी इधर-उधर बिखरा हुआ पड़ा था। इन समस्त राज्यों में

धूम-फिर कर सामग्री का आकलन करना सहज काम नहीं था। १५ अगस्त, सन् ४७ ई० के नव प्रभात में उन्हें एक सूत्र में पिरोया गया फलतः प्राच्य विद्या प्रतिष्ठानों में सामग्री जमा होने लगी। स्वतन्त्र भारत में राजस्थान नये स्वरूप को लेकर अन्य राज्यों के सम्मुख आया है। अतः 'वीर गाथा काल' नामक अध्याय पर पुनर्विचार करना आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

इतिहास के आरम्भ काल को जो 'वीरगाथा काल' की संज्ञा दी गई है, वह भ्रान्तिपूर्ण है। सन्देह नहीं कि राजस्थान में वीर गाथाओं की एक समृद्ध परम्परा के दर्शन होते हैं किन्तु यह परम्परा छिन्न-विच्छिन्न न होकर क्रमबद्ध रूप से विकसित होती रही है। इसका लोप कभी नहीं हुआ। मध्य एवं आधुनिक काल में तो इन गाथाओं का क्रम बड़े वेग से चलने लगता है। यदि सच पूछा जाय तो राजस्थान में आज भी 'वीरगाथा काल' चल रहा है। अतः १४ वीं शताब्दी तक के साहित्य को ही इतिहास में स्थान देना तथा आगे की एकदम उपेक्षा कर देना न्यायसंगत नहीं दिखाई देता।

कहते हैं, यह युद्ध का समय था अतः ओजस्विनी भाषा में वीर रस का प्रतिपादन हुआ है, जिसमें शृङ्गार का पुट रहता था। प्रबन्ध के भीतर कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति भले ही दृष्टिगोचर हो, मुक्तक-रचना पर यह नियम लागू नहीं होता। यह सच है कि राजस्थानी साहित्य वीर रस में सानी नहीं रखता। भारतीय साहित्य में यही इसकी मौलिक देन है। ऐसा साहित्य सब कालों में समान रूप से उपलब्ध होता है। केवल वीरगाथा काल के सम्बन्ध में ही यह बात

नहीं। उल्लेखनीय है कि राजस्थानी में अन्य रसों में भी रचनाएँ हुई हैं लेकिन प्रधानता वीर रस की ही है। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिक काल के समानान्तर अन्य रसों में भी रचनाएँ देखने को मिलती हैं।

वीरगाथा काल की सर्वाधिक विशेषता उसका युद्ध-वर्णन है। ऐसे फड़कते हुए वर्णन विश्व-साहित्य में भी नहीं मिलेंगे लेकिन युद्ध का कारण स्त्री ही हो, ऐसी बात भी नहीं। युद्धों का विश्लेषण करने से पता चलेगा कि अधिकांश युद्ध धरती-प्रेम के कारण हुए हैं। अपने राज्य की रक्षा हेतु यहां के योद्धा को बाह्य आक्रमणकारियों का डटकर सामना करना पड़ा है। व्यर्थ के दम्भ तथा थोथी शान में आकर राजपूत राजपूत से भिड़ गया है। वर्षों पुराने बैर को उसने सूद सहित चुकाया है। पारस्परिक ईर्ष्या-ग्लानि तथा विवाह सम्बन्धी झगड़ों को लेकर भी कलह उत्पन्न हुए हैं किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े हैं। 'जर-जोरू-जमीन' के झगड़े सब देशों और कालों में होते आये हैं, फिर राजस्थान की नारी के सिर पर यह दोष क्यों लगाया जाता है? राजस्थानी नारी की महिमा तो उन सतियों में देखने को मिलेगी जो चितारोहण कर परलोक में भी अपने पति का साथ देती हैं। वस्तुतः राजस्थान के वीरों और वीरांगनाओं ने वीर धर्म का जिस तत्परता से पालन किया, वह हमारे सामने एक आदर्श है।

वीरगाथा काल की रचनाओं का मुख्य उद्देश्य आश्रयदाताओं की प्रशंसा करना बताया जाता है। आश्रयदाता योग्य है तो उसकी प्रशंसा करने में क्या बुराई है? यह तो मनुष्य की एक सहज प्रवृत्ति है। फिर सब रचनाओं में प्रशंसा ही प्रशंसा की गई हो, ऐसा भी तो नहीं दिखाई देता। यह लक्ष्य करने की बात है कि चारण क्षत्रिय का समालोचक है। इस नाते वह गुणों के साथ अवगुणों की भी समीक्षा करता आया है। उसकी लोकप्रियता के मूल में यही भावना अन्तर्निहित है। चारण साहित्य के प्रसंग में

एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलेंगे जहाँ क्षात्र-धर्म से प्रेरित होकर कवियों ने अपने आश्रय-दाताओं की निन्दा भी की है। यह निन्दात्मक काव्य 'विसहर' नाम से पुकारा जाता है और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

वीरगाथा काल के कवि स्वतन्त्र रचना न कर किसी राजा के आश्रय में रहते थे। आश्रय किसी-न-किसी का तो होता ही है। उन दिनों सत्ता राजा महाराजाओं के हाथ में थी अतः उनके आश्रय में रहकर कवि तथा लेखक मान-सम्मान तथा पुरस्कार प्राप्त कर सकता था। आज भी सत्ता कांग्रेस के हाथ में है तो सब उसका आश्रय प्राप्त करने के लिए दौड़-धूप कर रहे हैं। स्पष्ट है, भौतिक ऐश्वर्य के लोभ में पड़कर प्रत्येक मनुष्य तथा जाति स्वभावतः सत्तारूढ़ दल अथवा जाति से अपना सम्बन्ध जोड़ती आई है। सिद्धान्त रूप में कवि कहने के लिए स्वतन्त्र है किन्तु व्यवहार में वह पराधीन है। अपने धर्म, समाज एवं राजनीति से वह ऊपर नहीं उठ पाया है। आज कितने ही कवि एवं लेखक सत्तारूढ़ दल के द्वार खटखटाते रहते हैं, कितने ही विभाग एवं केन्द्र स्थापित हैं जिनमें प्रशंसा के लिए पानी की तरह पैसा बहाया जाता है। परिस्थिति से विवश होकर ऐसा करना पड़ता है या साहित्य के उच्चादर्श को ध्यान में रखकर ऐसा किया जाता है? उच्चादर्श को ध्यान में रखकर साहित्य की सर्जना करने वाले बिरले ही मिलेंगे।

वीरगाथाकाल की रचनाओं पर एक आरोप यह भी है कि उनमें कल्पना से बहुत काम लिया गया है। एक सामान्य सी बात को बड़ा-चढ़ाकर झूठ से भी आगे पहुँचाया गया है। साहित्य में ऐसी कौन सी विधा है, जिसमें कल्पना से काम नहीं लिया जाता? मेरा तो दृढ़ विश्वास है, साहित्य कल्पना के बिना जीवित नहीं रह सकता। कल्पना ही उसे सजीव बनाती है और मानव समुदाय के बीच गोचर रूप में लाती है। गाथाओं में इसका उपयोग सबसे अधिक होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि असत्य भाषी है। कल्पना का आवरण हटाकर देखने से उसके

भीतर सत्य का स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई देने लगता है। अतः जो लोग साहित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक तथ्यों को ढूँढ़ने के आदी हो गये हैं, उन्हें चाहिए कि वे इतिहास पढ़ें, साहित्य नहीं।

वीरगाथाकाल की रचनाओं में इतिहास की अपेक्षा काव्य की मात्रा अधिक बताई जाती है। यह निष्कर्ष आसानी से नहीं निकाला जा सकता क्योंकि अभी तो आलोच्य काल की रचनाएँ ही अन्वकारमय हैं, उनके मूल रूप का कहीं पता नहीं है। राजस्थान में ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने काव्य के लक्षणों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्होंने ऐतिहासिक व्योरो को काव्य का स्वरूप प्रदान किया है। काव्य की दृष्टि से कहीं-कहीं तो वर्णन इतना शुष्क दिखाई देता है कि ऐतिहासिकता ही उसका एक-मात्र आकर्षण बन जाता है। मेरी समझ में चारण कवि इतिहास का आश्रय लेकर ही काव्य-लोक में विचरण करता है। चाहे गाथा लिखे अथवा गीत, वह अपना यह स्वभाव नहीं छोड़े पाता। फलतः उसमें काव्य तथा इतिहास दोनों का सामंजस्य देखने को मिलता है। ऐसी रचना को 'ऐतिहासिक काव्य' कहा जा सकता है।

वीरगाथाकाल के प्रायः सभी कवि चारण-भाट बताये जाते हैं। चारण और भाट को एक ही मान लेना आपत्तिजनक है। ये दोनों ही पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं। भाट बहियाँ रखते हैं और वंशावलियाँ बनाते हैं। भाटों का सम्बन्ध राजपूत जाति से है, अन्य जातियों से नहीं। राजस्थान में चारण एवं राजपूत का घनिष्ठ सम्बन्ध देखते ही बनता है। एक गुरु है, दूसरा शिष्य। चारण ने अपने ओजस्वी भाषणों से प्राणों का मोह छुड़ाकर वीरों को स्वदेश एवं परहितार्थ मृत्यु का आलिङ्गन करना सिखाया है। आवश्यकतानुसार वह स्वयं भी अपने स्वामी के साथ युद्धभूमि में उपस्थित होकर तलवार से जूझ पड़ा है। उसने इतिहास एवं कविता के माध्यम से राजपूत जाति का पथ-प्रदर्शन किया है। चारण काव्य है तो राजपूत उसका विषय है। इस काल के सभी कवि

चारण नहीं हैं। राजस्थान में चारणोत्तर साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, जो पृथक् अध्ययन का विषय है।

भाषा की दृष्टि से वीरगाथाकाल 'डिंगल' (राजस्थानी) साहित्य का पर्याय बन गया है। इसे हिन्दी का प्राचीन रूप माना जाता है। आरम्भ में हिन्दी ने जिन डिंगल (राजस्थानी) शब्दों तथा उनके रूपों को अपनाया वे इतने गरिष्ठ सिद्ध हुए कि वह उन्हें पचा न सकी। उसने कर्णकटु शब्दों को छोड़कर कर्णप्रिय शब्दों को ग्रहण किया, अतः राजस्थानी को वह भूल गई। राजस्थानी भी हिन्दी में अन्य प्रांतीय भाषाओं के सदृश धुलमिल नहीं पाई। कालान्तर में, उसका पृथक् शब्द-कोष, व्याकरण, छन्द एवं अलंकार शास्त्र बनकर तैयार हुए जो इसके पृथक् अस्तित्व की सूचना देते हैं।

राजस्थानी भाषा एवं साहित्य को जातीय, धार्मिक अथवा मौखिक कहकर उपेक्षा और अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। साम्प्रदायिक होने के कारण ही किसी सुन्दर कला-कृति की अवज्ञा करना अपनी संकीर्ण विचारधारा का परिचय देता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्ति-युग की रचनाएँ और क्या हैं? वस्तुतः जीवन में जिन-जिन दिशाओं से प्रेरणा मिलती है उनमें जाति और धर्म का विशिष्ट स्थान है। यदि सच पूछा जाय तो जातीय, धार्मिक एवं मौखिक होने से ही राजस्थानी साहित्य उनके शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विकसित हुआ है।

हिन्दी-साहित्य के सिंह-द्वार पर वीरगाथा काल का जो खजाना मिला उसमें पूँजी बहुत थोड़ी निकली और हम उसका भी मूल्यांकन नहीं कर पाये। नीचे राजस्थानी साहित्य की नवीन रत्न-राशियों के नाम दिये जा रहे हैं जो इसी काल की हैं, अतः इतिहास लिखते समय इनका समावेश होना ही चाहिए। ये समस्त रत्न-राशियाँ चारण-कुल की हैं और हिन्दी-जगत को उपहार में दी जाती हैं। खोज से चारणोत्तर कुल की अन्य मणियों का भी पता लगाया जा सकता है।

१. **चरपटनाथ**—इनका जन्म राजस्थान में हुआ था। ये गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग के एक दृढ़ स्तम्भ थे। इनका उद्भव काल ११ वीं शताब्दी माना जाता है। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—(१) चरपट शतक (पद्य), (२) चरपट सबदी (पद्य), (३) चरपट रसायन (गद्य)।

२. **ऊजली कवयित्री**—यह पोरबन्दर (सुदामा-पुरी) के अमरा चारण की एक कन्या थी जिसका धूमलीनगर के जेठवा जाति के मेह (मेहा) नामक राजकुमार से प्रेम हो गया था। इसका समय १२वीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) है। इसके नाम के उपलब्ध होने वाले दोहे-सोरठों की संख्या १५०-२०० तक पहुँच जाती है। प्रेम-पद्धति और आदर्श की दृष्टि से यह काव्य दर्शनीय है।

३. **मावल बरसड़ा**—ये कच्छ के शासक रावल लखधीर के समकालीन थे और रामादेडी गाँव में रहते थे। इनकी विलक्षण प्रतिभा एवं कवित्व-शक्ति से प्रभावित होकर लखधीर ने बारह गाँवों का पट्टा दिया था। इनके रचे हुए लाखा-फुलाणी के नाम से वाद-विवाद के रूप में दोहे उपलब्ध होते हैं।

४. **आसा**—ये कान्हड़देव के राज्याश्रित कवि थे। इन्होंने स्फुट रचना के द्वारा अपने आश्रयदाता तथा तत्कालीन राजकुमारों को सत्पथ पर लगाया था।

५. **हैपकरण साँदू**—ये मेवाड़ राज्यान्तर्गत हैमार वेड़ी गाँव के निवासी थे और जैसलमेर के महारावल दुर्जनसाल के आश्रित थे। इनके वीररसात्मक स्फुट गीत उपलब्ध होते हैं। जो मौलिक उद्भावनाओं में बेजोड़ हैं।

६. **हरसूर बारहठ**—ये मारवाड़ के भीमाड़ गाँव के रहने वाले थे और गोवाजी के पुत्र थे। इनकी लिखी हुई फुटकर कवितायें उपलब्ध होती हैं।

७. **आल्हा बारहठ**—ये जैसलमेर राज्यान्तर्गत हड्डवा गाँव के निवासी थे और भाँगोजी के पुत्र थे। इन्होंने राजपूत जाति की खूब सेवा की। इनका लिखा हुआ 'वीरमायण' ग्रन्थ उपलब्ध होता है।

८. **भीमा कवयित्री**—यह मावल बरसड़ा की

कन्या थी। इसके लिखे हुए शृङ्गारपरक कतिपय दोहे उपलब्ध होते हैं।

९. **लूणकरण महड़**—ये मेवाड़ के महाराणा मोकल के समकालीन थे। इन्हें मेवाड़ में बाड़ी और मारवाड़ में राजोला नामक गाँव पुरस्कार स्वरूप मिले थे। इनकी लिखी हुई फुटकर रचनायें उपलब्ध होती हैं।

१०. **चानण खिडिया**—ये मारवाड़ राज्यान्तर्गत वीर गाँव के निवासी थे और राय रणमल के समकालीन थे। इनके बनाये हुए दोहे एवं गीत उपलब्ध होते हैं।

११. **सिवदास गाडण**—ये गागरोनगढ़ (कोटा) के निवासी थे। इनको तत्कालीन राजा अचलदास खीची का राज्याश्रय प्राप्त था। इनका लिखा हुआ 'अचलदास खीची री वचनिका' नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिसमें पद्य के साथ-साथ गद्य भी है।

१२. **पसाइत गाडण**—ये मारवाड़ राज्य की प्राचीन राजधानी मंडोवर के रहने वाले थे और राव रणमल के समकालीन थे। रणमल को लक्ष्य करके इन्होंने विविध छन्दों की सृष्टि की है जिनका काव्य के साथ ऐतिहासिक महत्व भी है।

१३. **पीठवा मिश्रण**—ये जैसलमेर राज्यान्तर्गत बोगनियाई गाँव के निवासी थे और समरसी के पुत्र थे। इनका प्रण था कि दान लूँगा तो अरब पसाव ही लूँगा। कहीं गया तो एक रात से अधिक न रुकूँगा और कविता लिखनी हुई तो एक दोहे से अधिक नहीं बनाऊँगा। कहते हैं, एक दोहे पर इन्हें अरबपसाव मिला था।

१४. **खेंगार महड़**—ये मारवाड़ राज्य के राजोला गाँव के निवासी थे। इनके समय में महाराणा कुम्भा सिंहासनारूढ़ थे। इनके लिखे हुए फुटकर गीत मिलते हैं।

१५. **वारू साँदा**—ये महाराणा हम्मीर के समय में पाँचसौ घोड़े लेकर गुजरात से मेवाड़ बुलाये गये थे। इन्हीं घोड़ों के बल पर महाराणा ने अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त किया था। इन्हें बारह गाँव (शेष पृष्ठ ८० पर)

लोक साहित्य की महत्ता

डा० श्रीराम शर्मा

लोक साहित्य क्या है ? इसका संस्कृति से क्या सम्बन्ध है ? आदि ऐसे प्रश्न हैं, जो लोक-साहित्य के स्वरूप, आत्मा विषयक जानकारी प्रदान कराने में सहायक होते हैं। साधारण विचारक के मन में यह जानने के पूर्व कि लोक-साहित्य क्या है, एक साधारण प्रश्न यह उठता है कि लोक-साहित्य का अध्ययन क्यों किया जाना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर दिये बिना प्रस्तुत विषय-मन्थन के लिए लोक-साहित्य-दधि की हाँडी में 'रई' ही नहीं पड़ सकेगी।

लोक-साहित्य के अध्ययन से किसी प्रदेश के सांस्कृतिक-इतिहास को सुरक्षित रखा जा सकता है। क्योंकि लोक-साहित्य में ही सांस्कृतिक इतिहास की कड़ियाँ मौखिक परम्परा से चली आती हैं। इसके अतिरिक्त लोक-साहित्य में भूगोल और विशेषतः आर्थिक-भूगोल का भी वर्णन मिलता है। लोक-गीतों में बनारस का साड़ी-उद्योग, बरेली का सुरमा-उद्योग और जयपुर का चुनरी-छपाई उद्योग आदि का तो यथातथ्य चित्रण लोक साहित्य में ही मिल सकता है। लोक-जीवन की अनेक परम्पराएँ, परिपाटियाँ, भूत-कालीन संस्थाओं की प्रतीक बनकर उनके स्मारक की भाँति लोक-साहित्य में शेष रह जाती हैं।

लोक-साहित्य की सबसे महान् उपयोगिता भाषा-शास्त्र की दृष्टि से होती है। लोक-साहित्य वास्तव में भाषा-शास्त्री के लिए अमूल्य निधि और अक्षय भण्डार होता है, जिसमें अनेक अनमोल रत्न छिपे पड़े रहते हैं।

आज जो राष्ट्रभाषा में शब्दावली की कमी का अनुभव किया जा रहा है, वह लोक-साहित्य के अध्ययन से पूर्ण हो सकता है। निस्सन्देह राष्ट्रगिरा

माँ भारती की भोली को उमकी विभिन्न बालियों के लोक-साहित्य द्वारा समृद्ध किया सकता है।

निष्कर्ष यह है कि लोक-साहित्य में मानव-शास्त्र, सांस्कृतिक इतिहास, आर्थिक भूगोल, समाज, धर्म, नीति और भाषाशास्त्र आदि अनेक दृष्टियों से अनेक अनमोल रत्न भरे पड़े हैं।

“लोक-साहित्य उस निर्मल दर्पण के समान है, जिसमें जनता जनार्दन का अखिल तथा विराट स्वरूप पूर्णरूपेण दिखाई पड़ता है। लोक-संस्कृति का जैसा दिव्य तथा अकृत्रिम प्रतिबिम्ब इस साहित्य में उपलब्ध होता है, उसका दर्शन अन्यत्र कहाँ ? × × × इसमें जिस समाज का चित्रण किया गया है, वह स्वस्थ, सदाचारी एवं धर्म भीरु है; जैसे नीति की प्रतिष्ठा की गई है, वह कल्याण मार्ग की ओर ले जाने वाली है, वह मंगलमय की प्रदर्शिका है; जिस धर्म का वर्णन किया गया है वह संसार में शान्ति तथा प्रेम का उपदेश देता है; जिस आर्थिक संघटन का उल्लेख हुआ है, वह पीड़ित तथा दलित मानवता के शोषण के ऊपर अवलम्बित नहीं है; जिस राजनीति का दिग्दर्शन कराया गया है, वह दलीय संघर्ष और विषाक्त वातावरण से कोसों दूर है। धर्म, समाज नीति का यही मनोरम चित्रण इस साहित्य की महत्ता में चार चाँद लगा देता है।”^१

लोक—लोक शब्द अंग्रेजी के 'फोक' शब्द की समान ध्वनि के आधार पर ग्रहण किया गया होगा। हमारे शास्त्रों में 'लोक वेदे च' की दो समानान्तर

^१ लोक-साहित्य की भूमिका—डा० कृष्णदेव उपाध्याय पृ. २७१।

धाराओं का उल्लेख भी हुआ है। वहाँ 'वेद' की धारा में शिष्ट, सुपठित जनों को समाहित किया गया है और लोक की परिधि में अशिक्षित वर्ग को। वास्तव में लोक शब्द उस अर्द्धशिक्षित जनों के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए जो चाहे ग्रामीण या नगर के क्षेत्र में निवास करते हों। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसीलिए 'लोक' को ग्राम का पर्याय बताने वालों के विरोध में स्पष्ट लिखा था—

"लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।"^१ इस शब्द का उपर्युक्त अर्थ देने वाले अनेक शब्द भी प्रचलित हैं, जैसे—लोक-परम्परा, लोक-मानस, लोक विश्वास, लोकमान्यताएँ आदि। इन सभी शब्दों में लोक एक वर्ग का वाचक शब्द है जो अशिक्षित या अर्द्ध शिक्षित जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करता है।

लोक और ग्राम—लोक शब्द के समानार्थी 'ग्राम' शब्द का प्रयोग लोक-साहित्य के अग्रणी संग्रहक श्री रामनरेश त्रिपाठी ने किया था। किन्तु लोक शब्द के भाव को ग्राम शब्द व्यक्त नहीं कर पाता। क्योंकि 'लोक' शब्द में 'ग्राम' तथा 'नगर' दोनों में समान रूप से पाये जाने वाले अशिक्षितों या अर्द्धशिक्षितों को समेट लिया जाता है। इस प्रकार 'लोक' की व्याप्ति 'ग्राम' शब्द से अधिक विस्तृत है।

लोक-साहित्य—लोक-साहित्य की परिभाषा अनेक विद्वानों ने की है। उनमें से कतिपय परिभाषाएँ दृष्टिगत करना श्रेयस्कर होगा। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने "ऐसी मौखिक अभिव्यक्ति की कृति को जिसमें लोक की युगयुगीन वाणी-साधना समाहित रहती हो तथा जिसमें लोकमानस प्रतिबिम्बित रहता हो, लोक-साहित्य माना है। लोक-साहित्य की सबसे समीचीन परिभाषा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने की है—

"सम्यक्ता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है, उस

की आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि और सुख-दुख की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है, उसी को लोक साहित्य कहते हैं। इस प्रकार लोक साहित्य जनता का वह साहित्य है, जो जनता द्वारा जनता के लिए ही लिखा गया हो।"^२ यही परिभाषा किंचित परिवर्तित रूप में श्रीयुत गूमर महोदय ने दी है—

"A Ballad is the poetry of the people by the people for the people."^३

लोक साहित्य शब्द के स्थान पर कुछ भारतीय विद्वानों ने जनपदीय साहित्य कहने की वकालत की है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने जनपदीय के स्थान पर 'लोक' शब्द को ही अधिक व्यापक सामान्यता का बोध कराने वाला बताते हुए, अधिक समीचीन ठहराया है।^४ वास्तव में हमें इस विरोध में नहीं पड़ना चाहिए और दोनों शब्दों को, जो अपनी विशिष्टताएँ लिए हैं ग्राम अथवा नगरों में रहने वाले उस अशिक्षित वर्ग के लिए प्रयोग कर सकते हैं, जो मूढ़ाग्रहों, अन्ध-विश्वासों तथा रूढ़िग्रस्त परिपाटियों से मुक्त न हुए हों। यद्यपि 'जनपदीय' शब्द का प्रयोग हमें अधिक समीचीन प्रतीत होता है, तथापि प्रचलन के सम्मुख नतमस्तक होकर 'लोकसाहित्य' शब्द को ही स्वीकृति देने में कोई हानि नहीं।

लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य—रूढ़िग्रस्त सर्वसाधारण अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जनता का साहित्य लोक साहित्य और सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत जनता की कृति परिनिष्ठित साहित्य कहलाता है। एक-एक वर्ग के मानस की कृति होने के कारण अपने-अपने वर्ग का चित्रण ही इन साहित्यों में मिलता है। परिनिष्ठित साहित्य निश्चित रूप से लिखित होता है, जबकि लोक-साहित्य लिखित एवं मौखिक दोनों रूपों में मिलता है। किन्तु प्रायः भारतीय एवं विदेशी विद्वान् लोकसाहित्य को मौखिक

^३ हि० सा० का वृ० इति० १६ भाग पृ० १६।

^४ The popular Ballad p. 417

^५ हिन्दी साहित्य कोश डा० वर्मा।

^१ जनपद वर्ष १, अङ्क १, पृ० ६५।

^२ हिन्दी साहित्य कोश पृष्ठ ६८२।

परम्परा पर ही जीवित मानते हैं।

लोक-साहित्य की एक विशेषता यह भी होती है कि वह जनपदीय जनों द्वारा रचित होने के कारण ऐसी स्वतन्त्र जीवित लोकभाषा में रचा जाता है जो अपने स्वतन्त्र स्वरूप की अमिट छाप लोक-साहित्य पर छोड़ता है। लोक-साहित्य लोकभाषा में अभिव्यक्त होने के कारण शास्त्रीय सिद्धान्तों में नहीं बंधता। लोक-साहित्य के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसके रचयिता का नाम भी ज्ञात नहीं रहता। लोक-साहित्य की रचना करने वाला एक व्यक्ति तो होता है किन्तु बाद में भी उसमें लोकमानस की खरादेँ लग-लगकर शुद्ध रूप रह जाता है और उस घिस-घिस कर बचे रहने वाले स्वरूप का रचयिता एक न होकर समस्त लोकमानस हो जाता है। यही कारण है कि उसके रचयिता का नाम तक ज्ञात नहीं रहता। यह मान्यता परम्परा-प्रवाही लोक-साहित्य के विषय में तो शत प्रतिशत उचित ठहरती है। कुछ लोक-साहित्य इसका अपवाद स्वरूप भी रहता है अर्थात् उसके रचयिता के नाम की छाप भी मिल ही जाती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिष्ट साहित्य के रचयिता का नाम तो निश्चित रूप से अवश्य ही ज्ञात रहता है क्योंकि वह लिखित रहता है किन्तु लोक-साहित्य के रचयिता का प्रायः पता नहीं रहता क्योंकि वह मौखिक परम्परा पर ही जीवित रहता है।

लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य का स्पष्ट अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। लोक-साहित्य वास्तव में परम्परा की वेड़ियों से युक्त विस्तृत वाङ्मय होता है, जिसके कुछ चुने-चुने भावों को लेकर मर्यादित शिष्ट साहित्य की सर्जना होती है। इसीलिए शिष्ट साहित्य परम्परा का साहित्य होता है, परम्परा मुक्त नहीं। लोक-साहित्य के प्रकृत-प्रसूत रूप से छन-छन कर आने वाले अंश को ही शिष्ट साहित्य कह सकते हैं। जिसकी उचित शास्त्रीय परम्परा के अनुसार काट-छाँट करदी जाती है। इसीलिए फ्रांसिस गूजर ने कहा है—“They are fresh with

the open air. Wind and sunshine play through them.” इसी प्रसंग में सुप्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने कहा है—“Their inspiration comes fresh from nature; they are never got up, they flow from a sure spring.”^१

लोक साहित्य के अन्तर्गत लोककथाएँ, लोक गीत, लोक गाथाएँ, लोकनाट्य नामक विधायें आती हैं। इन विधाओं के अतिरिक्त प्रकीर्ण शीर्षक के अन्तर्गत पहेलियाँ, लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे आ सकते हैं।

साहित्य का जीवन और संस्कृति से भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यों तो, साहित्य समाज का दर्पण होता है यह उक्ति लोक साहित्य पर अक्षरशः सत्य ठहरती है। इसकी व्याख्या करने से पूर्व संस्कृति शब्द और लोक संस्कृति के क्षेत्र को भी स्पष्टरूप से समझने की आवश्यकता होगी।

संस्कृति एवं लोक संस्कृति—इन दोनों का अन्तर समझने के पहले संस्कृति की एक परिभाषा देखना अधिक समीचीन होगा। श्री शिवदत्त सानी के शब्दों में—“संस्कृति से मानव समाज की उस स्थिति का बोध होता है जिससे उसे सुवरा हुआ, ऊँचा, सम्य आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है।” जबकि लोक संस्कृति की परिभाषा करते हुए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने स्पष्ट किया है कि वह लोक के सर्वसाधारण की संस्कृति होती है—“लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जनसाधारण की उस संस्कृति से है, जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी, जिसकी उत्स भूमि जनता थी और जो बौद्धिक विकास के निम्न घरातल पर उपस्थित थी।”^२ कुछ विद्वानों ने पाश्चात्य विद्वानों की अनुकृति करते हुए असम्य एवं पिछड़े लोगों की सम्यता को लोक संस्कृति कहा है^३ जो निश्चित रूप से भारतीय

^१ The study of folk songs.

^२ हि० सा० का वृ० इतिहास १६ वां भाग भूमिका।

^३ डा० रवीन्द्र भ्रमर : पञ्चावत में लोकतत्त्व पृ० २१।

लोक संस्कृति के लिए उचित प्रतीत नहीं होती ।

दोनों प्रकार की संस्कृतियों में कुछ आन्तरिक साम्य तो अवश्य रहता है । अन्तर इतना है कि शिष्ट जनों की संस्कृति निश्चित रूप से लोक-संस्कृति का ही परिनिष्ठित रूप होता है । लोक संस्कृति से सुन्दर एवं सुग्राह्य तत्त्वों को छान-छानकर शिष्ट संस्कृति में ले लिया जाता है । अतः शिष्ट संस्कृति का आधार लोक संस्कृति ही है । डा० बन्धुदेव उपाध्याय ने ऋग्वेद एवं अथर्ववेद से उदाहरण देते हुए इसी तथ्य की पुष्टि की है—

“लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है । किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है । इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है । ये दोनों संहिताएँ दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचायिकाएँ हैं ।

निष्कर्ष यह है कि आदिम युग की मानवीय प्रवृत्तियाँ जहाँ परम्परा एवं रूढ़ियों के सहारे ज्यों की त्यों चली आ रही हों, वह लोक संस्कृति का क्षेत्र है और उसमें संशोधन एवं काट-छाँट करके जो परिनिष्ठित रूप प्रचलित रह गया, वह शिष्ट संस्कृति का क्षेत्र है ।

लोक साहित्य एवं संस्कृति—लोक साहित्य चूँकि लोक मानस की प्रतिच्छाया होता है, तथा लोक जीवन का प्रतिबिम्ब, इसलिए लोक साहित्य

^१ समाज—वर्ष ४ अङ्क ३, १९५२ ई. पृ० ४४६ ।

(शेषांश पृष्ठ ७६ का)

पुरस्कार में मिले जिनमें आंतरी गाँव प्रमुख केन्द्र था । इनके लिखे हुए स्फुट छन्द उपलब्ध होते हैं ।

१६. टोडरमल छाछड़ा—ये मेवाड़ के निवासी थे और महाराणा रायमल के समकालीन थे । इनके फुटकर गीत मिलते हैं ।

आलोच्य काल में इन सोलह प्रामाणिक कवियों के अतिरिक्त पन्द्रह चारण कवि ऐसे भी हुए हैं जिनका जीवनवृत्त तो मिलता है किन्तु कविता उपलब्ध नहीं

में लोक संस्कृति का समग्र चित्र मिलता है । दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि लोक संस्कृति का इतिहास तो लोक साहित्य में ही उपलब्ध होता है । डा० कन्हैयालाल सहल के शब्दों में—

“सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री तो लोक साहित्य में ही सुरक्षित रहती है । संस्कृति के भग्नावशेषों के आधार पर जो लोक साहित्य में छिपे पड़े रहते हैं, सांस्कृतिक इतिहास का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है ।” लोक संस्कृति की सीमाओं में लोक जीवन में पायी जाने वाली रूढ़ियों, परम्पराओं, अंधविश्वासों एवं उसके सामान्य जीवन की वेश-भूषा आवास, तथा जीवनयापन के अन्य प्रसाधन, लोक के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन एवं धार्मिक जीवन का समग्र चित्र समा जाता है । लोक साहित्य में लोक संस्कृति के इन समस्त अंग-उपांगों का सच्चा चित्र पाया जाता है ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति का सच्चा तथा स्वाभाविक चित्रण लोक साहित्य में उपलब्ध होता है । लोक संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को देखने के लिए हमें लोक साहित्य का ही अनुसंधान करना होगा । लोक कवि ने समाज की जिस समता या विषमता का अनुभव किया है, उसका उसी रूप में चित्राङ्कन भी किया है । पारिवारिक जीवन के जो मर्मस्पर्शी दृश्य यहाँ उपलब्ध हैं, उसके दर्शन अन्यत्र कहाँ ? ऐसा ज्ञात होता है कि जन-जीवन को चित्रित करने वाले चतुर चितेरे ने बड़े संयम से अपनी तूलिका का प्रयोग किया है ।

—हिन्दी-विभाग, धर्म समाज कालेज, अलीगढ़ ।

होती । ये कवि हैं—चन्द, अमरा, गीधा, लूजा, सहज पाम, मांडण, बीसलदेव, दूलाजी, पूँजो, राजसिंह, लूणपाल, चहिय, माला, बाजूड़ एवं पालमा । इन समस्त कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को विस्तार से जानने के लिए उज्ज्वल चारण सभा, जोधपुर द्वारा प्रकाशित ‘चारण साहित्य का इतिहास’ भाग १ देखना लाभदायक सिद्ध होगा ।

—शतदल निवास, रातानाडा, जोधपुर ।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानी-कला

• डा० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

हिन्दी कहानी को कल्पना-लोक की बिहार-भूमि, असम्भाव्य घटनाओं के घटाटोप तथा मानवैतर एव अमानवीय जगत से घरती पर लाकर आदर्श से अव-मुण्डित कर प्रेमचन्द ने प्रतिष्ठित किया तथा उसमें भावुकता का प्राण-संचार प्रसादजी ने किया। फलतः कहानी कल्पना की वस्तु न रहकर जीवन की व्याख्या बन गई। लेकिन उसमें चित्रित जीवन यथार्थ होते हुए भी लेखक के अपने आदर्शों के अनुकूल ढलता हुआ सा प्रतीत हुआ। लेखक ने उस चित्र के लिए जो फलक चुना, वह ऐसा था जिसमें चित्र को स्वयं उभरने का अवकाश नहीं मिला, अपितु उसे फलक के अनुरूप ढलना पड़ा। इसी कारण आलोचकों ने प्रेमचन्द पर उपदेशक होने का आरोप लगाया। प्रसादजी ने कवि होने के कारण उस जीवन में भावना का रंग भरने का प्रयत्न किया। उसे अधिक मनोरम तथा आकर्षक बनाया, फिर भी वे संस्कारवश आदर्श से ही अनुप्राणित रहे। कहानी को जीवन की वास्तविक भूमि पर उतार कर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसे उन्मुक्त वायु-मण्डल में साँस लेने का अवसर आने के कथा-कारों ने दिया, जिनमें श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नाम प्रमुख है।

कहानी के क्षेत्र में प्रवेश करते समय वाजपेयीजी भी आदर्श की ओर ही उन्मुक्त प्रतीत होते हैं। 'अन्धाय', 'सत्य की जय', 'अधिकार' तथा 'दो सम्पादक' इत्यादि अनेक कहानियाँ आदर्शवादी ही हैं, जिनमें लेखक जानबूझ कर किसी आदर्श की प्रतिष्ठा करता हुआ प्रतीत होता है। इन कहानियों में जिन चरित्रों की अवतारणा की गई है, वे स्वयं गतिशील

नहीं प्रतीत होते, अपितु लेखक के संकेतों पर चलते हुए दृष्टिगत होते हैं। किन्तु प्रति सीध ही वाजपेयीजी की कला में निखार आया और उन्होंने अपनी कहानियों का घरातल मनोवैज्ञानिक बना लिया।

मानव-जीवन में प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह प्रेम के ही किसी विशिष्ट रूप द्वारा परिचालित है। उसके अभाव में जीवन असम्भव नहीं तो निस्सार अवश्य है। फ्रायड प्रेम के प्रत्येक स्वरूप का मूलभूत काम-भावना को मानता है और उसी का उद्घाटन साहित्य में देखता है। उसके विचार से साहित्य अवचेतन का विस्फोट है, जो काम-वर्जनाजनित कुण्ठाओं का परिणाम है। यदि वास्तव में फ्रायड का विचार सत्य है, तो प्रेम की पावनता और आदर्श की कल्पना भी सम्भव नहीं है तथा साहित्य केवल यौन-वर्जना जनित कुण्ठाओं और विक्षोभों की अभिव्यक्ति मात्र है। किन्तु क्या साहित्य में केवल काम-कुण्ठाओं का ही उन्मीलन होता है? प्रेम का स्वस्थ एवं स्वाभाविक उद्घाटन नहीं होता? क्या यौन-वर्जनायें ही जीवन में सर्वत्र व्याप्त हैं? क्या उन्हीं की समष्टि का नाम जीवन है? अथवा जीवन में यौन-सम्बन्धों का स्वस्थ स्वरूप भी दृष्टिगत होता है? भिन्न लिंगों के पारस्परिक आकर्षण में क्या केवल यौन विकार ही आधारित हैं अथवा उस आकर्षण का आधार हृदय का पावन मधुर भाव भी हो सकता है? वाजपेयीजी ने अपनी कहानियों में द्वितीय दृष्टिकोण का ही उद्घाटन किया है। फ्रायड की मान्यताओं के विपरीत मनोवैज्ञानिक घरातल प्रेम की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के सुष्ठु स्वरूप को उपस्थित करने में

वाजपेयीजी ने अपनी कला को निखार दिया है। उन्होंने व्यक्ति के अन्तः में प्रवेश करके उसकी भाव-वृत्तियों का उद्घाटन किया है। वे उसके अन्तः में उद्बलित भावोन्मेषों को प्रकाश में लाये हैं तथा मानस की गहराइयों में छिपे हुए मधुर तत्व को उन्होंने उभारा है 'निदिया लागी' की पत्नी तथा 'सूखी लकड़ी' की लकड़ी बेचने वाली के प्रति करुण-मधुर आकर्षण में क्या यौन-वासना ही व्यञ्जित है? हृदय का स्वाभाविक उद्रेक ही आकर्षण के मूल में है, जो करुणा से अनुप्राणित है। यह सत्य है कि वाजपेयीजी की 'स्वयं वर', 'जहां सभ्यता सांस लेती है', तथा 'भाँकी' इत्यादि अनेक कहानियाँ उन्मुक्त-प्रेम का समर्थन करती हैं, किन्तु वासना का कर्दम उनमें भी नहीं है, वे भी केवल यौन-वृत्ति का पोषण नहीं करतीं और न गहिर् विचारों को उद्दीप्त करती हैं। इन कहानियों में उन्मुक्त प्रेम को सामाजिक औचित्य के परिप्रेक्ष्य में लाने का प्रयत्न किया गया है। क्योंकि दमित प्रेम कुण्ठाओं को जन्म देता है, जो जीवन को अवांछित कटुता से भर देता है। परिस्थितियों से समझौता कर लेने पर भी एक कसक, एक पीड़ा तथा एक टीस जीवन को कचोटती रहती है। जो कभी-कभी अभिव्यक्ति का भी अवसर पा लेती है। वाजपेयीजी की कहानियों में यह टीस भी एक तरल माधुर्य के साथ व्यक्त हुई है, जो मन की गहराइयों में उतर कर उसे आन्दोलित कर देती है। 'पेंसिल स्केच' में कुन्दन के अन्तिम क्षणों की स्मृति, 'हत्यारा' में रमेश का आत्म-शोध, 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' में दिवाकर की विशिष्टता, 'ट्रेन पर' में सुनन्दा की विवशता तथा 'आत्मघात' में भिक्षुक रोगी (गुरुदेव) के अनुताप में कितनी मर्मन्तक पीड़ा है? लेकिन यह पीड़ा अवचेतन की अवांछित कुण्ठाओं का परिणाम नहीं है, अपितु जाग्रत जीवन की स्वाभाविक अनुभूति है, तभी उसमें हृदय-वर्जन की शक्ति है।

मनोवैज्ञानिक धरातल पर ही वाजपेयीजी ने प्रेम के निष्कलुष, पावन तथा स्पृहणीय स्वरूप को भी चित्रित किया है। 'लिली' की लिली कवि कमलाशंकर

की प्रतिभा पर मुग्ध है। परिचय के अभाव में भी वह उससे निरपेक्ष रहकर उसका विल चुका कर अपने पावन प्रेम से पाठक के मन को शुचिता से भर देती है। मैना श्यामसुन्दर को रोग-मुक्त कर स्वयं रोग-ग्रस्त होकर प्रेम में निहित त्याग की महत्ता प्रमाणित करती है। 'थोड़ी सी पीली' की विधवा बतासो काल के जीवन को गति देकर कर्तव्य की प्रेरणा देती है। 'टिकुली' वंशी को पतन से बचा कर आत्म-परिशोधन का मार्ग बताती है तथा 'इन्द्रजाल' की राधा दिलीप के माध्यम से सामाजिक मर्यादा का रहस्य समझाती है। व्यक्तिगत परिस्थितियों के परिवेश में प्रेम का यह उज्ज्वल स्वरूप लेखक ने उपदेशक बन नहीं, अपितु कलाकार बन कर उपस्थित किया है। पात्रों के मानस का मन्थन करते हुए उनकी वृत्तियों में जो परिष्कार किया गया है, वह स्वाभाविक तथा मनोविश्लेषण के सर्वथा अनुकूल है।

प्रेम चाहे किसी भी प्रकार का हो, जीवन में ऐसा दंश दे जाता है, जो मन को निरन्तर पीड़ा से मथता रहता है। उससे मुक्ति के लिए, उसका स्वरूप अन्यत्र देखना पड़ता है अथवा आत्म-तुष्टि का अन्य आधार खोजना पड़ता है। 'मिठाई वाला' खिलौने और मिठाई बेचते समय अपने चतुर्दिक शिशुओं को पाकर उन्हीं में अपने मृत-बालकों की भाँकी पाकर अपने वात्सल्य को साकार करता है। कवाड़ी वर्ष में एक बार ही सही अपनी सही स्मृति को उभार कर मिलन की तृप्ति का अनुभव कर लेता है। प्रेम के कारण जीवन में व्याप्त यह करुणा कितनी मार्मिक है? वाजपेयीजी इसकी गहरी अनुभूति कराने में पूर्ण सफल हुए हैं।

वाजपेयीजी ने केवल प्रेम-सम्बन्धों अथवा यौन-आकर्षणों में ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि को जागरूक नहीं रखा है, अपितु जीवन के अन्य क्षेत्रों का चित्रण भी इस भाव-भूमि पर किया है। 'स्पदर्श' का बनवारी निवारण की शव-यात्रा में अपनी वेदना को बुलाने का भरसक प्रयत्न करता है। बाहर से वह विनोद और उपहास में अपने को भुलाना चाहता है, किन्तु

उसका अन्तर निरन्तर आहत होकर मूक चीत्कार करता रहता है। निवारण का प्रेम और विरोध उसके मानस को इतना आक्रान्त करता है कि शव-यात्रा से लौटते समय वह विवश हो जाता है तथा अपनी अर्जित पूँजी को पहले ही निवारण के निरीह एवं अकिञ्चन वच्चों को वसीयत कर उसके साथ ही जगत से प्रस्थान करता है। लेखक ने वनवारी के हृदय-मन्थन का चित्र न खींचकर भी खींच दिया है। 'परीक्षा' का अतुल परीक्षा की तैयारी के कारण एक क्रान्तिकारी को एक रात्रि भी शरण न देकर उसके मृत्यु-दण्ड के मूल में अपने को अनुभव कर जीवन भर अनुताप की अग्नि से जलता रहता है। 'चोर' का अल्लारवखू गोपीनाथ के एक वाक्य "मैं इन दिनों जरा काम की तलाश में रहता हूँ, बेकार घूमना अब मुझे अच्छा नहीं लगता" से अपने को घृणा से मण्डित देखकर घुटन का अनुभव करता है तथा शवन्त से उपेक्षा पाकर अपने जीवन को बदल देता है और शवन्त भी उसकी जिन्दादिली से आहत होकर वेश्यावृत्ति के परित्याग को विवश हो जाती है। जीवन के ये परिवर्तन नितान्त वैयक्तिक होते हुए भी मनोवैज्ञानिक हैं।

वाजपेयीजी की कहानियाँ घटना-प्रधान नहीं हैं, चरित्र प्रधान हैं। एक छोटे से तन्तु के आधार पर वे कहानी का वितान तानकर व्यक्ति की अन्तरात्मा का उद्घाटन सफलता के साथ करते हैं। उनके पात्र इस जीवन और जगत के प्राणी होते हुए भी अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को लेकर आते हैं। उन्होंने अपने पात्रों के बाह्य चित्र अधिक नहीं दिये हैं, अपितु उनके मानस में प्रवेश करके उनके अन्तर का उद्घाटन किया है। अपनी अनुभूति की गहराई से उनमें प्राणों का संचार किया है। इसी कारण वे अपने में एक वैशिष्ट्य रखते हुए भी भिन्न प्रतीत नहीं होते तथा अपने चरित्र की मामिकता की छाप पाठक के हृदय पर भी गहरी डालते हैं। पात्रों के चरित्राङ्कन में लेखक ने प्रत्यक्ष प्रणाली को न अपनाकर परोक्ष प्रणाली को अपनाया है। पात्रों का आत्म-निरीक्षण

उनके संवाद और उनकी प्रक्रिया ही उनके चरित्रों को सामने लाती है। यही लेखक की कुशलता है।

वाजपेयीजी के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि उन्होंने आभिजात्य तथा मध्यम वर्ग के जीवन को ही अपनी कहानियों का आधार बनाया है। किन्तु 'थोड़ी सी पी ली', 'टिकुली', 'सूखी लकड़ी', 'चोर' तथा 'सम्बन्ध' इत्यादि कहानियाँ प्रमाणित करती हैं कि वाजपेयीजी ने निम्नवर्गीय मानव के स्पन्दन को भी सुना है। उन्होंने उनके हृदय में भी प्रवेश किया है! उन्होंने देखा है, प्यार की घारा निम्न वर्ग के अन्तः में भी प्रवाहित होती है। 'सम्बन्ध' का नरायण पत्नी के वियोग की व्यथा से ही काम पर नहीं जा पाता। यहाँ तक कि जमींदार का कोप-भाजन बनने के भय से गाँव छोड़ने का निश्चय कर लेता है। 'टिकुली' का सात्विक प्रेम, 'सूखी लकड़ी' की नायिका का निराशापूर्ण साधनामय करुण त्याग कितना भावपूर्ण है? अतएव वाजपेयी जी पर लगाया गया यह आरोप नितान्त तथ्यहीन है। उन्होंने आभिजात्य वर्ग पर स्थान-स्थान पर व्यंग्य करके निम्न वर्ग के प्रति अपनी करुणा की भी व्यञ्जना की है—'ये स्त्रियाँ, जो मजदूरी करने आई हैं, कितने सवेरे घर से चली हैं और कब पहुँचेंगी, कोई अपने घर में बच्चे को छोड़ आई है, किसी का पति खेत में काम करने लगा होगा, किसी के कोई होगा ही नहीं और काम करते-करते अगर उनकी सुविधा ही जाती है और काम की गति में क्षणिक मन्दता हो ही उठती है, तो वह भी हमारी आज की सम्यता को सहा नहीं है। (निदिया लागी) यहीं नहीं उन्होंने भगवान तक को नहीं छोड़ा है—'एक निराश्रित बूढ़ा तक को तुम इतना दुःख देते हो और कहलाते हो दयाघाम। तुम्हारी सृष्टि में ऐसे-ऐसे नर-पिशाच बसते हैं कि अस्थियों के ढाँचे तक को आघात दबाये बिना नहीं चूकते और तुम कहलाते हो जगदीश। निरंकुश, यही है तुम्हारा न्याय?' (आत्मघात), इससे प्रतीत होता है कि वाजपेयीजी के हृदय में दोनों के प्रति दयाद्रव्य है।

कहानी-कला का उत्कर्ष पाठक की जिज्ञासावृत्ति

को जगाये रखने में है। पाठक आरम्भ से एक अनिश्चय तथा सन्देह में उलझता हुआ जब अन्त में रहस्योद्घाटन पाकर स्तम्भित रह जाता है, तब कहानी की सफलता समझी जाती है। वाजपेयीजी की कहानियाँ इस दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। 'अपमान का भाग्य', 'भाँकी', 'त्याग', 'हत्यारा', 'उस क्षण का सुख', 'विम्ब-प्रतिविम्ब', 'यदि', 'ट्रेन पर', 'कवाड़ी', 'इन्द्रजाल', 'हारजीत', 'निदिया लागी', 'कला की दृष्टि', 'आत्मघात', 'चोर', 'स्पर्धा' इत्यादि कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। इनमें पाठक अन्त में जाकर चमत्कृत रह जाता है। किसी-किसी कहानी का अन्त तो इतना मार्मिक होता है कि जिसका प्रभाव पाठक के हृदय पर अत्यन्त गहरा पड़ता है तथा वह मधुर करुण भाव से विभोर हो जाता है। यथा:—ठीक तो है। लकड़ी सब चिर गई है। केवल एक कुन्दा शेष है। के—व—ल। (सूखी लकड़ी) पात्री के जीवन की पूँजीभूत करुणा जैसे एक वाक्य में व्यंजित होकर पाठक के मर्म को विद्ध कर गई।

वाजपेयीजी को कवि-हृदय प्राप्त है। इसी कारण उनकी कहानियाँ भावुकता से परिपूर्ण हैं। उनमें मुक्तक-काव्य जैसी अनुभूति की तीव्रता तथा प्रभाव की मार्मिकता है। शैली में भी काव्यत्व स्पष्ट झलकता है। यथा:—'स्वप्न से अकल्पित मिलन की यह विस्मय विदग्धता, प्रशान्त धारा के बीच यह अकस्मिक भ्रम संपात, मानो भोली मृगछोनी की लज्जा-शीलता का चरम उत्थापन। (भाँकी) कहीं-कहीं भाषा में अलंकरण की छटा काव्य-तत्त्व को और भी तीव्र कर देती है। वाजपेयीजी ने प्रतीकात्मक भाषा द्वारा भी मार्मिक चित्र अंकित किये हैं—सूखी लकड़ी, हाँ सूखी लकड़ी है वह। उसके जीवन के आभ्र-तरु में न यष्टि है न किसलय। मंजरियों की कौन कहे कितने पथिक उसके निकट से आ-आ चले गये, कितने पक्षी उसके निरभ्र अम्बर में नित्य उड़ते रहते हैं, किन्तु इससे क्या? वह सूखी लकड़ी जो है।' (सूखी लकड़ी) नारी के वेदना एवं निराशा से पूर्ण उपे-

क्षित जीवन का मार्मिक चित्र कितना काव्यमय है! लेखक ने अनेक कहानियों के शीर्षक भी प्रतीकात्मक दिये हैं—'सूखी लकड़ी', 'खाली बोटल', 'अँधेरी रात', 'इन्द्रजाल' इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। प्रतीकात्मक शैली के प्रयोग से कहानियों के प्रभाव में अभिवृद्धि हो जाती है और वे वांछित लक्ष्य तक पहुँच जाती हैं।

कहीं-कहीं वाजपेयीजी की दार्शनिकता भी कहानियों में अभिव्यक्त हो जाती है। इसी कारण इन कहानियाँ सामान्य घरातल से उठ जाती हैं और विशिष्ट पाठकों की वस्तु हो जाती हैं। यह दार्शनिकता दो रूपों में दिखाई पड़ती है—'एक तो पात्रों के जीवन में, दूसरे लेखकों की अपनी उक्तियों में। 'निदिया लागी' के बेनीमाधव तथा विच्छेदक पंकज ऐसे ही पात्र हैं, जिनके जीवन में एक दार्शनिक गम्भीरता है। ऐसे पात्रों का चरित्र विशिष्ट रेंखाओं से घिरा हुआ है। कहीं-कहीं भाषा में भी दार्शनिकता का पुट मिलता है—यह तो क्षण-भंगुर है, यह तो आज है, कल नहीं, जो अक्षय है, प्रमृत है, अनन्त है उसे ही क्यों नहीं खोजता?' (विद्रोही) इन दार्शनिक विचारों से कहानी में गम्भीरता आ जाती है। हृदय और बुद्धि का यह समन्वय भी वाजपेयी की कला की विशेषता है।

वाजपेयीजी ने ऐतिहासिक प्रणाली में अधिक कहानियाँ लिखी हैं। किन्तु उत्कृष्टतम कहानियाँ आत्मचरित प्रणाली में लिखी गई हैं। आत्मचरितोत्तमक कहानी लिखना वास्तव में अत्यन्त जटिल है। उनमें कहानीकार को अपनी ही आत्मा का उद्घाटन जैसे तटस्थ रहकर करना होता है। वाजपेयीजी इसमें पूर्णतया सफल हुए हैं। उन्होंने 'पुनर्विवाह', 'परीक्षा' तथा 'प्रयाण' इत्यादि कहानियाँ पत्र-प्रणाली में भी सफलता के साथ लिखी हैं।

इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से वाजपेयीजी आज के सफल कहानीकार हैं। उन्होंने कहानी-कला को सूक्ष्मता, गहराई और हृदय का रस देकर पोषित किया है। इसी कारण उनमें मर्म को स्पर्श करने की शक्ति है। आशा है, वे नवीन परिवेश में भी अपनी कहानी-कला का चमत्कार प्रकाशित करते रहेंगे।

—ए १५, यूनिवर्सिटी क्वार्टर
अमरावती रोड, नागपुर

‘कुरुक्षेत्र’ का काव्यात्मक आकष

● डा० रामगोपाल शर्मा ‘दिनेश’

काव्य मनुष्य की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की एक प्राचीन विधा है। पहले यह शब्द साहित्य का पर्यायवाची था किन्तु बाद में इसके दृश्य-काव्य एवं श्रव्य-काव्य—केवल दो भेद माने गये। दृश्य-काव्य रूपक या नाटक कहा जाने लगा। उसमें जब गद्य की प्रधानता हो गई तो ‘काव्य’ शब्द का अर्थ अपनी पुरानी व्यापकता छोड़कर कविता के अर्थ में संकीर्ण हो गया किन्तु उसके स्वरूप की मूल प्रवृत्तियाँ उसमें निहित रहीं। आज तक कविता या काव्य शब्द साहित्य की जिस विधा के लिए प्रयुक्त होता रहा है, वह विधा आधुनिक या मध्यकाल की सृष्टि नहीं है। अनुभूति की अभिव्यक्तिगत लक्षण खोजने वाले आरम्भिक आचार्यों ने इस विधा को क्रमशः जन्म दिया था और उसके सिद्धान्त बनाये थे। उस परम्परा में इस विधा का जिस रूप में विकास हुआ है और लक्षण निर्धारण किए गये हैं, उन्हें आधार बनाये बिना किसी भी आधुनिक कवि या आलोचक की किसी कृति-विशेष को काव्य या कविता या उसके भेद—प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य आदि कहना उचित नहीं है। कोई भी कवि या आलोचक अगर उस परम्परा से अलग हटकर किसी नये स्वरूप में अपनी अनुभूतियाँ अभिव्यक्त करता है, तो उस स्वरूप को उसे किसी नई विधा का नाम देने का आग्रह रखना चाहिए, न कि पुरानी विधा के उन पुराने नामों का आग्रह रखे, जिनको सिद्धान्ततः वह नहीं मानता। अस्तु

श्री रामधारीसिंह ‘दिनकर’ का ‘कुरुक्षेत्र’ ग्रन्थ-काव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि :—

(१) इसमें अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है।

(२) इसमें काव्य के शिल्प को आधार बनाया गया है।

(३) निषेधात्मक दृष्टि से कहें तो हमें कहना चाहिए कि इसमें उन बातों का अभाव है, जो बातें काव्य के स्वरूप और तत्त्वों की विरोधिनी हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन आचार्यों ने काव्य की परिभाषा निर्धारित करते समय काव्य के जो भेद किये थे, उनमें से यह किसके अन्तर्गत आता है। यहाँ काव्य शब्द का प्रयोग उस सङ्कीर्ण अर्थ में ही किया जा रहा है, जिस अर्थ में वह आधुनिक-काल तक प्रयुक्त होता आया है। अतः इसमें दृश्य-काव्य नामक भेद सम्मिलित नहीं है। इस प्रकार जिस अर्थ में काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है, उनके निम्नांकित भेद प्राचीन आचार्यों ने निर्धारित किये हैं :—

प्रबन्ध-काव्य—वह काव्य जिसमें आरम्भ से अन्त तक किसी कथा के माध्यम से समस्त अभिव्यक्ति में एकसूत्रता का निर्वाह किया जाता है तथा सामान्य स्थिति से जिसे आरम्भ करके क्रमशः आरोह पूर्वक अवरोहात्मक उपसंहार की ओर ले जाया जाता है। इस प्रकार के काव्य में केवल कथा की ही नहीं, विचार और भाव की भी एकसूत्रता रहती है। विचार अन्त में जाकर किसी उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है और भाव अन्त में जाकर किसी प्रधान रस को निष्पन्न करता है। कथा, भाव एवं विचार के इन समानान्तर सूत्रों के निर्वाह का उत्तरदायित्व काव्य के नायक को निभाना पड़ता है। वह नायक अनुभव करने वाले अन्तर की, कवि की, निजी अनु-

भूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप होता है। वह स्वयं सूक्ष्म रूप में नायक बनकर पूर्वोक्त तीनों सूत्रों में एकाकार होकर बहता हुआ पाठक के हृदय में प्रवेश करता है और इसीलिए उसे भी वही अनुभूति देता है, जो अनुभूति कवि के व्यक्ति को हुई थी। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध-काव्य के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि उसमें आरम्भ से चलने वाले कथा, विचार और भाव के सूत्र कहीं भी में खण्डित न हों, अपने नायक का साथ न छोड़ें और पाठक तक फल के रूप में उस अनुभूति को ज्यों का त्यों पहुँचाये, जो अनुभूति कवि को हुई थी। इस प्रकार रचे जाने वाले प्रबन्ध-काव्य के विषय-विस्तार की दृष्टि से खण्डकाव्य, एकार्थक काव्य और महाकाव्य नामक तीन भेद किये गये हैं।

मुक्तक-काव्य—काव्य का दूसरा भेद मुक्तककाव्य होता है और इसके गीत, प्रगीत, मुक्तक तथा सङ्कीर्ण अर्थ में 'कविता' आदि कई उपभेद होते हैं।

चूँकि दिनकरजी ने कुरुक्षेत्र को स्वयं प्रबन्ध-कविता कहा है, इसलिए मुक्तक-काव्य और उसके उपभेदों की चर्चा करना यहाँ आवश्यक प्रतीत नहीं होता। हमें केवल यह देखना है कि दिनकरजी और उनके आलोचक प्रबन्ध-कविता कहकर कुरुक्षेत्र को किस प्रकार का प्रबन्ध काव्य मानते हैं और उसका आधार क्या है ?

दिनकर ने स्वयं भूमिका में यह स्वीकार किया है कि—“कुरुक्षेत्र की रचना भगवान् व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर या भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था; किन्तु तब वह रचना शायद प्रबन्ध के रूप में न उतर कर मुक्तक बनकर रह गई होती। तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्ध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी।”

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि दिनकरजी तीन बातें स्वीकार करते हैं :—

१—जो कुछ उन्होंने कहा है, यदि उसमें से १ निवेदन, पृष्ठ १।

युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग हटा दें तो भी कोई बाधा नहीं आती।

२—वे इसे मुक्तक न मानकर प्रबन्ध ही कहना चाहते हैं।

३—उनके पास इसे प्रबन्ध का रूप देने को कोई निश्चित योजना न थी।

इन तीनों बातों में परस्पर विरोधाभास है। पहली और तीसरी बात से कवि के कथन के आधार पर ही यह सिद्ध होता है कि यह प्रबन्ध काव्य नहीं है। अब यदि कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध-काव्य मानने के लिए कवि के दृष्टिकोण पर ध्यान दिया जाय, तो केवल एक ही तर्क शेष रह जाता है कि कवि स्वयं अपने काव्य को प्रबन्ध-काव्य मानना चाहता है। अधिकांशतः मुक्तक-काव्य का प्रेमी कवि 'दिनकर' इस काव्य में प्रबन्ध-काव्य पर अधिक बल क्यों दे रहा है, इसका कारण समझ में नहीं आता। लेकिन कवि के दृष्टिकोण का आधार कुछ भी हो, हमें तो उसकी रचना के विश्लेषण से जो तथ्य उपलब्ध होता है, उसी को प्रमाण मानना चाहिए, अतः अब हम रचना का विश्लेषण करके देखें कि वह प्रबन्ध-काव्य है या नहीं ?

प्रबन्ध-काव्य के आधार पर कुरुक्षेत्र एक प्रबन्ध-काव्य सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि—

१—कुरुक्षेत्र में कोई ऐसी कथा नहीं है, जिसका क्रमबद्ध विकास हुआ हो। ऐसी घटनाएँ भी नहीं हैं, जिनको किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रमशः संगुफित किया गया हो, जिस प्रकार 'प्रिय-प्रवास' में किया गया है। सत्य बात तो यह है कि कुरुक्षेत्र में घटनाएँ हैं ही नहीं और इसीलिए कथावस्तु का भी निर्माण नहीं हो सका है, महाभारत के युद्ध का अवसान युधिष्ठिर के मन में जो ग्लानि उत्पन्न करता है, उसके पश्चात् की मनःस्थिति ही काव्य का विषय बनी है और उस मनःस्थिति को निवारित करने के लिए भीष्म पितामह के उपदेशों की योजना की गई है। उन उपदेशों में कारण के रूप में द्रौपदी के अपमान आदि के कुछ संकेत मिलते हैं, जिन्हें घटना नहीं कहा

जा सकता। अतः समस्त काव्य में विषय गतिशील नहीं है। एक ही केन्द्र पर युधिष्ठिर और भीष्म के भाव और विचार अभिव्यक्त होते रहे हैं। फलतः काव्य-विषय के विकास, आरोह, अवरोह आदि के लिए कुरुक्षेत्र में कहीं अवकाश नहीं है।

२—यदि भाव के विकास को आधार बनाकर कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध-काव्य माने तो वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि भावों को प्रवाहित करने वाली कथा के अभाव में काव्य की समस्त भाव-व्यञ्जना कवि की आत्मानुभूति की व्यञ्जना बन गई है, जो भीष्म और युधिष्ठिर आदि पात्रों के होते हुए भी पात्रों की भाव-व्यञ्जना नहीं है। वह प्रत्यक्षतः कवि की अपनी लगने वाली भाव-व्यञ्जना है। अगर पात्रों की भाव-व्यञ्जना हुई होती तो हम भाव में एक विकास-क्रम मान सकते थे और थोड़ी देर के लिए कथा की उपेक्षा भी कर सकते थे। किन्तु हम देखते हैं कि युधिष्ठिर और भीष्म दोनों ही भाव की दृष्टि से वास्तु की दीवार पर खड़े हैं। वे अपनी निजी भावानुभूति की स्थिति-जन्य दृढ़ता कहीं भी प्रकट नहीं कर सके। जहाँ एक सर्ग में भीष्म भाग्य का समर्थन करते हैं, वहाँ दूसरे सर्ग में वे ही भाग्य का विरोध करते हैं। इसी प्रकार भाव सम्बन्धी अन्य स्थितियाँ भी देखी जा सकती हैं। उन सब में विकास-क्रम नहीं है, केवल मानसिक सङ्घर्ष का क्रम है। किसी एक भाव की इस काव्य में प्रधानता नहीं है। भिन्न-भिन्न भाव भीष्म के हृदय में आते हैं और किसी एक विशेष भाव में सुनियोजित हुए बिना ही समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए यह काव्य प्रबन्ध-काव्य के लक्षणों के अनुकूल किसी रस की निष्पत्ति नहीं करता है, अतः भाव और रस की दृष्टि से भी कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध काव्य नहीं कहा जा सकता।

३—प्रबन्धकाव्य में पात्रों के चरित्रों का सुनियोजित विकास-क्रम अनिवार्य होता है, क्योंकि उनके बिना कथा और भाव का विकास नहीं हो सकता, न काव्य के उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। कुरुक्षेत्र में भीष्म और युधिष्ठिर केवल दो प्रत्यक्ष पात्र हैं किन्तु

ये भी नाम के लिये हैं, जैसा कि कवि ने स्वयं स्वीकार किया है। साथ ही इन पात्रों का चरित्र भी चित्रित नहीं हुआ है, अतः इस दृष्टि से भी प्रबन्ध-काव्य नहीं है।

४—प्रबन्ध-काव्य में विभिन्न वर्णनों की प्रधानता रहती है। कुरुक्षेत्र में महाभारत के अन्त का दृश्य मात्र वर्णित है। अतः वर्णनों का भी अभाव ही कहा जा सकता है। प्रकृति का वर्णन तो इस प्रबन्ध काव्य में बिल्कुल ही छूट गया है। एक सफल मुक्तक काव्य के लिए भी प्रकृति का वर्णन अपेक्षित होता है, किन्तु वह इसमें न होने के कारण एक श्रेष्ठ मुक्तक-काव्य मानने में भी बाधा आती है।

५—प्रबन्ध-काव्य में समय-संकलन आवश्यक होता है। कुरुक्षेत्र में महाभारत काल से लेकर आधुनिक विज्ञान के युग तक की भाव-भूमि चित्रित हुई है, इसलिए समय की एकता भी इस काव्य में नहीं है।

६—अब केवल एक आधार रह जाता है जिस पर हम कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध-काव्य कह सकते हैं। वह है विचार का आधार। कवि ने ‘युद्ध क्यों होता है और कैसे समाप्त हो सकता है?’ इस विचार को समस्त काव्य में फैलाया है। निश्चय ही कवि ने इन प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि समाज में विषमता-जन्य अन्याय और मानसिक क्षोभ पैदा करता है। जब वह क्षोभ चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब अन्याय को मिटाने के लिए जो अन्यायग्रस्त होता है, वह युद्ध को आमन्त्रण देता है, जब तक आर्थिक विषमता समाप्त नहीं हो जाती और गांधीवादी पद्धति पर सर्वोदयी साम्यवाद की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती, तब तक विवेक-शील मनुष्य को निरन्तर उसके लिये संघर्ष करते रहना चाहिये। पलायनवादी वृत्तियाँ अपना कर संघर्ष से न्यास लेना उचित नहीं। अगर बराबर सर्वोदयी साम्यवाद के उद्देश्य की पूर्ति के लिये शान्तिपूर्ण ढंग से संघर्ष किया जाय, तो उद्देश्य की उपलब्धि हो सकती है और एक ऐसा समय आ सकता है जब संसार में युद्ध की समस्या न रहे।

निश्चित ही कवि ने इस विचार का विस्तार से विकास किया है। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा, व्यक्ति-समाज, लोक-परलोक, आत्मा-ईश्वर आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से मुख्य विचार के सभी पहलुओं को देखा गया है। प्राचीन और आधुनिकतम आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक दृष्टियाँ, विचार को विकसित करने के लिये अपनाई गई हैं और उनकी उपलब्धि भी सामने आई है जिसको निष्कर्ष रूप में अन्तिम छन्दों में दिया गया है। अतः विचार की दृष्टि से हम इसे प्रबन्ध-काव्य मान सकते हैं। लेकिन यह दृष्टि परम्परागत दृष्टि नहीं है। प्रबन्ध-काव्य रचना की नई दृष्टि कही जा सकती है। जिसका दिनकरजी ने प्रयोग किया है। अगर इसको परम्परागत विचार-सूत्र के रूप में कथा के साध्यम से निभाया गया होता तो निश्चय ही यह एक शुद्ध प्रबन्ध-काव्य हुआ होता। चूँकि कवि का आग्रह उसे प्रबन्ध-कविता कहने का रहा है, इसलिए परम्परा से हटने वाली बात काव्य के स्थान पर कविता शब्द का प्रयोग करके उसने स्वयं स्वीकार की है। कविता में वह भाव निहित नहीं हो सकता, जो काव्य शब्द में विहित होता है, किन्तु कविता का विभाजन सर्गों में नहीं किया जाता। अविभाजित एक सूत्र में बँधी हुई काव्यात्मक अनुभूति

ही कविता होती है। दिनकरजी ने सर्गों का विधान करके कविता को उसकी संकीर्णता से हटाकर काव्य-शास्त्र के व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। अतः प्रबन्ध कविता कहकर वे इस आरोप से नहीं बच सकते कि—यह एक ऐसा काव्य है जिसकी रचना मुक्तक की शैली में की गई है किन्तु विचार और उसका विभाजन प्रबन्ध की शैली में किया गया है। अतः कुक्षेत्र एक असफल प्रबन्ध-काव्य ही नहीं, असफल मुक्तक काव्य भी है। कथा और भाव के विकास-क्रम के अभाव में यह काव्य प्रबन्ध-काव्य के आसन से गिर गया है, किन्तु गिरकर मुक्तक काव्य के आसन तक नहीं पहुँच सका, उससे प्रभाव लेकर बीच में अलग खड़ा हो गया है और समस्त भारतीय साहित्य की काव्य परम्परा में विधा की दृष्टि से अब भी अकेला खड़ा हुआ है। कथा के सूक्ष्म तन्तुओं की लेकर भाव का विकास-क्रम प्रबन्ध का आधार बना है। ऐसी कृतियों में कुक्षेत्र के पात्रों की तरह पात्रों को भी कठपुतली मात्र नहीं बनाया गया। 'सारथी', 'कनुप्रिया' और 'संशय की एक रात' काव्य इसका प्रमाण है।

—१५६, अशोकनगर, उदयपुर।

साहित्य-सन्देश का मूल्य

साहित्य सन्देश का वार्षिक मूल्य आजकल

६) रुपए है। परन्तु अब भी कुछ सदस्य ५) रुपए

का मनीआर्डर भेज देते हैं। फलतः हमें पत्राचार करना

पड़ता है और ग्राहक को १) रुपया भेजने में व्यर्थ खर्च होता

है। अतः सभी सदस्य अब ६) भेजने की कृपा करें। तथा जिन्होंने

५) भेजे हैं वे स्वतः ही १) भेज दें जिससे उन्हें पूरे वर्ष का ग्राहक बना

लिया जाय। *

—संतेजर

काव्येतिहास और काव्यात्मा

• प्रेमनारायण दुबे

भारतीय साहित्य में प्रारम्भ से ही काव्य शब्द का प्रयोग समस्त वाङ्मय के लिए होता था किन्तु 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' वाली उक्ति इसकी परिचायक है कि नाटक से ही काव्य के स्वरूप के अध्ययन की चेष्टा प्रारम्भ हुई, जिसके अन्तर्गत भरतमुनि से लेकर क्षेमेन्द्र तक के उन सभी काव्य शास्त्रियों के मताभिमत समाहित हो जाते हैं। जिन्होंने काव्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा, परखा तथा उसके स्वरूप निर्धारण के प्रयास किये। काव्य के अध्ययन मनन की इस दीर्घावधि को हम काव्य की आत्मा के विकास का युग कहकर सम्बोधित कर सकते हैं। इस समस्त काल में काव्य की आत्मा को लेकर बड़ा मतवैभिन्न दिख पड़ता है। भरत मुनि ने रस को, आचार्य भामह, उद्भट तथा रुद्रट ने अलंकार को, दण्डी तथा वामन ने रीति को, कुन्तक ने वक्रोक्ति को, आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव गुप्त ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। क्षेमेन्द्र का औचित्य निरूपण इनके सामंजस्य का एक प्रयास कहा जा सकता है किन्तु मौलिकता के दृष्टिकोण से उसका उतना महत्त्व नहीं है।

काव्य की आत्मा की खोज की शृङ्खला में सर्वप्रथम रसवादी भरतमुनि का नाम उल्लेखनीय है। रस के सम्बन्ध में राजशेखर का एक और मत मिलता है तदनुसार रस का निरूपण नन्दिकेश्वर ने सर्वप्रथम ब्रह्मा के उपदेश से किया किन्तु इस कल्पना में ऐतिहासिकता उतनी ही कम है जितनी अधिक कल्पना है और फिर नन्दिकेश्वर के मत का कोई पता भी नहीं मिलता। भरत ने नाट्य के संदर्भ में ही

काव्य का विवेचन किया है। उनकी परिभाषा है—

“मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदमुखबोध्यं युक्तिमन्तृव्यज्यम् ।
बहुमृतरसमार्गं सन्धिमन्वानयुक्तम्
सम्भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ॥”

नाट्यशास्त्र १६।११८

भरत ने काव्य में रस को महत्व दिया है। उन का रस सूत्र है :—“विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।” विभाव दो होते हैं आलम्बन तथा उद्दीपन। विभाव स्थायी भावों के उद्दीपक कारण हैं। अनुभाव भावानुभूति की व्यक्त चेष्टाएँ हैं यथा भ्रूक्षेप, कटाक्षादि। व्यभिचारी भाव अन्तर्गत रस में संचरण करने वाले स्थायी भाव हैं।

आचार्य भरत के उक्त सूत्र को लेकर भट्टलोल्लट शंकु, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने अपने मत प्रस्तुत किये। भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी हैं उनके मतानुसार कल्पना प्रसूत नायक-नायिका का रस वास्तविक होता है, जिसकी प्रतीति सामाजिक नट-नटी के माध्यम से करता है। उनका रस के प्रति दृष्टिकोण विषयगत है। शंकु अनुमितिवादी हैं। उन्होंने रस की प्रतीति न मानकर “चित्र-तुरंग-न्याय” से अनुमान की दृष्टि अपनायी है। भुक्तिवादी भट्टनायक ने विभावादि का रस से भोज्य-भोजक सम्बन्ध माना तथा अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व की धारणा का प्रतिपादन किया। अभिनव गुप्त व्यक्तिवादी हैं। इनके मतानुसार सहृदय में स्थित मनोविकार विभावादिकों के द्वारा साधारणीकृत होकर आनन्दमय रस-स्थिति को प्राप्त होते हैं। उनका

यह मौलिक प्रतिपादन सर्वत्र मान्य हुआ। साधारणीकरण की अवस्था का स्पष्ट परिचय साहित्य-दर्पण का यह श्लोक देता है :—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।

तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥३११२

इसमें रसवादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया स्वरूप जो सम्प्रदाय उठ खड़े हुए उन्हें काव्य की आत्मा के अन्वेषण की अगली शृङ्खला कहा जा सकता है। इनमें अलङ्कारवादियों तथा रीतिवादी आचार्यों के मत प्रमुख हैं। भामह अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हुए; जिनके टीकाकार थे उद्धट तथा रुद्रट। दण्डी तथा वामन भी इनकी महत्ता स्वीकृत करते हैं। दण्डी कहते हैं—“काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते” तथा वामन का कथन है कि—“काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् सौन्दर्यमलङ्कारः।” इन्हीं की परम्परा में जयदेव का नामोल्लेख भी समीचीन होगा। उनकी चुनौती है कि काव्य को अलङ्कारहीन मानने वाले भाग को ठण्डा क्यों नहीं मान लेते—

अङ्गीकरोति यः काव्यञ्च शब्दार्थानलङ्करी ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्करी । चन्द्रालोकः ।

भरत ने नाट्यशास्त्र में तो चार ही अलंकारों अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक का उल्लेख किया है जिसमें एक है शब्दालंकार तथा शेष हैं अर्थालंकार किन्तु इन्हीं के विकास से कुवलयानन्द में ११५ अलंकार सम्मुख आते हैं। अलंकारों में भी विवेचन करते हुए भामह ने वक्रोक्ति तथा रुद्रट व विद्याधर ने अलंकार भेद के सन्दर्भ में अपने मत प्रस्तुत किये। रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी और समाहित अलंकारों में भामह ने रस तथा भाव को समाहित कर दिया। इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थों के स्वरूप समासोक्ति, आक्षेपादि अलंकारों के रूप में वक्रोक्ति व ध्वनि की कल्पना को प्रादुर्भूत किया। किन्तु अलंकारवादियों की सारी चेष्टा के बाद भी अलंकार सम्प्रदाय अपना प्रभुत्व स्थापित करने में विफल रहा।

अलंकारवादियों की भाँति बाह्यपक्ष की तरफ ध्यान रहा रीतिवादियों का, यद्यपि उन्होंने भी रीति

में ही रस और ध्वनि की समाहित का प्रयास किया है। रीति मत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य थे वामन। वामन के अनुसार रीति का स्वरूप इस प्रकार है “विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषगुणात्मा।” प्राचीन युग में “भिन्नरुचिर्हि लोकः” की (कान्दिदास की) उक्ति का चरितार्थ होना पाया जाता है। रीति का व्यापक स्वरूप प्रवृत्तियाँ थीं जिनका उल्लेख भरत ने नाट्यशास्त्र में मिलता है। भौगोलिक विशेषताओं पर आधारित ये प्रवृत्तियाँ क्रमशः इस प्रकार थीं।

१. भारत के पश्चिमी भाग की प्रवृत्तिः आवन्ती

२. दक्षिण भारत की प्रवृत्तिः दाक्षिणात्या

३. उड़ीसा व मगध (पूर्वी भारत)

की प्रवृत्तिः श्रीङ्गमागवी

४. मध्यप्रदेश की प्रवृत्तिः पांचाली

कालान्तर में यह स्वरूप विषयगत हो गया तथा वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियाँ विषय के लिये रुढ़ि बन गई। तदनन्तर कुन्तक ने उन्हें कविस्वाभावाभिव्यक्ति बताकर सुकुमार, विचित्र तथा मध्यममार्ग की संज्ञा दी। रीति-विवेचन में भामह भेदभाव को महत्व नहीं देते। गुणों से ही काव्य की महत्ता बढ़ती है। उनका कहना है—

अलंकारवदग्राह्यम् अर्थं न्यायमनाकुलम् ।

गौड़ीयमपिसाध्वीयो वेदभर्ममिति नान्यथा ॥

दण्डी ने गुणों के दस भेद बतलाकर वैदर्भी तथा गौड़ी का स्वरूप ही बदल दिया। उनका सूत्र है—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वभोजः कान्तिसमाधयः ॥

इति वैदर्भमार्गस्य प्राद्याः दश गुणाः स्मृतः ।

एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़ वर्तमनि ॥

वामन ने गुणों के शब्दगुण तथा अर्थगुण दो भेद करके यह स्पष्ट किया कि शब्दगुण बन्ध के गुण हैं किन्तु अर्थगुणों का साम्राज्य विशाल होता है। इनमें रस का समावेश होता है (दीप्तरसत्वं कान्तिः। अर्थदृष्टिः समाधिः।) रुद्रट ने लाटीया नामक अन्य रीति का अन्वेषण किया तथा राजशेखर ने रीति विवेचन के लिए काव्यपुरुष की कल्पना की। किन्तु

रीति का यह महल भी चिरजीवी न हो सका। रस-वादी आनन्दवर्धन ने 'पदसंघटनारीतिः अंगसंस्था-विशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्' कहकर उसकी आलोचना की।

रीति के पश्चात् वक्रोक्तिवादियों का क्रम आता है। कुन्तक को वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहने का श्रेय है। 'वक्रोक्तिजीवित' नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने इसकी विशद व्याख्या की है। कुन्तक ने कहा है—“वक्रोक्तिरव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते।” यह चमत्कारी कथन ही वक्रोक्ति है। कुन्तक की कल्पना सर्वथा मौलिक नहीं कही जा सकती क्योंकि इससे पूर्व भामह भी कह चुके थे—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाथो विभाव्यते।

यत्तांश्यां कविता कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

कुन्तक ने वक्रोक्ति में ध्वनि को भी प्रायः संपृक्त रखा है मुख्यरूप से वक्रोक्ति के उन्होंने छः प्रकार बताये हैं—वर्णवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, प्रत्ययवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता। अलंकार और रीति की भांति ही वक्रोक्ति की वंसी प्रतिष्ठा काव्य-जगत में न हो सकी जैसी अपेक्षित थी।

अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के पश्चात् काव्य आत्मा की खोज के लिए आनन्दवर्धन सम्मुख आते हैं। वस्तुतः उन्होंने ध्वनि के रूप में रस की पुनः प्रतिष्ठा की। उनके मतानुसार रस सदैव व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं, अतः उन्होंने ध्वनि की महत्ता प्रतिपादित कर 'ध्वनि-सम्प्रदाय' की स्थापना की। उनका कथन है—

यत्रार्थः शब्दो वा समर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थो।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सरिभिः कथितः ॥

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रांग तु रसादयः।

काश्येतस्वल्लंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥

जिस काव्य में शब्द अथवा उसका वाच्यार्थ, अथवा दोनों एक साथ अपने वाच्यार्थ को तथा स्वयं को गीत बनाकर किसी अलौकिक रमणीयता वाले व्यंग्यार्थ को अभिव्यञ्जित करते हैं, उस काव्य को ध्वनि कहा जाता है। ५१ प्रकार की ध्वनियों में

उन्होंने रसध्वनि, अलङ्कार और वस्तुध्वनि को प्रमुख माना है। ध्वनि की महत्ता के आधार पर ही उन्होंने काव्य का विभाजन इस प्रकार किया है—ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य। इन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम काव्य कहकर सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय में गुण 'नित्य-धर्म' तथा अलंकार 'अनित्य धर्म' के रूप में प्रतिस्थापित हैं।

इन सबके अन्त में क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने औचित्य विचार तथाकथित काव्य के विभिन्न मूल तत्वों को एकात्म रूप दिया है तथा सन्तुलन का मार्ग अपनाया है। क्षेमेन्द्र की सम्मति में रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही होता है—

“औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।”

औचित्य के २७ भेदों में नामौचित्य, अलंकारीचित्य, वृत्तौचित्य, पदौचित्य प्रमुख हैं। औचित्य के बिना गुण और अलंकार की स्थिति क्या होती है इसका सुन्दर चित्रण उन्होंने अपने इस श्लोक में किया है कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा, पाणी नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूर पाशेन वा।

शौर्यप्रणते, रियो कर्णुणाय नायान्ति के हास्यतां, औचित्येन विना रुचि प्रतण्डले नालंकृतिनो गुणाः ॥

काव्य-शास्त्र के विकास पर समग्रतः दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होगा कि रस की महत्ता काव्य में सदैव सर्वोपरि रही है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने इसे किसी न किसी रूप में स्वीकारा है। अलंकारवादियों ने रसवत्, प्रेय, उर्जस्वालङ्कारों में उसकी समाप्ति की तथा रीतिवादियों ने गुणों के निरूपण के द्वारा रसाभिव्यञ्जना को महत्ता दी। वामन ने कान्तिगुण के भीतर ही रस की निहित मानी है। (दीप्तरसत्वं कान्तिः)। कुन्तक ने वक्रोक्ति में भी व्यञ्जना को महत्ता देकर ध्वनि का प्रकारान्तर से विवेचन किया है, जिसे विकसित किया आनन्दवर्धन ने। उन्होंने व्यंग्य को ही रस माना। क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य की परिधि में रस को शीर्ष स्थान दिया।

रस सम्प्रदाय से लेकर आधुनिक तक काव्य की आत्मा के अन्वेषण का यह अनवरत इतिहास भारतीय काव्य के विकास के ही लक्षण प्रस्तुत करता हो यह नहीं, इसी क्रम से काव्य की आत्मा की खोज में सन्निहित यूरोपीय वाङ्मय भी विकास के चरण पर क्रमशः अग्रसर होता दीख पड़ता है।

अरस्तू का नासदी के माध्यम से मनोवेगों का उद्वेग तथा उसके शमन पर विश्वास भावों के साधारणीकरण तथा रस-निष्पत्ति की कल्पना नहीं तो और क्या है? Wordsworth का कविता के लिए "Spontaneous overflow of powerful feelings" भी भावोच्छलन की महत्ता का प्रतीक है। तन्मयता की इस स्थिति के इसी क्रम में emotions recollected in tranquillity से अनायास ही शाकुन्तल का श्लोक स्मरण हो आता है—

रम्याणिवीक्ष्य मधुरांश्च निशम्यशब्दान् ।
पर्युत्सुकी भवति यतसुखिनांऽपिजन्तुः ॥
तच्चेतसा स्मरति तूनमपि बोधपूर्वम् ।
भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि ॥ अंक १॥

अरस्तू के काव्य-निरूपण की बागडोर थामकर चलने वाले होमर, विरीजल, हॉरेस व पोप जैसी

विभूतियों की रूढ़िवादी धारणाएँ तथा १६वीं शताब्दी से १८वीं शती का युग यूरोप के लिए रीतिकाव्य का युग कहा जा सकता है। अरस्तू, डिमेट्रियस, शोपेनहावर, स्टिवेन्सन, वाल्टर रेले, क्विन्टीलियन तथा क्विन्वेस्टर के विचार बहुत हद तक हमारे यहाँ के रीतिवादी आचार्यों से साम्य रखते हैं। वक्रोक्ति और क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को लेकर हिन्दी साहित्य संसार ने जो उठा-पटक मचाई वह सर्वविदित ही है। ध्वनि में व्यञ्जना का महत्व आनन्दवर्धन ने ही माना हो ऐसा नहीं। १८वीं शती के मान्य अंग्रेजी कवि ड्राइडन ने भी यही बात कही थी—“मोर इज मेण्ट देन मीट्स दी ईअर”। एवरक्राम्बी ने भी व्यञ्जना को अत्यधिक महत्व दिया था। इस तरह इस समस्त विवेचन से यही ज्ञात नहीं होता है कि भारत या यूरोप के काव्यशास्त्र का इतिहास उस राष्ट्र या भूखंड विशेष के काव्य की आत्मा के अन्वेषण का परिणाम है; अपितु इससे जो नई दृष्टि मिलती है वह यह है कि समग्र काव्यशास्त्र का इतिहास ही, चाहे वह किसी भी साहित्य से सम्बद्ध क्यों न हो उसके गुणातिगूढ़ तत्व, उसकी आत्मा के अन्वेषण का परिणाम हैं।

—एफ० ८३/४१-१२५० क्वार्टर्स,
साउथ टी० टी० नगर, भोपाल (म० प्र०)

सुन्दर, आकर्षक एवं कलापूर्ण

मुद्रण के लिए

सदैव स्मरण रखिए—

साहित्य प्रेस,

साहित्य कुञ्ज, आगरा-२ दूरभाष : ७२२६८

आधुनिक कविता में विम्ब-विधान

• डा० प्रेमप्रकाश गौतम

छायावादोत्तरप्रयोगनिष्ठ काव्य और नयी कविता में विम्बविधान को कविकर्म का प्रमुख अंग मानकर उस पर अत्यधिक बल दिया गया है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के उपचेतन सिद्धान्त में विश्वास करने और संवेदना-प्रधान होने से प्रयोगवाद और नयी कविता में प्रतीकात्मक, विशृङ्खलित और खंडित विम्बों का बाहुल्य रहा है। कहा जाता है कि इस प्रकार के विम्बों में अत्यधिक और अत्यन्त व्यापक अर्थवत्ता होती है। इन विम्बों के संकेत से पाठक के मनमें संवेदना जागृत कर विम्बों की सृष्टि की जाती है। परन्तु इस प्रकार के विम्बों का मनोविश्लेषण की दृष्टि से भले ही कितना ही महत्व हो, काव्यदृष्टि से इनका महत्व बहुत कम होता है। और प्रायः तभी होता है जब ये अनुभूति-प्रेरित (मात्र बौद्धिक न होकर रागात्मक स्पर्शयुक्त) भी होते हैं।

परवर्ती काव्य में छायावादी परम्परा के और तद्भिन्न सांस्कृतिक, प्राकृतिक और भावात्मक विम्बों का प्रचुर निर्माण हुआ है। परन्तु आत्मानुभूतियों के व्यंजक जैसे 'टेशियरी इमेज' छायावादोत्तर काव्य में नहीं हैं जैसे महादेवी, प्रसाद आदि के काव्य में हैं। ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक विम्ब परवर्ती काव्य में अपेक्षाकृत अधिक हैं। प्रगतिवाद और प्रयोगशील काव्यधारा में सामाजिक, आर्थिक विषमताओं के चित्रों के साथ अतीतकालीन भारतीय संस्कृति के भी चित्र प्राप्त होते हैं। छायावाद की अस्पष्टता, सुघडता और सूक्ष्मता का विरोध करते हुए इन कवियों ने प्रायः स्पष्ट किन्तु अनगढ़, मौसल और स्थूल चित्र प्रस्तुत किये। प्राकृतिक चित्रों के

साथ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक चित्र और आज की वैज्ञानिक यांत्रिक सभ्यता के भी चित्र उपस्थित किये गये। इनके साथ अनुत्त वामना के अश्लील चित्रों की भी योजना हुई। पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा सामाजिक विम्ब भी प्रगतिवादी काव्य में प्राप्त होते हैं। परन्तु छायावादियों जैसे रागात्मकता और प्रखर समृद्ध कल्पना न होने से प्रगतिवादी रचनाकारों के (प्रयोगवादी और नयी कवितावादी रचनाकारों के भी) काव्य में छायावादी काव्य जैसे सजीव और सरस विम्ब अत्यन्त विरल हैं।

हिन्दी की प्रगतिवादी कविता में बौद्धिकता और यथार्थ के आग्रह के कारण वस्तुपरक, विवरणपरक और दृश्यात्मक विम्ब अधिक हैं। वस्तुविम्ब चित्रात्मक और गतिमय दोनों प्रकार के हैं। गत्यात्मक वस्तुविम्बों में यथार्थ के साथ गति और कहीं-कहीं मनस्थिति का भी अंकन है। उक्त काव्य में नीरस यथार्थवादी चित्र ही नहीं, संवेदनात्मक चित्र भी प्राप्त होते हैं। जो पाठक पर बहुधा विषादात्मक प्रभाव डालते हैं। यथार्थ के आग्रह के कारण वीभत्स चित्रण भी किया गया है। इन कवियों के चित्र कहीं-कहीं काफी मार्मिक हैं। प्राचीन और नवीन अलंकारों से निमित्त अलंकारपरक विम्ब भी प्राप्त होते हैं। परन्तु प्रगतिशील काव्य में अलंकारयुक्त अरोमानी वस्तुपरक विम्बविधान के ऐसे स्थल ही अधिक हैं जिन्हें कविता की श्रेणी में रखना कठिन है—

फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बैठा

राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी

गर्भभार से अलम-शिथिल हैं अंग अंग
छप्पर पर बैठे हैं बिल्ली
किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है,
चला-चला कर जीभ स्वाद लेती ओठों का ।

—नागार्जुन

इस प्रकार के अकाव्यात्मक बिम्बों के साथ अलं-
कार और लक्षणा वाले रागात्मकता के स्पर्श से युक्त
बिम्ब भी प्राप्त होते हैं, परन्तु उनमें भी प्रायः वास्त-
विक काव्य-सौन्दर्य और सरसता की कमी है ।

वास्तव में रागात्मक स्पर्श से युक्त सुन्दर सरस
बिम्ब प्रगतिवादी काव्य में विरल हैं, परन्तु वे नगण्य
नहीं हैं । राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य में काव्यात्मक बिम्ब
अपेक्षाकृत अधिक हैं ।

विस्तृत (विवरणपरक) बिम्ब प्रगतिशील काव्य
में प्रचुर हैं । भावात्मक बिम्ब और सान्द्र बिम्ब
अपेक्षाकृत कम हैं । बिम्ब विधान और प्रतीक योजना
पर इन कवियों का विशेष आग्रह नहीं रहा है । बिम्ब
इनके काव्य में सहज रूप में ही आये हैं ।

प्रयोगपरक काव्य में प्राकृतिक बिम्बों का छाया-
वादी काव्य की भाँति बाहुल्य है । ऐतिहासिक, पौरा-
णिक, सामाजिक और दैनिक जीवन से सम्बद्ध बिम्ब
भी प्रयोगनिष्ठ काव्य में काफी हैं । प्रतीकात्मक बिम्ब
भी प्रचुरतः मिलते हैं । सांस्कृतिक बिम्ब इस धारा
की रचनाओं में विरल हैं ।

प्रयोग-काव्य और नई कविता के निर्माताओं के
लिए—विशेषकर अज्ञेय, शमशेर और केदारनाथसिंह
के लिए—बिम्ब-योजना कविकर्म की अत्यन्त महत्व-
पूर्ण अंग रही है । इन दोनों काव्य-धाराओं में बिम्बों
की बहुत व्यापक और वैविध्यपूर्ण सर्जना हुई है ।
बिम्बों के बहुविध मौलिक और सूक्ष्म प्रयोग इन
कवियों ने किये हैं । कहीं-कहीं एक साथ अनेक बिम्ब
उपस्थित किये गये हैं जो कहीं सम्बद्ध हैं, कहीं अस-
म्बद्ध । असम्बद्ध बिम्ब कभी-कभी अन्त में अन्वित
कर दिये जाते हैं । अस्पष्ट, विशृङ्खल और खण्डित

बिम्ब भी नयी कविता में प्रचुर हैं ।^१ इन कवियों का
प्रभाववादी बिम्ब-विधान पर अधिक बल है । दृश्य-
बिम्ब भी इस काव्यधारा की रचनाओं में पर्याप्त हैं ।
अनेक स्थलों पर दृश्यचित्र कवि की मनस्थिति व्यक्त
करते हैं । इन कवियों ने विशेषकर शमशेर ने अव-
चेतन के गुप्त संवेदनों को बिम्बों के माध्यम से व्यक्त
किया है । कहीं-कहीं अत्यन्त सूक्ष्म छवियों का प्रति-
बिम्बन किया गया है । रागात्मक की अपेक्षा बौद्धिक
बिम्ब इस धारा की रचनाओं में अधिक प्राप्त होते
हैं । सामान्य परिचित बिम्बों के साथ बिम्ब-वैचित्र्य
का भी आग्रह इन कवियों में रहा है । एक ही उपमा
से दृश्यबिम्ब की योजना के उदाहरण भी मिलते हैं ।
प्रयोगवादियों ने प्राकृतिक बिम्बों के साथ आधुनिक
दैनिक जीवन से सम्बद्ध बिम्ब भी प्रचुरतः अपनाये
हैं । कुछ अवतरण दृष्टव्य हैं—

दो पंखुड़ियाँ भर्रीं लाल गुलाब की, तकती पियासी
पियासे ऊपर भुके उस फूल को
ओठ ज्यों ओठों तले ।

—अज्ञेय

नये उपमानों की चाह ने प्रयोगनिष्ठ रचनाकारों
से अधिकतर अकाव्यात्मक बिम्ब योजना ही कराई है—
वालू के दूह हैं जैसे बिल्लियाँ सोई हुई
उनके पंजों से लहरें दौड़ भागतीं
सूरज की खेती चर रहे मेघ मेमने

—नलिन विलोचन शर्मा

खण्ड-बिम्बों की अपेक्षा पारदर्शीपूर्ण बिम्ब निश्चय
ही उत्कृष्ट होते हैं । परन्तु पारदर्शी या पूर्ण बिम्ब भी
रागात्मकता और अभिव्यक्ति की सहजता से रहित
होने पर कविता की सर्जना नहीं कर सकता ।

अज्ञेय के काव्य में काव्योचित सरस बिम्बों का
अभाव नहीं है । 'वैशाख की आँबी' शीर्षक रचना की
इन प्रारम्भिक पंक्तियों में भी काव्योपयुक्त बिम्ब-
योजना है—

^१ यह कहना गलत है कि "नयी कविता के खण्डित
बिम्बों में जितनी अधिक और व्यापक अर्थवत्ता
होती है उतनी पूर्ववर्ती कविता में नहीं थी ।"

आधुनिक कविता में बिम्बविधान]

नभ अन्तर्ज्योतिरिति है

पीत किसी आलोक से
बादल की काली गुदड़ी का मोती
टोह रही है बिजली

ज्यों बरछी की नौक से ।

प्रयोगनिष्ठ काव्य और नयी कविता में अस्पष्ट खण्ड-काव्य वाले भाव-बिम्ब, प्रतिचित्रात्मक तथा गत्यात्मक दोनों प्रकार के वस्तु-बिम्ब, सान्द्र बिम्ब और शिल्प-सौन्दर्य वाले आलंकारिक बिम्ब भी काफी हैं । सान्द्र बिम्ब के उदाहरण-रूप में धर्मवीर भारती की ये पंक्तियाँ बहुधा उद्धृत की गयी हैं । इनमें प्रस्तुत बिम्ब और उनके विधायक सभी उपमान पुराने और रोमाण्टिक हैं और नयी कविता की नवीनता और आरोमानी भावबोध के दावे को पूरा नहीं करते—

रख दिए तुमने नजर में बालों की साध कर
आज मांघे पर सरल संगीत से निर्मित अधर ।
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर ।

भारती ने बिम्ब-विधान मात्र चित्रण के लिए कम, अपने कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए अधिक किया है । सान्द्र बिम्बों के साथ संवेद्य (ऐन्द्रिय) बिम्बों, अनुभूति-बिम्बों और अन्य अनेक प्रकार के बिम्बों का उपयोग उन्होंने किया है । सांस्कृतिक बिम्ब उन्होंने प्रचुरतः अपनाये हैं । कहीं-कहीं उन्होंने एक ही मन-स्थिति की व्यञ्जना के लिए अनेक बिम्बों की परम्परा प्रस्तुत की है ।

इस धारा के कवियों में व्यापक विराट कल्पना का प्रायः अभाव होने के कारण लघु तथ्य या अनुभूति को कल्पना की सहायता से विस्तार में प्रस्तुत करने वाले विवृत (विवरणात्मक) बिम्ब उनके कृतित्व में कम हैं । मुक्तिबोध की कविताओं में (विशेषकर उनके 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की रचनाओं में) विवरणात्मक बिम्ब अन्य कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक हैं । मुक्तिबोध के बिम्ब बहुधा प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हैं । उन्होंने आज के जीवन में व्याप्त भय, घुटन, पीड़ा,

६५

कूरता, उत्पीड़न और खोखलेपन को व्यक्त करते हुए मानसिक छायाभासों के दृश्य बिम्ब ब्रह्म-राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि प्रतीकों द्वारा निर्मित किये हैं ।

इस धारा के कवियों ने ऐसे बिम्ब भी निर्मित किए हैं जिनमें उपमान का उपयोग नहीं किया गया है—

पास के बंसवट से

अचानक चिड़ियों की चहचहाहट

शायद वह मोटी काली विल्ली

जो कभी कभी मुँडेर पर

पूँछ उठाये दिख जाती है

नाले को पार कर रही होगी ।

—विजयदेव नारायण साही

छायावाद-परवर्ती गीतिकाव्य में भी व्यापक कल्पना क्षमता की कमी के आकार की तुलना के कारण विवृत बिम्ब कम हैं । वस्तु-बिम्बों की भी रचना प्रगीत के लघु आकार के कारण कठिन होती है । आलङ्कारिक बिम्ब भी गीति-काव्य में विरत हैं । दृश्य-बिम्ब भी अधिक नहीं हैं । स्पर्श, नाद, घ्राण आदि ऐन्द्रिय अनुभूतियों वाले बिम्ब अवश्य कुछ अधिक हैं । भाव-बिम्बों का भी इस काव्यधारा में अपेक्षाकृत आधिक्य है । कुछ कवियों (नरेन्द्र शर्मा आदि) की रचनाओं में विवृत और आलङ्कारिक बिम्ब भी पर्याप्त हैं । 'नवगीत' में भी नये प्रतीकों और उपमानों से निर्मित नये बिम्ब प्राप्त होते हैं ।

नारी-रूप का अद्भुत प्रस्तुत करने वाले रोमानी प्राकृतिक चित्र भी जिनमें मानवीकरण की प्रवृत्ति है, छायावादी कवियों की भाँति, उत्तर-छायावादी रोमांटिक कवियों के काव्य में प्राप्त होते हैं ।

परम्परागत सांस्कृतिक प्रतीकों, नये उपमानों और प्राकृतिक उपकरणों से निर्मित सरस बिम्ब इन कवियों की रचनाओं में प्रचुरतः उपलब्ध होते हैं । ताजगी की भी उनमें कमी नहीं है—

रात भर जलता रहेगा कुटी में चुपचाप

भोर होते ही बुझेगा दीप अपने आप

पो फटेगी, घटेगी तनवर्तिका की आयु

दीप का निर्वाण होगा किरण की सुन चाप ।

—नरेन्द्र शर्मा

मन भी बड़ी विचित्र वस्तु है
कभी पहुँच के बाहर हो जाती
लहराती

उन्मन उड़ौना पतंग की

छिन्न डोर-सी

और हाथ में रह जाती है उलझी गुत्थी ।^१

—शिवमङ्गलसिंह 'सुमन'

गीति परम्परा के कुछ कवियों द्वारा प्रगतिवाद और नयी कविता के प्रभाव से रोमाण्टिक प्रवृत्ति से मुक्त व्यावहारिक उपकरणों से निर्मित वास्तविक जनजीवन के यथार्थ चित्र भी कहीं-कहीं प्रस्तुत किये गये हैं ।

घर तो पीठ पर है

चार खूँटे गाड़ कर खेमा लगाया

मिल गया जो

पिया खाया, धुआँ छोड़ा

और जी में आ गया तो

गीत कोई गुनगुनाया

या कि यों ही बुड़बुड़ाया

पीठ सीधी की

उठा सामान बाँधा

चल पड़ा कहता हुआ

श्रीराम दण्डक वन बिहारी ।

—वचन

एक दिन एक काला भैंसा

अमावस की रात सा

आयेगा

और इस अँकुराई चाँदनी को

देखते ही देखते चर जायेगा ।

—शम्भुनाथसिंह

काव्यवस्तु के अधिकांश में जटिल-संश्लिष्ट और

^१ पतंग का यह उपमान बिहारी के 'उड़ी जाय कितहू गुड़ी' से लिया गया है ।

बौद्धिक प्रतीकों के वैयक्तिक होने और साधारणीकरण की चिन्ता न की जाने से प्रयोगनिष्ठ काव्य और नयी कविता के बिम्ब-विधान में बहुधा अस्पष्टता और दुरुहता है, साथ ही रागात्मक स्पर्श का अभाव । विषय-क्षेत्र और अप्रस्तुत क्षेत्र के विस्तृत हो जाने से बिम्ब-योजना में विविधता अवश्य दृष्टिगत होती है । आधुनिक प्रयोगनिष्ठ काव्य द्वारा और नयी कविता पश्चिम की वर्तमान कविता से—विशेषकर आधुनिक अंग्रेजी और अमेरिकन काव्य से अत्यधिक प्रभावित है । जीवन-दृष्टि, काव्य-दृष्टि, विषय वस्तु, बिम्ब-योजना, प्रतीक, शब्द-विधान सभी दृष्टियों से नये काव्यकार पश्चिम के अनुयायी हैं । परन्तु प्रतीक और अलङ्कार की योजना के समान बिम्ब-सर्जना भी साधन है, साध्य नहीं और साधन-रूप में भी यह अत्यन्त अर्थात् सहज-स्वाभाविक होने पर ही स्पृहणीय है ।

पाश्चात्य बिम्बवाद के प्रभाव से अज्ञेय, गिरिजा-कुमार माथुर, शमशेर बहादुर आदि प्रयोगनिष्ठ कवियों में ही नहीं, उनके अनुयायी धर्मवीर भारती, विजय देवनारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, कुँवर नारायण, केदारनाथसिंह, दुष्यन्तकुमार, विपिनकुमार, श्रीकान्त वर्मा, राजेन्द्रकिशोर, मलयज आदि 'नयी कविता' के कवियों में भी बिम्ब-योजना कहीं-कहीं अतिवाद के रूप में उपस्थित हुई है । अनेक रचनाकारों ने बिम्ब को ही साध्य मान लिया है और ये बिम्ब-विधान की सूक्ष्मताओं में उलझ गये हैं । इन कवियों के बिम्ब, जैसा कि डा० नगेन्द्र का कहना है, अधिकतर रागात्मक स्पर्श से रहित हैं और जनजीवन से असम्बद्ध उपमानों से निर्मित हैं ।

इन रचनाकारों द्वारा अनेक रचनाओं में मात्र खिलवाड़ी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं । कहीं बिम्ब पर अधिक बल देते हुए अनुभूति की व्यंजना की और कवि ने उचित ध्यान नहीं दिया है । कहीं बिम्बों की लड़ी इतनी प्रमुख हो गई है कि अनुभूति आच्छन्न हो गई है । कहीं, जैसा कि लक्ष्मीकान्त वर्मा का कहना है—'अनुभूतियों की गहराई को स्पर्श किये बिना भाषा

आधुनिक कविता में 'विम्बविधान]

और विम्ब ऊपर-ऊपर तैरते हैं।' अनुभूति की अस्पष्टता या अभिव्यक्ति की अक्षमता के कारण विम्ब प्रायः उभर नहीं पाते। कुछ कवियों (केदारनाथसिंह, श्रीकान्त वर्मा आदि) ने एक-एक पंक्ति में एक-एक विम्ब देने का यत्न किया है। बहुधा एक-दो पंक्तियों में खण्ड-विम्ब प्रस्तुत कर उन पंक्तियों को कविता नाम दे दिया गया है। अनेक स्थलों पर खण्ड विम्ब भग्नप्राय हो गये हैं। वैज्ञानिक विम्ब भी कुछ रचनाओं में (जैसे गिरिजाकुमार के 'पृथ्वीकल्प' में) प्राप्त होते हैं। परन्तु वे काव्य-स्तर पर नहीं पहुँच पाये हैं।

नयी कविता के रचयिताओं ने अपनी संवेदनाओं के संप्रेषण अथवा पाठकों में तत्समान संवेदनाएँ जागृत करने के लिए सांकेतिक प्रतीकात्मक विम्बों की योजना की है। अपने खण्डित-अखण्डित विम्बों की योजना की है। अपने खण्डित-अखण्डित विम्बों द्वारा पाठक में संवेदना (ऐन्द्रिय बोध) जगाकर वे उसके अवचेतन में उसी प्रकार के विम्बों की रचना या उन्मोचना करने का यत्न करते हैं।

विम्ब-विधान को अनुभूति व्यञ्जना का साधक बनाकर नये कवियों ने कहीं-कहीं सुन्दर नये विम्ब भी प्रस्तुत किये हैं। सूक्ष्म संवेदनाओं और भाव-छवियों को विम्ब के माध्यम से प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है। लघु संश्लिष्ट विम्बों और अनुभूति विम्बों के अतिरिक्त वस्तुचित्र, दृश्य चित्र, चामत्कारिक विम्ब और 'थरमल' विम्ब भी नयी कविता में प्राप्त होते हैं। विवरणपरक विराट व्यापक कल्पना की कमी के कारण विरल है। परन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं, शब्दों के सङ्घटित मूर्त-विम्ब का विधान अर्थात् अल्पतम शब्दों से विम्ब प्रस्तुत करने का आग्रह कुछ कवियों में इतना अधिक है कि कोई खण्ड या अखण्ड चित्र उपस्थित करने वाली एक-दो पंक्तियों को ही कविता मान लिया जाता है। चित्र तो पाठक

की कल्पना के अनुसार एक शब्द से भी उपस्थित हो सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि वह शब्द या पंक्ति कविता हो।

मनोविज्ञानशास्त्र और विम्बवाद में आस्था रखने वाली प्रयोगवादी कविता और नयी कविता में अवचेतन सिद्धान्त की स्वीकृति के कारण खण्डित विम्बविधान का आविर्भाव होने से काफी असम्बद्धता और दुर्बलता है। निस्सन्देह मानव—व्यक्तित्व आज अपेक्षाकृत अधिक जटिल एवं संश्लिष्ट है। यह भी ठीक है कि अवचेतन प्रतिक्रियाएँ प्रायः विशृङ्खलित होती हैं। परन्तु इस कारण अथवा किसी भी कारण से मानव व्यक्तित्व के प्रभावहीन या क्षणिक प्रभाव वाले असम्बद्ध और अस्पष्ट खण्ड चित्र प्रस्तुत करना वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

सामान्य अनुभव के अनुकूल न होने से, बहुधा असामान्य होने से इस धारा के विम्ब अधिकतर जन-कल्पना के लिए दुर्ग्राह्य ही होते हैं—प्रायः किसी एक अनुभूति में आवद्ध न होने से वे कोई समन्वित और स्पष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। इन कवियों के विम्ब नये और ताजे अवश्य हैं। परन्तु अधिकांश में वे अकाव्यात्मक तथा बौद्धिक हैं।^१ और लोक सामान्य अनुभव तथा जन-जीवन से विच्छिन्न हैं।

—एफ-बी-२२, टैगोर गार्डन, नई दिल्ली

^१ इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का यह कथन पर्याप्त महत्वपूर्ण है—'नवीनता अथवा अश्वत्ता का निरपेक्ष रूप में काव्य-विम्ब का गुण नहीं माना जा सकता...हर नया विम्ब काव्य-विम्ब की कोटि में नहीं आ सकता। औचित्य और चारुत्व (रागात्मक शैली) भी काव्य-विम्ब के लिए आवश्यक है।' (काव्य-विम्ब—'ये उपमान मेले हो गये हैं' शीर्षक लेख)

ग्राहकों से—अपनी ग्राहक संख्या के पुनर्नवीनीकरण के समय, अपना पता बदलते समय तथा साहित्य संदेश का शुल्क भेजते समय मनीआर्डर कूपन पर अपनी ग्राहक संख्या लिखना न भूलें।

इससे हम आपकी समस्याओं का हल शीघ्र कर सकेंगे। —प्रबन्ध सम्पादक

जयवर्धन उपन्यास की कथा-संयोजना

• विजय कुलश्रेष्ठ

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में स्वतन्त्रता के पश्चात् अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्रभाव जितना स्वाधीनता के पश्चात् हुआ है उतना सम्भवतः पूरे इतिहास में उपलब्ध नहीं है। विदेशी भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद भी इस परिवर्तन का एक अंग है। यथार्थवादी दृष्टिकोण और यथार्थवादी कला का विकास इन उपन्यासों में हो चला था। देश के परिवर्तित सन्दर्भ में नये विचार, नई मान्यताएँ और नये नैतिक मूल्यों की स्थापनाएँ साहित्य में होने लगीं। नारी-पुरुष सम्बन्ध, नारी शिक्षा, नारी-स्वातंत्र्य, विधवा-विवाह, छूआछूत, जाति बन्धनों से मुक्ति, स्वाधीनता के लिए संघर्ष, मजदूरों-किसानों में जागरण, आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियाँ आदि ही तत्कालीन उपन्यासों का वर्ण्य विषय हो गया था। राजनैतिक स्थितियाँ भी इन उपन्यासों में यत्र-तत्र अपना स्वर छेड़ रही थीं। यही नहीं, मानव की व्यक्तिगत और समाजगत समस्याएँ—व्यक्ति के सन्दर्भ में सङ्घर्ष आदि का चित्रण—इन उपन्यासों की कथा-वस्तु थे तथा लेखक इन सभी स्थितियों पर अपने दृष्टिकोण से सृजन करता था। इसीलिए इस युग के उपन्यासों में व्यक्ति के निजत्व, उसके अन्तर्द्वन्द्व का मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। व्यक्तिवादी और व्यक्तिवैचित्र्यवादी स्तर पर मानव के व्यक्ति का मनोविश्लेषणात्मक और शिल्प की वैशिष्ट्यवादी शैली के माध्यम ने व्यक्ति को उपस्थित करने वाले उपन्यासकार श्री जैनेन्द्रकुमार हैं। इनके उपन्यासों में 'प्रेम' मूलाधार है और प्रेम के केन्द्र के चारों ओर

व्यक्ति अथवा पात्र अपने-अपने 'निजत्व' का निर्माण कर लेते हैं और अन्य पुरुष संसर्ग की सङ्घर्षात्मक स्थितियों को भोगते रहते हैं। प्रेम-त्रिकोण का केन्द्र बिन्दु इनके उपन्यासों में पत्नी है और पार्श्व बिन्दुओं में एक ओर पति है दूसरी ओर प्रेमी। नारी इन उपन्यासों की प्रमुख पात्र उभारती है। उसके अन्तर्द्वन्द्व, पीड़ा, वेदना का घनीभूत चित्रण जैनेन्द्रजी की शिल्पगत विशिष्ट शैली से उद्भूत होती है। 'जयवर्धन' उपन्यास में यह किंचित परिवर्तित स्वरूप में आया है। है नारी ही वहाँ पर भी, लेकिन नारी से भी अधिक पुरुष का केन्द्र विद्यमान है। नारी उसके निमित्त है जो क्षय होती रहती है उस एक के प्रति जो केन्द्र में इला

← समाज व राजनीति का प्रभावहीन प्रभुत्व है। दूसरे, उसके उर्ध्वपार्श्व में है इला जो उसकी आजीवन सम्पिता है तथा

जय • लिजा दूसरी और है लिजा—जो उसे पा लेने के लिए सतत् यत्नशील है। यह उपन्यास जैनेन्द्र के 'प्लेटोनिक' प्रेम के उपन्यास का उद्धरण है। वस्तुतः इस उपन्यास की कथा संयोजना पिछले उपन्यासों से कुछ भिन्न है तथा डायरी शैली में लिखा गया है। इससे पहले भी जैनेन्द्रजी ने 'किसी की डायरी' प्रकाशित की है। लेकिन उम डायरी के कुछ अंश ही दिये गये हैं जो उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित कराये गये हैं। 'जयवर्धन' में भी डायरी, डायरी लेखक की मृत्यु के पश्चात् ही प्रकाशित होती है परन्तु यह एक भारतीय की डायरी नहीं है और

यही विशिष्टता उसमें उभर कर उसे पिछले सपन्यासों से भिन्न रखती है। इस उपन्यास की कथा आगामी (५० वर्षों के) युद्ध के समाज और शासन व्यवस्था के संघर्ष की परिकल्पना है। यह परिकल्पना वर्तमान को कहां तक छोड़ सकी है—यह एक दूसरा प्रश्न है। जिस पर विचार करना यहाँ अनावश्यक है। फिर इस उपन्यास को राजनैतिक तत्त्व चिन्तन का उपन्यास कहा जा सकता है। लेकिन सीमाओं की असफलता की दुहाई के साथ इसमें कथा का केन्द्र बिन्दु है—जयवर्धन। जो भारत का अधिपति है और उसके यत्र-तत्र घूमते हैं अन्य पात्र—आचार्य—जो गांधीवाद के प्रतीक हैं, स्वामी—जो भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक सङ्घ की हिन्दूवादी नीति के पोषक हैं, नाथ और लिजा—वामपंथी साम्यवादी विचारधारा के प्रतीक। इन्हें आगे अवसरापेक्षित दल-नायक कहा जा सकता है।

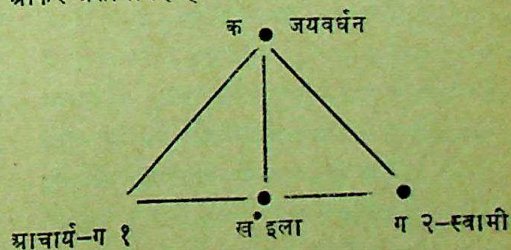
लेखक ने कथा संयोजन जयवर्धन के वैयक्तिक पक्ष को अधिक से अधिक तीव्र करने के लिए किया है और इसलिए उसके चरित्र को आकलित करने के लिए उन्होंने एक अमेरिकन पत्रकार को जो स्वयं आध्यात्मिक घरातल से प्रसूत पत्रकार है—सारी कथा कहने के माध्यम के रूप में पा लिया है। उस पत्रकार की एक विशिष्टता है—कि स्थान-स्थान पर अपनी विचारणा (जैनेन्द्रीय) व्यक्त करता जाता है। जैसे गांधीजी का विचार डायरी के सम्बन्ध में यही था कि डायरी में सत्य और तथ्य का ही अङ्कन किया जाना चाहिए। डायरी लिखते समय किसी भावुकता में न पड़ना चाहिए और न किसी बिन्दु विशेष पर अपना अभिमत स्थापित करना चाहिए अपितु यहाँ पर तो यथा, तथ्य विवरण जो कि डायरी की विशेषता है, उपन्यास में समाप्त हो जाती है। विल्वट थोल्डन हूस्टन ने जयवर्धन के सम्बन्ध में डायरी लिखते समय अपनी लेखनी और विचारणा को प्रधान स्थान दिया है और अपने अभिमत के साथ कई घटनाएँ प्रस्तुत कर दी हैं।

जय का वैयक्तिक पक्ष इस उपन्यास में इला को लेकर उभरा है। इला उसकी पत्नी नहीं है, सहगामी

है। अनेक वर्षों से उसके साथ है, पर विवाहिता नहीं है और सारे उपन्यास में विवाह न होने की व्यक्तिवादी भावना भी उसमें कहीं स्पष्ट नहीं उभरी है। यदि कहीं विवाह और प्रेम की अस्पष्ट झलक भिन्नती भी है तो वह निराशात्मक कड़ी है जीवन की।

पात्र संयोजन—पात्रों में जय, इला, स्वामी, आचार्य के अतिरिक्त नाथ-लिजा (नाथ दम्पति) हैं और एक पात्र उपन्यास के प्रारम्भ में पत्रकार हूस्टन से मिलता है—इन्द्रमोहन जो फिर उपन्यास के अन्त में ही प्रकट होता है। वह एक आतंकवादी दल का प्रतिनिधित्व करता है परन्तु यह दल कभी भी अपनी गतिविधियों से उपन्यास में कहीं भी सामने नहीं आता। लगता है ऐसा दल है भी नहीं। आतंक उत्पन्न करने के लिए इन्द्रमोहन एक परिकल्पनात्मक दल का प्रतिनिधि बनता है। प्रथमतः वह जय के विरोधी और बाद में जय के शुभेच्छु के रूप में प्रकट होता है। इसलिए यह पात्र गौण है।

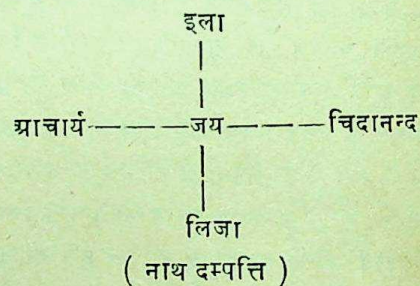
जय और इला उपन्यास में प्रमुख पात्र के रूप में चित्रित हैं। इला से सम्बन्धित हैं आचार्य जो कि उसके पिता हैं और स्वतन्त्र गणराज्य के अधिपति की किसी आशंका के व्यान से प्रारम्भ से जेल में हैं। इला के दूसरे पार्श्व में आते हैं स्वामी विवेकानन्द। इस प्रकार की पात्र संयोजना से जैनेन्द्रजी ने जहाँ एक ओर जय के व्यक्तिगत और राजगत चारित्रिक पक्ष को उजागर किया है वहीं दूसरी ओर जय के व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी की है। मानवीय दुर्बलता यहाँ स्पष्ट होती है—फ्रायड शायद अपनी तर्जनी उठाकर जैनेन्द्र से जय के चरित्र को उत्कीर्ण करा रहा है। तभी जय का नार्मल जीवन उसमें न आकर असाधारण ही चित्रित है।



यदि हम जय इला और स्वामी तथा आचार्य की स्थल-संयोजना देखें तो स्पष्ट होगा कि 'ख' पर स्थिति इला एक पार्श्व में अपने पिता आचार्य द्वारा जय के साथ विवाह की स्वीकृत न मिलने के कारण पारिवारिक शृङ्खला में आवद्ध है (ग-१) दूसरे पार्श्व में स्वामी चिदानन्द द्वारा उत्पन्न भर्त्सना की शिकार है—जहाँ उसको सामाजिक शृङ्खला में असम्मानित तक होना पड़ा है। (ग-२) लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी वह जय को वरेण्य मान चुकी है। जय के बिना उसकी गति नहीं। जय उसे बड़ा निरीह और वत्सल दिखता है। वह जानती है कि यदि उसे छोड़कर हटेगी तो जय अपस्थिति में होगा (क) इसलिए वह अपना सर्वस्व समर्पित करते हुए प्लेटोनिक प्रेम के आश्रय पर जीवित है।

घटना-संयोजन—जय राष्ट्राधिपति है। वह अनेक दल विरोधों के मध्य सिंहासनारूढ़ है। वह किस दल का प्रतिनिधित्व करता है यह कहीं भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। संकेत अवश्य दिया गया है। उसका दल कभी उसके पक्ष में प्रबल होकर आगे नहीं आया है। जय का विरोध करने वाला दल प्रतिनिधि स्वामी चिदानन्द है। जिनका विरोध मात्र इसलिये है कि जय ने इला के साथ विधिवत विवाह नहीं किया है और इस प्रकार एक स्त्री को साथ रखकर जो शासनारूढ़ बना रहेगा तो उस देश के चरित्र का पतन हो जायगा। इसलिए वे चाहते हैं कि जय स्वयं अधिपति पद से हट जायें। दूसरा दल नाथ दम्पति का है जो प्रारम्भ में जय के विरोधी दलों में से है। (अन्य कितने दल विरोध में थे इनकी ओर कोई संकेत नहीं है) लेकिन परिस्थितियों के बदलने से वे जय के सहयोगी बनकर उससे विचार विनिमय करते हैं और राज्य में चल रही अशांति और अव्यवस्था को समाप्त करने के लिए एक विज्ञप्ति प्रसारित करते हैं। तीसरे विरोधी के रूप में जय के सम्मुख आते हैं। आचार्य जिसे जय ने जेल में कैद कर रखा है (लेकिन इतना आतंकित व्यक्तित्व उपन्यास में उभरा नहीं है कि उन्हें कैद करना होता) आचार्य गांधीरादी है

और जय का विरोध इसलिए करते हैं कि वह उनकी लड़की का योग्य पति नहीं हो सकता तथा उसकी नीतियाँ—उद्योग सम्बन्धादि में स्पष्ट नहीं हैं। इस प्रकार जय की त्रिकोणात्मक स्थिति में एक उसका अन्तरंग है जो समाज में हेय दृष्टि से देखा जाने के लिए चिदानन्द द्वारा प्रचारित एवं अभिव्यक्त होता है। दूसरी ओर उसका बहिरंग है—जो उसके राजनेता के रूप में आचार्य का विरोध पाता है। इस बहिरंग और अन्तरंग के मध्य एक और स्थिति है जिसे 'अनुरंग' कह सकते हैं। इसमें एक दल जिसका प्रतिनिधित्व नाथ दम्पति करते हैं—अपने दल गत प्रयोजन की अपेक्षा नाथ पत्नी श्रीमती लिजा है अत्यधिक प्रभावित हो जाता है और श्रीमती लिजा अपने पति से तलाक लेने को तैयार हो उठती है तथा जय के अनुरंग की अधिस्वामिनी होने की वांछा करने लगती है।



काल संयोजन—जयवर्धन में यदि कुछ है तो वह है फैले समय पर आकलित घटना क्रम का संयोजन जिसे समन्वित नहीं किया जा सकता। और जय का अधिपति कभी एक स्थान पर, एक समय पर और एक विषय पर विचारता ही नहीं। हूस्टन के साथ आध्यात्मिक चर्चा में लीन होकर भी राज्य के विषय में राज्य समूह के चिन्तन की अपेक्षा राज्य से च्युत है—व्यक्ति बनने और राज्य को प्रभावशाली बनाने का प्रयास करता है। इस प्रकार काल संयोजना भली प्रकार उपन्यास में नहीं बँध पाती है। यही नहीं जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अपनी लुब्ध उठा-उठाकर पलेश बैंक पद्धति पर घटनाओं को तोड़ता मरोड़ता है और उनके कालक्रम में सर्वथा व्यवधान उपस्थित करता है। इस-

लिए इला अपने २० वर्ष पूर्व के प्रेम सम्बन्धों की चर्चा करती है तो दूसरे स्थल पर जो इससे भी बाद का स्थल है—आकर वह पुनः उससे भी पहले की घटना का वर्णन करने लगती है। जब पहली बार जय को आश्रम में देखा था। इस प्रकार काल संयोजना सफल नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्रजी ने 'फैले समय पर लिखी' और 'कहाँ तक उपन्यास सिद्ध होगा' की आत्म स्वीकृति देकर अपना बचाव प्रस्तुत कर दिया है।

जयवर्द्धन में काल के समान ही स्थल संघटना भी वैविध्यपूर्ण है। कोई भी घटना किसी एक स्थल पर सम्पन्न नहीं है और किसी औपन्यासिक कलेवर में—विशेषकर जैनेन्द्रजी के इस बहुपृष्ठीय उपन्यास में, उनकी शैलीगत विशेषता तथा कथा की विकसित धारा को देखकर—किसी एक स्थल की संयोजना सम्भाव्य भी नहीं है। कारण है कि अनेक घटनाएँ राजमहल से प्रारम्भ होती हैं तो कहीं सभा के मैदान में समाप्त हैं अथवा महल के प्रकोष्ठ में बैठकर आश्रम साध्वी या आन्दोलनकारी जय की आचार्य के घर में अनायाचित उपस्थिति—इस उपन्यास के स्थल संघटना पक्ष का शैथिल्य प्रकट करती है।

इस सम्पूर्ण उपन्यास में पूर्णतः गत्यात्मकता का अभाव है। प्रारम्भ बड़ी ही ज़िथिल गति से आज से पचास वर्ष बाद की बम्बई और भारत की स्तुति से प्रारम्भ तो होता है पर बम्बई आज की से किंचित भी परिवर्तित नहीं। इस प्रकार जहाँ पर आलोचक इसे यूटोपियन शैली का उपन्यास करने का अथवा भविष्यवाणी उपन्यास नाम देने का प्रयास करते हैं पर यह उचित नहीं है क्योंकि भविष्यवादी उपन्यास के चित्रण में काल, समय, घटनाक्रम से जितना सम्बन्ध होगा उतना ही उपन्यास की तीव्रगति से प्रवाहित होना भी। इसका (जयवर्धन का) संक्षिप्त कथानक यह है—जय अधिपति है, इला उसकी सहगामिनी है और चूँकि इला का सहगमन अविवाहित रूप में चिदानन्द नहीं सह पाते हैं और यह सहवाग उन्हें देश के चरित्र-पतन का हेतु दीखता है, इसलिये वे जय

का विरोध करते हैं और चाहते हैं कि यह राज्यपद छोड़ दे। इला स्वयं सारी स्थितियों से अवगत होते हुए भी जय को छोड़ने में असमर्थ है और पिता की (आचार्य की) इच्छा के विरुद्ध भी जय के साथ है। वह इसलिये जय के साथ है कि वह जय को—एक अकेले जय को पाने में ही सार्थकता मानती है। वह अधिपति जय की प्राप्ति की कामना नहीं करती किन्तु इस और उद्योगशील अवश्य है कि जय राज्य पर बना रहे। जय है कि उसके प्रति जनता में फैली हुई अशान्ति और आन्दोलनों के प्रति राज्य की शक्ति का प्रयोग नहीं करता। क्योंकि उसकी मान्यता है कि विरोध मात्र व्यक्तिगत हैं। आचार्यजी जय से विरोध इसलिये करते हैं कि उद्योगीकरण की नीति में मशीनों के उपयोग को वे अनावश्यक मानते हैं और जय के प्रयत्नों को वे प्रमाद मानते हैं। तथापि चाहते हैं कि प्रमाद से निकलकर वह यहाँ आश्रम में आकर चर्खा कातते। तीसरा दल नाथ दम्पति का है जो उपन्यास के मध्य में उभरता है। इससे पूर्व इस दल का कोई उल्लेख नहीं है। यह दल एकदम जय का पक्ष समर्थन करता है जिसका प्रतिनिधित्व केवल नाथ और लिजा करते हैं। इस दल की समस्त बागडोर लिजा (एलिजाबेथ—एक हंगेरियन महिला) के हाथ में है। वह अप्रत्यक्षतः या प्रत्यक्षतः जय का संसर्ग चाहने लगती है इसलिये अपने पति से तलाक लेने को भी उत्सुक हो जाती है और अन्त में निराश भी होती है। जय जब सर्वदल सम्मेलन में अपने त्यागपत्र की बात रखता है तो सर्वदल उसे त्यागपत्र न देकर राज्य-संचालन के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु वह सर्वदलीय सरकार आचार्य की अध्यक्षता में माँप कर इन्द्रमोहन के साथ जो सर्वप्रथम उपन्यास के प्रारम्भ में जय को अपना दुश्मन बतलाता है और जय जिसे बालमखा बतलाता है—कहीं भाग कर मंच से हट जाता है। अन्त में श्री विल्वट हूस्टन अमरीकी पत्रकार महोदय बम्बई से अपने देश को लौटते हुए सूचना देते हैं कि जय का इला से अन्तिम दिन विवाह हो चुका है।

→ ६३, अशोकनगर, उदयपुर।

काव्य की तुला पर भाव जगत और प्रेम

● डा० रामकुमार खण्डेलवाल

भाव-जगत—मानव का अपने भीतर के भावना-जगत से सम्बन्ध उतना ही घना है जितना इस बाहर के विश्व से। एक संसार मानव के चारों ओर है और एक उसके भीतर—उसकी आत्मा के चारों ओर। इस बाह्य और अन्तर्जगत का सम्बन्ध भी अन्योन्या-श्रित है। अपनी चेतना शक्तियों द्वारा मनुष्य निरन्तर अनुभव करता है और उसका भाव-जगत उन सारे अनुभवों को आत्मसात् कर अपने में एक और जगत की सृष्टि कर लेता है। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों की समाप्ति हमारे लिए वहीं नहीं हो जाती वरन् भावों की चेतना का योग उन्हें माजित, परिवर्तित, परिवर्धित करता है। जैसे विभिन्न तत्वों (Elements) से बना कोई रसायन (Chemical compound) केवल उन तत्वों का योग वरन् एक स्वतन्त्र पदार्थ होता है, उसी प्रकार मानवीय चेतना द्वारा ग्रहण किये अनुभव भावों का रूपाकार ग्रहण करने पर अपना एक निज का अस्तित्व बना लेते हैं। वैसे तो मनुष्य की मूल वृत्तियाँ भी आहार, निद्रामय आदि ही हैं पर पशु-जगत के प्राणियों की भाँति ये मूल वृत्तियाँ मानव में अपनी अथ व इति आप में नहीं होतीं। उदर-पोषण, सन्तानोत्पत्ति, विश्राम और आपत्तियों से स्वयं की रक्षा संसार में प्राणिमात्र के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। पशु इन वृत्तियों के मूल रूप से विशेष नहीं बढ़ पाते। कारण उनमें प्रायः भाव अथवा भावना की उन शक्तियों का अभाव है जो विधि ने केवल मानव को ही इतनी मात्रा में दी है कि वे अपनी अनन्तता का ही स्पर्श कर सकती हैं।

प्रणय और वात्सल्य की भी आवश्यक भावनायें

कुछ पशुओं में पर्याप्त विकसित रूप में होती हैं पर उन भावनाओं का क्रमिक विकास और उनकी धुरी पर जीवन की गतिविधि का नियन्त्रण मानव के लिए ही सम्भव है। कारण है मानव का अतुल अपार असीम भाव वैभव। इसी वैभव के बल पर आँखें जो देख नहीं पाती, कान जो सुन नहीं पाते, स्पर्श जो छू नहीं पाता मानव उसका भी अनुभव कर लेता है। गुलाब मनोरम होता है किन्तु प्रिया का सौन्दर्य गुलाब के रंग और गन्ध ये भी सुन्दरतम होते हैं। यह भावना से ही समझा जा सकता है। वीणा के तारों से भङ्गुत रागिनी की मिठास श्रवण-चेतना को तृप्त करती है पर विश्व के कण-कण से निसृत आलौकिक स्वर प्राणों को कैसे भङ्गुत करते हैं—यह भावना से ही अनुभव किया जा सकता है। वस्तुतः भाव मानव की वह अन्तश्चेतना है जो उसके समस्त पार्थिव एवं अपार्थिव अस्तित्व की प्रणेता एवं समन्वयकारिणी है। विश्व के इतिहास में मानव का विकास उसके भावों का ही वह विकास है जो उसे क्रमिक रूप से पूर्णतर एवं सुन्दरतर बनाये जा रहा है। भावभूमि पर मानव की चेतना जितनी परिष्कृत एवं श्रेष्ठ होती जाएगी, संस्कृति और सभ्यता के इतिहास में उसकी गाथा उतनी ही उज्ज्वलतर। मानव अस्तित्व में भावनाओं का आलोक उसी भाँति निहित है जैसे दीपक में प्रकाश। भाव तन की सामर्थ्य है। मन का संबल और आत्मा की शक्ति। वास्तव में भावों के शृङ्गार के बिना मानव भी दो पैर का पशु ही होता।

हमारे नित्यप्रति के साधारण जीवन के कार्य-कलापों के पीछे भी भावनाओं की अन्तश्चेतना निर-

न्तर गतिमान होती है। भावनाहीन व्यक्ति कदाचित् मानव की संज्ञा का अधिकारी नहीं। थड़कन के बिना मानव हृदय निस्पन्द है, मृत है और भावना की थड़कनों के अभाव में मानव का अस्तित्व निष्प्राण।

जब हमारे साधारण जीवन पर भावनाओं का इतना अधिकार है तो साहित्य और कला के विशेष क्षेत्र में इसका प्रभाव सघनतर होना अनिवार्य ही है। कोई भी कला हृदय और मस्तिष्क का वह संयोग होती है जो भावनाओं द्वारा सज-सँवर कर प्रस्तुत हो पाती है। मस्तिष्क विचार करता है हृदय अनुभूति। विचार और अनुभूति भावें एवं भावनाओं को जन्म देते हैं और इन्हीं भावनाओं के फलक पर फिर काव्य, संगीत, चित्रकला आदि कला के विभिन्न चित्र उभरते हैं। कला की श्रेष्ठता, उदात्तता तथा विशालता उसके सर्जक के भावना-जगत का ही प्रतिबिम्ब होती है। यही कारण है कि कवि जितना अधिक संवेदनशील होता है उसकी रचनाएँ उतनी ही मर्म-स्पर्शी हो पाती हैं। कला की श्रेष्ठता एवं मर्मस्पर्शिता का आधार प्रधानतः कलाकार की भावनाएँ ही होती हैं।

हृदय और मस्तिष्क का उचित समन्वय मानव की विशेषता है और उस समन्वय का निखरा-सँवरा रूप कलाकार की। भावनाओं का अधिकाधिक बल देकर इस समन्वय को पूर्णतम् एवं सुन्दरम् बना देना काव्य का लक्ष्य होता है। भावों से जागृत काव्य फिर पाठक या श्रोता में भावों के शत-शत शतदल खिलाता चलता है।

भाव का वैज्ञानिक निरूपण—साधारण और प्राथमिक अवस्था में शरीर के ही सुख-दुख की इन्द्रिय-जनित अनुभूति मानव को होती है। आदि मानव की प्रथम अनुभूतियाँ उदर-पोषण, गर्मी-सर्दी से रक्षा आदि नितान्त शारीरिक सुविधाओं पर निर्भर रही होगी। प्रत्येक मानव शिशु इन अनुभूतियों का उदाहरण होता है। पेट भरने पर चुप रहना और भूख लगने पर रो उठना जितना शिशु के लिए स्वाभाविक है उतना उस बात का प्रमाण भी कि सुख और दुख की अनुभूति

उसे होती है यद्यपि नितान्त शारीरिक सुविधा अनु-विधा होने पर। इसके बाद वह प्रत्येक साधारण ध्वनि की ओर आकर्षित होता है, प्रत्येक वस्तु को देखता है। यह देखना सुनना पहले कौतूहलजनित और इन्द्रियों के सहज स्वभावगत होता है। इसके बाद वह स्थिति आती है जब वह चमकीली रंगविरंगी वस्तुओं को देखकर किलकता है, प्रसन्न होता है और कुछ विशेष ध्वनियों को सुनकर आनन्दित होता है। इस प्रकार उसे चमकीली रंगविरंगी वस्तु में प्राप्त दृष्टि सुख की अनुभूति होती है और विशेष ध्वनि से श्रवण सुख की अनुभूति होती है। धीरे-धीरे सुखद वस्तुओं को निकट रखना तथा अप्रिय एवं दुःखद वस्तुओं को दूर करना वह स्वभावतः सीख जाता है। यही राग और द्वेष का मूल है।

विद्वानों के अनुसार ये इन्द्रियजनित सुख और दुःख पर आधारित राग और द्वेष ही आगे चल कर प्रेम, क्रोध आदि विभिन्न प्रवृत्तियाँ एवं वासनाओं का रूप धारण करते हैं।

आरम्भ में प्रेम, क्रोध आदि प्रवृत्तियाँ एवं वासनाएँ अपने नितान्त सामान्य रूप में रहती हैं। धीरे-धीरे वे विशेष वस्तुओं एवं विषयों की ओर विशेष प्रकार से उन्मुख होने पर यही प्रेम, क्रोध आदि प्रवृत्तियाँ प्रेम और क्रोध आदि भावों या मनोविकारों का रूप धारण कर लेती हैं।^१

^१ नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संचरित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति के ही विषय भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, कर्षणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती हैं। जैसे यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा पर यदि साय ही वह जान हो जाय कि सुई चुभानेवाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक व शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते हैं। —आ. रामचन्द्र सुकः

भाव या मनोविकार, चिन्तामणि पृ. २

वासना एवं प्रवृत्ति तथा भाव अथवा मनोविकार में सामान्य और विशेष अन्तर है। प्रवृत्ति में लक्ष्य अथवा आलम्बन निर्दिष्ट नहीं होते। भाव का लक्ष्य स्पष्ट होता है क्रिया एवं प्रतिक्रिया सहित। उदाहरणार्थ भय की प्रवृत्ति के कारण बहुत से जीव जन्तु किसी खटके मात्र से भाग खड़े होते हैं किन्तु मनुष्य प्रत्येक खटके से नहीं, खटके विशेष से डरेगा। पशुओं में भय की प्रवृत्ति, प्रायः प्रवृत्ति की सामान्य दशा में ही मिलेगी, भाव अथवा मनोविकार की विशेष दशा में नहीं।^१ मानव में भी प्रवृत्ति से मनोविकार की स्थिति उसकी सामान्य से विशेष दशाओं की ओर प्रगति करने की होती है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार भाव का विश्लेषण करने पर उसके तीन अंग माने जा सकते हैं—

१—प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में,

२—विषय बिम्ब के रूप में चेतना में (भाव, आलम्बन आदि की भावना)

३—आकृति या आचरण से अभिव्यक्त होकर बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव)

समय और सम्यता के साथ मानव के विकास के कारण जैसे उसके व्यापार अनेकरूपी और जटिल होते गये वैसे ही भाव के मूल रूप भी अपने स्वाभाविक रूपों में न रहकर आच्छन्न होते गये। उदाहरणार्थ आदि मानव के भय का लक्ष्य स्वयं तथा सन्तति की रक्षा तक ही था। जैसे-जैसे उसका संसार, अधिकार व व्यापार बढ़ा, पशु और भूमि की रक्षा उसे आवश्यक हो गयी और फिर धन मान अधिकार प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की चिन्ता होने लगी और रक्षा के उपाय भी वासनाजन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार

^१ सुख और दुख की इन्द्रियज वेदना के अनुसार पहले पहल राग और द्वेष आदि प्राणियों में प्रकट हुए जिनसे दीर्घ परम्परा के अभ्यास द्वारा आगे चल कर वासनाओं और प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना के रूप में थे पीछे भाव रूप में आये।

—आ. रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा, पृ० १६१

के हाने लगे। घृणा, लोभ, क्रोध आदि अन्य भावों के विषय भी धीरे-धीरे अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण कर चले। कुछ भावों के विषय अमूर्त तक होने लगे जैसे यश की लालसा बौद्ध दर्शन में ऐसे भावों को अरूप राग की संज्ञा दी गई है।

आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में और भी कहा है कि भावों के विषयों एवं प्रेरित व्यापारों में प्रत्यक्ष होने वाली यह अनेकरूपता आने पर भी उनका सम्बन्ध भावों के मूल रूपों एवं मूल विषयों से परोक्ष रूप में निरन्तर बना रहता है। आज की कचहरी में दो व्यक्तियों की सम्पत्ति के लिये लड़ाई और दो कुत्तों की रोटी के लिए छीना-झपटी में वस्तुतः कोई भेद नहीं है क्योंकि प्रथम में भी अन्ततः सम्पत्ति के पीछे रोटी और सुख की ही भावना है।

परन्तु यह प्रच्छन्न रूप उतना मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इस प्रच्छन्न का उद्घाटन काव्य का मुख्य कार्य है। सम्यता की वृद्धि के साथ यह कार्य भी अधिकाधिक बढ़ता जाएगा। मनुष्य की मूल रागात्मिका वृत्ति से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसके बहुत से रूपों को हटाना पड़ेगा। सारांश यह कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषय के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे।

काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चल पाता बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर और भूत विषय का ही हो सकता है।^१

अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ही के ही शब्दों में—“ भाव उस विशेष रूप के चित्त विकार को कहते हैं जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हों। संक्षेप में—“प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम ‘भाव’ है।”^२

^१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

^२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा।

भावों का वर्गीकरण—भावों के वर्गीकरण एवं नामकरण का प्रयत्न आरम्भ से होता रहा है पर अभी तक कोई सर्वमान्य विभाजन नहीं हो पाया है। मनोवैज्ञानिकों ने भी विभिन्न प्रकार से प्रयत्न किया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रधान भाव है क्रोध, भय, हर्ष, शोक, घृणा, आश्चर्य और जिज्ञासा। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने केवल दो भेद किये हैं—मूल भाव और तद्भव भाव। अपने आप में स्वतन्त्र भावों को मूल भाव माना गया है अर्थात् ऐसे भाव जिनकी अनुभूति अन्य किसी भाव पर आधारित न हो, जैसे—क्रोध, भय, आश्चर्य, शोक आदि। तद्भव भाव वे हैं जो किसी अन्य भाव पर आश्रित हों यानी जिनकी अनुभूति करने के लिए अन्य किसी भाव की पूर्वानुभूति आवश्यक हो, यथा—कृतज्ञता, दया, पश्चात्ताप आदि। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने भावों को केवल दो वर्ग—सुखात्मक तथा दुःखात्मक में विभाजित किया है। आचार्य बलदेवप्रसाद मिश्र ने तीन वर्ग माने हैं—सुखात्मक, दुःखात्मक एवं वैराजात्मक।^१ फ्रायड ने मूल प्रवृत्तियों को केवल जीव प्रवृत्ति तथा मृत्यु प्रवृत्ति मानकर भावों को इन्हीं दो प्रवृत्तियों पर आधारित माना है।

शैण्ड महोदय ने भावों की सुन्दर मीमांसा की है। उन्होंने माना है कि मानव हृदय में भिन्न भाव-कोश हैं जिनसे विशिष्ट भाव प्रवृत्तियाँ तथा वेग परिस्थिति आदि के कारण उद्भूत होते हैं। भावकोष भावों का समूह नहीं होता वरन् एक भाव प्रणाली होता है जिससे विशिष्ट भावादि ही उत्पन्न हो सकते हैं। यथा प्रीति एक भाव-कोष है जिससे अनेक भाव परिस्थिति आदि के कारण प्रकट होते हैं। जैसे प्रिय पात्र के मिलने पर हर्ष, विरह से दुःख, प्रिय के प्रवास में होने पर शंका, प्रिय के शत्रु को देखकर क्रोध। इन भावों के अतिरिक्त रति मात्र की कोई सत्ता व स्वरूप नहीं है जब प्रेम प्रकट होगा तो वह इस प्रकार के किसी भाव का रूप लेकर प्रकट होगा। वहाँ यही रति विभिन्न आलम्बनों के कारण विभिन्न रूप

^१ जीव विज्ञान : डा० बलदेवप्रसाद मिश्र।

धारण कर लेती है जैसे दाम्पत्य रति, वात्सल्य रति, मैत्री, देश प्रेम, यश प्रेम आदि।

ये भाव कोष स्थायी होने हैं अतः इन पर आधारित संकल्प धीरे धीरे संयत होते हैं जबकि अन्य भावों के संकल्प वेग युक्त होते हैं। जैसे प्रेम-पात्र के दर्शन पर हर्ष, कदाचित् उसे चूमने की बाहों में भरने की प्रबल प्रेरणा होगी पर किसी से प्रीति होने पर उसे प्राप्त करने का उससे मिलने का यत्न सोच विचार कर किया जाएगा।

प्रेम-भाव—प्राचीन अधिकांश आचार्यों के अनुसार रस काव्य का प्राण है और रसों की सूची में 'एको रसः शृंगारः' का महत्व बहुत से आचार्यों ने स्वीकार किया है। शृंगार रस के महत्व पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है और इस कथन की सत्यता प्रमाणित है। भाव ही रस के मूलाधार होते हैं। अतः 'एको रसः शृंगारः' के साथ यदि 'एको भावः रतिः' भी कहा जाए तो अनुचित न होगा। वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं, संसार के सामान्य व्यापारों के घरातल पर भी प्रेम का प्रभाव एवं महत्व तनिक भी विचार करने पर स्पष्ट हो जाएगा।

मानव भावना जगत का प्राणी है। इन भाव-नाओं में प्रमुखता मानव की उस रागात्मक वृत्ति की ही सर्वाधिक है जिसके कारण ही मनुष्य का व्यक्तियों, वस्तुओं एवं स्वयं से भी सम्बन्ध सम्भव है। संसार के समस्त व्यक्तिगत, सामाजिक एवं सांस्कृतिक बन्धन इसी प्रवृत्ति के कारण सम्भव हो पाते हैं। शिशु अनजाने में पहले आप को, फिर माता-पिता एवं परिवार को, अपने चारों ओर के वातावरण को वस्तुओं को प्यार करने लगता है। जिसे वह नहीं चाहता उससे घृणा करता है या उस पर क्रोध करता है। ये घृणा एवं क्रोध भी उसी राग की प्रतिक्रिया है जो उस वस्तु या व्यक्ति विशेष से होता और अन्य से नहीं। एक ओर का विराग दूसरी ओर से परम राग की केवल प्रतिक्रिया ही होती है। सुन्दरी पत्नी और नवजात बालक का मोह छोड़ चल पड़ने वाले गीतम वास्तव में वैरागी नहीं परम रागी हो

उठे थे। उनके हृदय में छलकता प्रेम का सागर केवल परिवार के घेरे में न समा सका और प्राणिमात्र के लिए स्नेह एवं करुणा की अजस्र रसधार बन शत-शत धारा से बह निकला। गीतम का यह निर्वेद भाव स्थूल दृष्टि से विराग किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से परमराग का उदाहरण कहा जा सकता है।

मानव क्रोध न करे, हर्ष में मग्न न हो एवं घृणा से संकुचित न हो उठे, यह सब विशेष दशाओं में सम्भव हो सकता है। किन्तु मानव प्रेम न करे, सांस लेते रहने पर भी प्रेम की धड़कनों से अपरिचित हो यह कदापि सम्भव नहीं। वैरागी कहे जाने वाले व्यक्ति भी किसी न किसी दृष्टि से राजी होते हैं। साधारण प्राणी अपने आप से, अपने परिवार से प्यार करता है, वैज्ञानिक अपनी शोध पर न्योछावर होता है, कलाकार अपनी कला का पुजारी होता है। प्रेम शून्य मानव का अस्तित्व सम्भव नहीं और यह शून्यता की स्थिति आ भी जाए तो व्यक्ति विशेष निस्सन्देह आत्महत्या कर लेगा।

प्रेम का हर्ष, उत्साह, शोक, आदि भावों से जो सम्बन्ध है और उस पर जो अधिकार है वह तो स्पष्ट है ही। विरोधी प्रतीत होने वाले भावों में भी मूल रूप में राग समाया हुआ रहता है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से स्थायी भाव आठ माने गये हैं—क्रोध, भय, हर्ष, शोक, घृणा, आश्चर्य, रति या प्रेम भाव में अन्य सभी भाव समाहित हो जाते हैं।

प्रेमास्पद व्यक्ति या वस्तु की निकटता हर्ष और

उत्साह की सृष्टि करती है और विद्योह शोक की। प्रेमास्पद आश्चर्य का कारण भी होता है। हर्ष, उत्साह और आश्चर्य भाव तो रति के सहयोग भाव कहे जा सकते हैं और शोक रति की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न। क्रोध, भय, घृणा स्थूल दृष्टि से रति के नितान्त विरोधी भाव प्रतीत होते हैं किन्तु प्रायः क्रोध का कारण, भय और घृणा का मूल भी राग की वह स्थिति होती है जो कुण्ठित होने पर गति बदल लेती है। क ख को प्रेम करता है। क को प्रेम का प्रतिदान न मिलने पर 'ख' पर क्रोध आ जाता है और ख से घृणा हो सकती है अथवा ख से प्रतिदान न प्राप्त करने का भय हो सकता है। इसके अतिरिक्त क और ख के मिलन में बाधक के प्रति क्रोध और घृणा तथा भय होना भी स्वाभाविक है।

यहाँ एक बात महत्वपूर्ण है। घृणा, क्रोध आदि में प्रेम हो ही यह आवश्यक नहीं है। कोई हमें तंग करता है तो हम क्रोधित हो उठते हैं उससे घृणा करने लगते हैं। इसी भाँति सर्प को देखकर भयभीत हो उठते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक क्रोध भय या घृणा की पृष्ठभूमि में प्रेम हो और न यह सम्भव है कि क्रोध भय आदि से प्रेम उत्पन्न हो किन्तु रति भाव अपने विस्तृत एवं सम्पूर्ण रूप में अन्य सभी भावों को एवं उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया को समाहित कर सकता है, यह स्पष्ट है।

—रीडर, हिन्दी विभाग, उस्मानिया वि० वि०

हैदराबाद-७

प्रकाशन के सोपान पर—

हमारे 'साधना विशेषांक

की गौरवपूर्ण सफलता के उपरान्त

लोक साहित्य विशेषांक (शीघ्र प्रकाश्य)

लेखकों से उच्चकोटि की रचनाएं आमंत्रित हैं।

—सम्पादक

प्रसाद के आनन्दवाद की भूमिका

• कामता गुप्त 'कमलेश'

भारतीय दर्शन सामान्यतः दो सरणियों में विभक्त है—आत्मवाद और अनात्मवाद या नैरात्मवाद। आत्मवाद के अन्तर्गत समस्त हिन्दू दर्शन हैं और अनात्मवाद में बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन आते हैं। जैन-दर्शन दोनों का समुच्चय करता है। आत्मवाद के अनुसार आत्मा नित्य, अजर-अमर, सभी वस्तुओं की साक्षी, चेतन और अरिवर्तनशील है। अनात्मवाद के अनुसार या तो आत्मा है ही नहीं और या वह नश्वर तथा परिवर्तनशील है। जैन मत में वह परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों हैं जो स्वतः विप्रतिषेधक होने के कारण ठीक नहीं है।

आत्मा की व्याख्या में अब तक सभी दर्शनों में पर्याप्त खण्डन-मण्डन हुआ है। यास्क ने आत्मा शब्द की निरुक्ति यों की है—आत्मा शब्द अर्थात् घातु (सतत चलना) या अप् घातु (व्याप्त होना) से बना है। आत्मा को आत्मा इसलिए कहा जाता है कि यह सदा चलती रहती है या सदा समस्त वस्तुओं में व्याप्त रहती है।^१ शंकराचार्य आत्मा की व्युत्पत्ति करते समय एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हुए कहते हैं—“क्योंकि यह सबको व्याप्त करती है (आप्नोति), ग्रहण करती है (आदत्ते), इस लोक में विषयों को भोगती है (अस्ति) और इसका सदैव सद्भाव रहता है (अतति), इसीलिए इसे आत्मा कहा जाता है।”^२ इस व्युत्पत्ति के पूर्व शंकराचार्य कहते हैं—

^१ ‘आत्मा तते वप्ति वापि वाप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति।’—निरुक्ति ३ : १३ : २।

^२ ‘यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चास्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥’

—लिंग पुराण १।७०।६६।

“कि आत्मा शब्द इस लोक में प्रत्यक् (सम्पूर्ण विषयों को जानने वाला) के अर्थ में रूढ़ है और किसी अन्य अर्थ में नहीं।”^१ इसलिए वे इसे प्रायः ‘प्रत्यगात्मा’ कहते हैं। कभी-कभी प्रत्यगात्मा की व्याख्या वे करते हैं कि यह प्रत्यक् अर्थात् सम्पूर्ण विषयों को जानने वाला और आत्मा दोनों है। यहाँ आत्मा का अर्थ उस वस्तु से है जिसका सातत्व भाव हो और जो सदैव एकता युक्त हो। एतरेयोपनिषद् में आत्मा को मूल तत्व या जगत् का आदि कारण ही कह दिया गया है। और आत्मा से ही सृष्टि को उत्पन्न सिद्ध किया गया है क्योंकि जगत् के आदि कारण का अपर पर्याय ब्रह्म है, अतः आत्मा को ही ब्रह्म समझा गया। माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा ब्रह्म है इसका स्पष्ट उल्लेख है। ‘तत्त्वमसि’ (वह तू है) छान्दोग्योपनिषद् में माना गया है। अब तक जैसा शंकराचार्य कहते हैं, आत्मा प्रत्यगात्मा के अर्थ में और ब्रह्म जगत् के मूल कारण के अर्थ में रूढ़ हो चले। ‘सोऽहमस्मि’ अनुभव में आत्मा तथा अभेद का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ।

भारतीय कवियों ने बुद्धिवाद की अपेक्षा काव्य में इसी आत्मवाद को अधिक मान्यता दी है। ब्राह्मण ग्रन्थ, पुराण एवं अन्य ललित साहित्य में आत्मवाद की अधिकता सर्वत्र हुई है। काव्य में रस को जो प्रमुखता दी गई है वह इसी आत्मवाद की पुष्टि करता है। रस को ‘ब्रह्मानन्द सहोदर’ कहा है और यह आनन्द ही काव्य का प्रमुख लक्षण बना है।

आनन्द परब्रह्म का ही वाचक है—रसो वै सः।

^१ कठोपनिषद् भाष्य, ३ : १।

रसहोवायं लब्धानन्दी भवति । एषहोवानन्दयति ।^१ वह रस ही है । इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है । यह रस सबको आनन्दित कर देता है । इस आनन्द के अंशमात्र के आश्रय से ही सब प्राणी जीवित रहते हैं ।^२ स्वयं तैत्तिरीय उपनिषद् में ही जगत के समस्त पदार्थों का कारण, आधार और लय आनन्द दिखलाया गया है ।

आनन्द अभयत्व है । जब तक द्वैत रहता है तब तक भय बना रहता है । अद्वैत की अनुभूति में अभय की प्राप्ति होती है । आनन्द आत्मा का ही लक्षण है तथा नित्य है । साथ ही इसका स्वभाव भी है । आत्मज्ञान न रहने से आनन्द का भी ज्ञान नहीं होता । आनन्द-लाभ का वही साधन है जो आत्मलाभ का है । ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग, प्रपत्ति मार्ग, पुष्टि मार्ग और योग मार्ग इसको प्राप्त करने के साधन हैं । आनन्द की उपलब्धि ही मोक्ष है ।

भारत में आनन्दवाद का इतिहास—भारत में आनन्दवाद की धारा कभी तीव्र कभी मन्द गति से प्रवाहित होती आ रही है । एतदर्थ आनन्दवाद बाह्य वस्तु नहीं और न आयातित ज्ञान ही । प्रसाद का आनन्दवाद श्रद्धामूलक है जिस पर वर्तमान का प्रभाव परिलक्षित होता है । आज मानव बुद्धि द्वारा प्रताड़ित हो किस प्रकार आनन्द की खोज में भटकता फिर रहा है, यह सर्वविदित है । बुद्धि द्वारा आज पर्याप्त भौतिक साधन, विलास वस्तु निर्मित कर ली गई हैं । फिर भी उसकी आत्मा में अशान्ति बनी हुई है ।

बुद्धिवाद का यह विरोध भारत में प्राचीन काल से ही चला आ रहा है । हिन्दू-संस्कृति सदैव श्रद्धा (हृदय) को प्रधान तथा बुद्धि को गौण स्थान देती आई है । निगम, आगम, गीता, पुराण सभी इसके प्रबल समर्थक हैं ।

प्रसाद के आनन्दवाद का आधार—प्रसादजी प्रमुख रूप से आनन्दवादी कवि थे । कामायनी में

उनके आनन्दवाद की आधार-शिला निम्न पर अवलम्बित है—

क—शैवागमों का प्रत्यभिज्ञा दर्शन ।

ख—इन्द्र (आर्यों के प्रथम सम्राट) के आनन्द-वाद से प्रेरणा ।

ग—यत्र-तत्र बौद्ध धर्म की आनन्दवादी प्रशंसा का प्रभाव ।

शैवागमों के अनुसार आत्मा में 'माहेश्वरी शक्ति' की प्रस्थिति है । आत्मा जब नाम रूप धारिणी हो जाती है अर्थात् जगत् में व्यक्त रूप धारण करती है और भेद-बुद्धि अपनाती है तब उसमें माहेश्वरी शक्ति सुषुप्ति अवस्था में रहती है पर आत्मा जब इस भेद-बुद्धि को त्यागकर अभेद्य की ओर अग्रसर होती है तब आत्मा का शिव से साक्षात्कार होता है । फलतः अज्ञान आवरण के हटने से आत्मा आनन्दधन शिवत्व में लीन हो जाती है । प्रसाद ने इसी तथ्य की ओर इङ्गित किया है ।

'सब में घुल मिलकर रसमय रहता वह भाव परम ।'

आत्मा परमात्मा के एकीकरण को लेकर अन्य दर्शन भी सामने आते हैं । लेकिन प्रसाद शैव दर्शन से अधिक प्रभावित हैं । इसका मुख्य कारण है कि जहाँ बौद्ध सृष्टि में सर्व दुःखम्-दुःखम्, शून्यम्-शून्यम्, क्षणिकम्-क्षणिकम् की दुहाई देते हैं वहाँ प्रसाद सब आनन्दमय है, रसमय है, श्रद्धामय है, भावमय है का पाठ दुहराते हैं । शङ्कर का अद्वैत मत ही आत्मा को दुःख से व्याप्त बताता है । सांख्य दर्शन भी सृष्टि में दुःखमय की सत्ता मानता है । लेकिन प्रसाद का आत्मवाद आनन्द से ओत-प्रोत है । दूसरे शङ्कर अद्वैत में ज्ञान की प्रधानता देते हैं और प्रसाद ने श्रद्धा को महत्व दिया है । प्रसाद जगत् और ब्रह्म में अभेद देखते हैं पर अन्य दर्शन प्रकृति, पुरुष और ब्रह्म में एक बहुत बड़ा व्यवधान स्वीकार करते हैं । इससे निश्चित है कि प्रसाद पर शैव दर्शन का प्रभाव भी पड़ा है ।

प्रसादजी किस प्रकार के आनन्दवादी हैं ?—विश्व में वस्तुतः दो प्रकार के आनन्दवादी होते हैं । जो निम्न हैं :—

^१ तैत्तिरीय उपनिषद् २ : ७ : १ ।

^२ बृहदारण्यक उपनिषद् ।

क—जो विकट परिस्थितियों में पड़ने पर तथा अनेक प्रकार की विघ्न-वाधाओं के होने पर विश्व से तटस्थ रहकर उसका कल्याण करते हुए अपने उद्दिष्ट मार्ग पर चलते हैं, तथा

ख—जो विश्व के प्रति अपना कोई दायित्व न समझ स्वयं के आनन्द में लीन रहते हैं ।

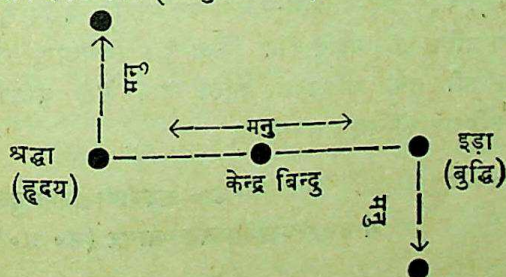
प्रसादजी प्रथम (क) प्रकार के आनन्दवादी हैं ।

प्रसाद के आनन्द का मूल—तैत्तिरीय उपनिषद् में “अयायात्मा परानन्द” के अनुसार आत्मा को आनन्द स्वरूप मानते हैं । आनन्दमय जीवन किस प्रकार हो सकता है यही श्रद्धा एवं मनु के जीवन से बताया गया है ।

गीता तथा माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार भी श्रद्धावान व्यक्ति ही आत्मा के सत्य स्वरूप को पहचानकर आत्मानन्द में लीन हो जाता है । इसके समर्थन में प्रसाद का मनु जब तक श्रद्धा के संसर्ग में है तब तक सुखी है किन्तु जैसे ही वह इडा के साहचर्य में आता है वैसे ही उसका पराभव होता है । अतएव हम यदि मनु के इस भाव को क्रीडात्मक ‘सी-सा’ झूले से स्पष्ट करें तो वह निम्न प्रकार से होगा—

कल्पना कीजिए मनु उस केन्द्र बिन्दु पर हैं जहाँ एक ओर श्रद्धा है तथा दूसरी ओर इडा । मनु यदि इडा (बुद्धि) की ओर झुकते हैं तो वह उन्हें पराभव दे अन्नमय कोष या प्राणमय कोष में गिरा देती है किन्तु जब मनु श्रद्धा (हृदय) की ओर बढ़कर उसके आलिंगन पाश में बँधते हैं तब वह उन्हें ऊपर उठा आनन्दमय कोष में पहुँचा देती है जहाँ मनु को त्रिपुर का दर्शन हो, इच्छा, ज्ञान और क्रिया के एकीकरण का आभास होता है । यदि इस भाव को चित्र के द्वारा दिग्दर्शित करना चाहें तो वह निम्न ढंग से होगा—

आनन्दमय कोष (त्रिपुर मिलन)



अन्नमय या प्राणमय कोष

इस प्रकार श्रद्धा की भूमिका आनन्द प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण है । फिर भी इस स्थल पर कुछ लोग प्रसाद को बुद्धि का विरोधी मानते हैं और उससे उनका घोर विरोध प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं ।

क्या प्रसाद बुद्धि के विरोधी है ?—किसी व्यक्ति का हृदय जब श्रद्धालु है तो बुद्धि या ज्ञान तो उसमें स्वतः ही आ जाता है क्योंकि बुद्धि तो श्रद्धा की अनुगामिनी है ।^१

अतएव भेदभाव के रहते आनन्द कहाँ ? सारस्वत प्रदेश में इडा (बुद्धि) मनु (मन) के लिए नियम बनाती है किन्तु मन में जब तक श्रद्धा नहीं, विद्वान नहीं, उसका पालन करना सम्भव नहीं । अन्ततः श्रद्धा जिसके प्रति रहती है उसके लिए तर्क की आवश्यकता ही नहीं । फिर भी मनु जब श्रद्धा को पाकर भी कुछ बुद्धिवादी बने भटक रहे थे तब प्रसाद ने उस समय हुक्कार भरी—

तुम भूल गए, पुरुषत्व मोह में,
कुछ सत्ता है नारी की ।
समरसता सम्बद्ध बनी,
अधिकार और अधिकारी की ॥

फलतः यह प्रमाणित होता है कि प्रसाद बुद्धि के विरोधी नहीं हैं अपितु उसे श्रद्धा को अत्यधिक चमत्कृत एवं फलीभूत बनाने के लिए आवश्यक मानते हैं । बुद्धि कभी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती वरन् सहयोग दे सकती है । इसीलिए श्रद्धा मानव को मनु को ढूँढ़ने जाते समय इडा के पास छोड़ जाती है । क्योंकि मार्ग में मानव के कारण विपत्ति आने की आशंका भी तो हो सकती है । (एक बार तो आ ही चुकी थी) इसी स्थल पर श्रद्धा का लौकिक रूप प्रखरित होता है और वह अपने पुत्र शर्याति को भी समरसता के सिद्धान्त का अनुयायी एवं प्रचारक होने को उपदेश देती है—

सबकी समरसता का कर प्रचार
मेरे सुत, सुन माँ की पुकार ।

^१ श्रद्धावान लभ्यते ज्ञानम् ।—गीता

यह समरसता का भाव समान आस्वादन वाले को माना जाता है। 'समरस' शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग शैवाग्रम में ही हुआ है। जिसमें शिव और शक्ति के परस्पर तादात्म्य संवेद्य को समरस्य या समरसता कहा गया है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दोनों भेदाभेद संवेद्य से आस्वादन की भूमिका में समान रूप से अधिष्ठित हैं। अर्थात् आनन्द-बोध के समान दोनों समान हैं। यह समरसता ही भारतीय कला की आधारपीठिका है। विषय और विषयी में, दृश्य, दृष्टि और द्रष्टा में, ग्राह्य और ग्राहक में तथा भावक, भावना और भाव्य में इसी की पूर्णता पाना भारतीय कला या कविता का मूल उद्देश्य बना। कला या काव्य का आस्वादन संवित् की वह स्थिति है जब वह बाह्य विकल्पों से एकदम विरहित होता है और नाना रूपात्मक जगत् उसमें प्रकाशमान रहता है। यही समरसता की या तन्मयी भाव की स्थिति है। इसमें पहुँचे बिना न तो कला की सृष्टि हो सकती है और न कला की परख ही। प्रसाद ने इसी समरसता की स्थिति को कामायनी में

चरम उपलब्धि की भूमिका के रूप में अपनी मान्यता दी है।

समरसता की यह अवस्था विषयातीत होती है। इसे प्राप्त कर लेने पर सभी प्रकार की आकांक्षाओं, ईप्साओं का अवमान हो जाता है। कवि की दृष्टि में आनन्द ही योग है, आनन्द ही मोक्ष है और आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से परे और कुछ नहीं है। दर्शन परमात्मा के अस्तित्व तथा अनस्तित्व की घोषणा 'तर्क' के द्वारा करता है किन्तु प्रसाद इसे 'अनुभूति' का विषय मानते हैं। उन्होंने दर्शन की आध्यात्मिकता को व्यावहारिक रूप दिया है। मनु, श्रद्धा, इडा तथा शर्याति (मानव को कैलाश की ओर दिखा कर प्रसाद उस आनन्द लोक का वर्णन करते हैं जहाँ पाप-पुण्य कुछ नहीं है, सब समरस है—

अपने सुख दुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट वपु मंगल,
यह सत्य, सतत्, चिर-सुन्दर॥

—२६ ए—गांधीनगर, आगरा।

साधना विशेषांक पर कुछेक सम्मतियां—

'साहित्य-सन्देश' का नव प्रकाशित 'साधना अङ्क' प्राप्त हुआ। धन्यवाद।

इस अङ्क में सन्त साहित्य के विशेषज्ञ विद्वान श्री परशुरामजी चतुर्वेदी से सन्बन्धित बड़ी सुन्दर सामग्री है। श्री चतुर्वेदीजी विज्ञापनवाजी से दूर रह कर सतत् साहित्य-साधना में तल्लीन रहने वाले महा-नुभाव हैं। उनके सम्मान में इस अङ्क को प्रकाशित कर आपने बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है।

—प्रभुदयाल मीतल
मथुरा

'साहित्य-सन्देश' का 'साधना-विशेषाङ्क' मिला। आभारी हूँ।

आपने हिन्दी के मूक साधक पं० परशुराम चतुर्वेदी और सन्त-साहित्य-साधना पर स्तरीय विशेषाङ्क प्रकाशित कर, महान् कार्य किया है। विशेषाङ्क का स्थायी तथा शोधपरक महत्त्व है। मेरी बधाई स्वीकार कीजिए। सधन्यवाद।

—डा० लक्ष्मीनारायण दुवे
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)

चन्द्रगुप्त नाटक में औदात्य और नाटकीय संघर्ष की स्थिति

• सुरेशचन्द्र शर्मा

जीवन की अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन इति-
हासों का व्यंग्य मलिन उपहास देखने वाले
स्वयं प्रसाद के व्यक्तित्व का ही नहीं अपितु उनके
साहित्य का भी उद्देश्य उस सीमा तक पहुँचना रहा
है—जिसके आगे राह नहीं हुआ करती। शिव
की तरह एक ओर उन्होंने जीवन की सम्पूर्ण विषम-
ताओं और संघर्षों के हलाहल का पान किया तो
दूसरी ओर शान्त और गम्भीर हँसी हँसते हुए साहि-
त्यिक जगत् को काव्य का अमृत भी प्रदान किया।
उनके व्यक्तित्व की तरह उनके साहित्य की मूल-चेतना
का स्वर भी वैषम्य का सृजन करने वाला रहा है।
एक ओर उसमें अमृत है तो दूसरी ओर विष, एक
ओर सुखात्मक भावनाओं का साम्राज्य है तो दूसरी
ओर दुःखात्मक अनुभूतियों का ज्वार। यह विशेषता
उनके नाटकों में और भी अधिक प्रबल हो उठी है।
इन नाटकों का पट यद्यपि ऐतिहासिक सूत्रों से निर्मित
हुआ है परन्तु नाटककार प्रसाद के समन्वयवादी
व्यक्तित्व से उनमें कल्पना के रंगीन घागे भी मिल गए
हैं। जहाँ भारतीय नाट्यकला के अनुरूप इनमें रसा-
त्मकता की स्वीकृत है वहाँ पाश्चात्य नाट्यकला के
अनुसार द्वन्द्व की प्रधानता भी। इन दोनों नाट्यकलाओं
के प्रभाव स्वरूप औदात्य और संघर्ष का समन्वय भी
यहाँ परिलक्षित होता है—जो प्रसाद के नाटकों की
प्रमुख विशेषता है। उनका 'चन्द्रगुप्त' नाटक भी
इसका अपवाद नहीं है।

औदात्य और संघर्ष की अवस्थित का रूप 'चन्द्र-
गुप्त' नाटक में किस प्रकार का रहा है (उत्कर्ष प्रदायक
अथवा अपकर्ष विधायक) यहाँ इस प्रश्न पर विचार

करने से पूर्व इन दोनों ही शब्दों—औदात्य और
संघर्ष को स्पष्ट कर देना उचित होगा। जो आल-
म्बन हमारे चित्त को मात्र आकर्षित न कर उसका
उन्नयन या उत्कर्षण करता है वह उदात्त कहलाता
है।^१ और "नाटक की वह स्थिति जिसमें विरोधी
शक्तियाँ अन्तिम बार परस्पर संघर्ष करती हैं तथा
जो कथावस्तु को निर्णयात्मक क्षण प्रदान करती हैं,
संघर्ष कहलाती हैं।"^२ 'उदात्त' और 'संघर्ष' ये दोनों
ही शब्द एक दूसरे के विरोधी हैं। उदात्त जीवन की
पूर्णता, महत्ता, और गरिमा आदि का व्यञ्जक है
तो संघर्ष जीवन के अभावों, दुर्बलताओं एवं छुद्रताओं
का प्रतीक। एक जीवन के आदर्श की अभिव्यक्ति का
माध्यम है तो दूसरा यथार्थ की प्रतीति कराने में
सहायक। उदात्त का सम्बन्ध महाकाव्य से अधिक है
तो संघर्ष का नाटक से। कारण स्पष्ट है, महाकाव्य
में जीवन की समग्रता का आकलन रहता है, इसलिए
उसके कथानक, पात्र, उद्देश्य, कथोपकथन एवं शैली
आदि सभी में एक प्रकार की गरिमा निहित रहती है
परन्तु नाटक में जीवन की अपूर्णता का साम्राज्य होने
से उत्थान-पतन को अधिक स्थान मिलता है—तभी
उसकी नाटकीयता प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार
उदात्त की स्थिति विशुद्धोदात्त, मात्र उदात्त एवं अपो-
दात्त आदि रूपों में मानी जा सकती है, उसी प्रकार
संघर्ष भी अनेक रूपों में परिलक्षित हो सकता है,

^१ जगदीश पाण्डेय—उदात्त सिद्धान्त और शिल्पन,

पृ० १

^२ हिन्दी साहित्य कोष (भाग १), सं० धीरेन्द्र वर्मा—

पृ० ८४८

जैसे—बाह्य संघर्ष और आन्तरिक संघर्ष । कतिपय विद्वानों^१ की दृष्टि में यही संघर्ष तीन कोटियों में स्वीकार किया गया है—(१) एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच द्वन्द्व या नायक और प्रतिनायक का संघर्ष, (२) एक ही मनुष्य की अनेक वृत्तियों का द्वन्द्व, (३) शुभ और अशुभ विचारों का व्यापक द्वन्द्व (संघर्ष) । भारतीय समीक्षा-जगत् में 'उदात्त' का अलंकार के रूप में^२ तो उल्लेख हुआ है किन्तु काव्य की कोटि सिद्धि के रूप में नहीं । इसी प्रकार संघर्ष के स्थान पर यहाँ नाटक के लिए रसात्मकता आवश्यक समझी गई । परन्तु पाश्चात्य प्रभाव स्वरूप आधुनिक भारतीय समीक्षा के क्षेत्र में इन दोनों ही तत्त्वों का व्यापक विवेचन हुआ है और ये दोनों ही तत्त्व साहित्य-निकष के रूप में ग्रहीत हुए हैं—उदात्त महाकाव्य के लिए और संघर्ष नाटक के लिए । परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि प्रसाद की नाट्यकला वह विशेषता लिए हुए है कि उनके नाटकों में औदात्य और संघर्ष की समान रूप से स्वीकृति है—चन्द्रगुप्त नाटक भी इन्हीं दोनों तत्त्वों के समन्वय का परिणाम है । इस नाटक में एक ओर महाकाव्योचित औदात्य भी है है तो दूसरी ओर नाटकीय संघर्ष भी ।

महाकाव्योचित औदात्य की दृष्टि से यह नाटक भारतीय गौरव, शक्ति, उत्साह एवं पराक्रम का प्रतीक है जिसका टेक्निकल साँचा बहुत कुछ महाकाव्योचित गरिमा से अभिमण्डित है । नाटक का कथानक दीर्घ-काल व्यापिनी घटनाओं से संग्रथित है । पच्चीस-तीस वर्षों वाला कथानक महाकाव्य के बहुत अनुकूल हो सकता है ।^३ इसमें उदात्त पात्रों के इतिवृत्त उपस्थित किए गए हैं जो भारतीय संस्कृति और आदर्शों के

सच्चे प्रतिनिधि हैं । जिनसे किसी भी युग और देश की जनता प्रेरणा ग्रहण कर सकती है । चाणक्य का महत् व्यक्तित्व महाकाव्य के नेता (नायक) से किसी भी प्रकार कम नहीं है । वह विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है जिसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खिलवाड़ किया करती है । उसका ब्राह्मणत्व परम प्रबल है जिसकी अभिव्यक्ति वह "मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना नदियों को पचाते हुए सीमा से बाहर न जाना यही तो ब्राह्मण का आदर्श है" कह कर करता है । चाणक्य की रग-रग में महत्वाकांक्षा की भावना परिव्याप्त है । चन्द्रगुप्त से वह स्पष्ट शब्दों में कहता है—"महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है ।" उसकी महत्वाकांक्षा का ध्येय स्वार्थ की संकुचित सीमाओं से बहुत ऊपर उठा हुआ है । चाणक्य का लक्ष्य केवल विदेशी आक्रमणकारियों से देश को मुक्त कराना मात्र नहीं है वरन् समस्त आर्या-वर्त को एक सूत्र में बाँधकर राष्ट्र को विशृङ्खलित शक्तियों को संगठित करना है । अपनी महत्वाकांक्षा की सिद्धि के लिए मालविका के प्राण लेने तक में भी उसे कोई संकोच नहीं और कल्याणी की आत्म-हत्या को देखकर तो वह कह ही उठता है—"चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कण्टक हुए ।" मात्र वैभव-प्रदर्शन उदात्त कोटि में नहीं आ सकता—भावनाओं का उन्नयन आवश्यक है । चाणक्य की यह महत्वाकांक्षा जिसमें वह केवल सिद्धि देखता है और वर्तमान के लिये क्रूर बनता है उदात्त कोटि में इसलिये आती है कि उसकी महत्वाकांक्षा अपने लिये नहीं 'पर-कल्याण' के लिये है—जहाँ 'स्व' की भावना से वह बहुत कुछ ऊपर उठी हुई है । यही कारण है कि उसकी सिद्धि के पश्चात् (नाटक के अन्त में) आनन्द-जलधि का वासी चाणक्य 'मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान' देते हुए यह कहकर कि 'चलो, अब हम चलो' राजनीति के रंगमंच से हट जाता है । वस्तुतः चाणक्य का चरित्र औदात्य की एक अभिनव सृष्टि

^१ डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त—साहित्यिक निबन्ध, पृ० ७१३

^२ लोकातिशय संपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।

यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्ग महतां चरितं भवेत् ॥

—विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण (दशम परिच्छेद)

^३ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कृत जयशंकरप्रसाद, पृ० १६४ ।

है जिसकी बुद्धि-गरिमा से अभिभूत हुआ जगद्विजेता सिकन्दर अपने दम्भ को भूल कर कह उठता है—“यन्म है आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ।” चाणक्य के चरित्र की तरह चन्द्रगुप्त के वीरतापूर्ण चरित्र का औदात्य भी कम आकर्षक नहीं जो शील और विनम्रता का बाना पहने हुए है। संसार भर की नीति और शिक्षा का ग्रंथ वह यही समझता है कि “आत्म-सम्मान के लिये मर-मिटना ही दिव्य जीवन है।” प्रत्येक अवस्था में वह शत्रु की ललकार स्वीकार करने को कटिबद्ध रहता है। कायरों की सी बचक शिष्टता से उसे घृणा है। सिकन्दर के प्रति कहे हुए उसके इस वाक्य से कि “मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं”—यह प्रकट होता है कि उसकी वीरता स्वार्थप्रेरित नहीं। चन्द्रगुप्त की वीरता का प्रदर्शन या तो गुरुदेव (चाणक्य) के आज्ञा-पालन में होता है अथवा विश्व-कल्याण में “गुरुदेव, विश्वास रखिये, यवन यहाँ कुछ भी नहीं कर सकेंगे।” फिलिप्स की कामुकता के कारण कार्नेलिया का कौमार्य संकट में है यह देखकर वह अपने बाहुबल से फिलिप्स की गर्दन पकड़कर दबा देता है और क्षमा माँगने पर उसे मुक्त भी कर देता है। वह चीते से कल्याणी की रक्षा करता है। चन्द्रगुप्त की शक्ति और वीरता का यह औदात्य जो ‘रक्षणाय’ में है निश्चय ही वरेण्य है। सिंहारण वीर है और वीरों की तरह स्पष्ट वक्ता भी। “...और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा, फिर चिन्ता किस बात की” कहने वाले सिंहारण की वीरता आत्मविश्वास से पूर्ण है। उसका सम्पूर्ण चरित्र एक योग्य मूल के औदात्य की प्रतिकृति है जो चन्द्रगुप्त के साथ अपने मित्र भाव को विरोधी परिस्थितियों में भी बनाए रखता है। पर्वतेश्वर का चरित्र क्षत्रियोचित दर्प की गरिमा लिये हुए है। सिकन्दर के साथ अकेले ही वह युद्ध में तत्पर रहता है और सेनापति को आदेश देता है “उन कायरों को रोको, उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की

चिन्ता नहीं...।” राक्षस का चरित्र स्वामिभक्ति का आदर्श प्रस्तुत करने वाला है और वररुचि का चरित्र क्षमा शीलता का। “मेरी स्वतन्त्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता।” सिकन्दर के अनुचरों से इस प्रकार निर्भीक वचन कहने वाला दाण्ड्यायन त्याग, तपस्या और संयम की साक्षात् मूर्ति है।

उपर्युक्त पुरुष पात्रों की तरह स्त्री-पात्र भी अपने-अपने चरित्रों द्वारा औदात्य की व्यञ्जना करने में सहायक हुयी है। मलका, सुवासिनी, मालविका आदि नारी पात्रों में मलका का चरित्र अधिक विकसित है जिसमें देश-भक्ति की धुन समाई हुई है। “हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती” का उद्बोधन करने वाली मलका एक ओर देशोद्धार के प्रयत्न में बन्दिनी बनाई जाती है तो दूसरी ओर अपनी वीरता के बल पर वह मालव दुर्ग में सिकन्दर का प्रतिरोध भी करती है। देश-प्रेम और वीरता की भावना में सराबोर मलका भारतीय नारी की एक आदर्श कल्पना है। “यह नया विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का सकल्प रखते हो ? फिर अपने को नहीं ?” कहने वाली सुवासिनी कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम, पथ-भ्रष्ट मानव को उचित राह पालाने वाली आदर्श नारी का प्रतीक है। मालविका का प्रेम अनौपचारिक प्रेम का आदर्श है जो चन्द्रगुप्त के प्रणय-सूत्र में बँधी हुई उसकी रक्षा के लिए अपना जीवन ही उत्सर्ग कर देती है। कार्नेलिया का चरित्र एक उदार नारी के रूप में प्रकट हुआ है। इसी प्रकार कल्याणी का चरित्र भी गरिमा-मण्डित है जिसने “वरण किया था केवल एक पुरुष को, वह था चन्द्रगुप्त।”

उद्देश्य और रस की दृष्टि से भी ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक औदात्य की सृष्टि करता है। नाटक का प्रधान स्वर राष्ट्रीयता की भावना में है। विदेशियों को पराजित करने, समस्त देश को एकता के सूत्र में बाँधने और विराट् साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में नाटक का उद्देश्य निहित है। जिसको क्रियान्वित रूप चन्द्रगुप्त और

चाणक्य के द्वारा मिला है। नाटक के प्रारम्भ में ही चाणक्य का स्वर सुनाई देता है। “मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।” उद्देश्य की इस भावना में संकीर्णता की गंध नहीं अपितु व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण निहित है। रस की दृष्टि से देखें तो इस नाटक का संवेद्य रस वीर है तथा उसका पोषक शृंगार और नियामक शान्त है। इन तीनों रसों की त्रिपथगा नाटक में प्रवाहित हो रही है। जिस प्रकार सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता में और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव में अन्ततः विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार वीर और शृंगार की धाराएँ यहाँ शान्त रस की धारा में घुल मिल गई हैं।

भाषा-शैली के विकास की चरम परिणति के लिए तो प्रसाद के सभी नाटक प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस नाटक की भाषा में लालित्य और प्रवाह अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक है। “अकस्मात् जीवन कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वंसते घुस आता है।” इत्यादि स्थलों पर अबाध गति से बहने वाली गद्य भाषा, कल-कल ध्वनि करती हुई, प्रगीतात्मक स्वर छेड़ती हुई सी जान पड़ती है। “वस्तुतः ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक में प्रसाद ने भाषा का एक ऐसा अनुपम एवं मनोहर सँसार निर्मित किया है जिसकी ध्वनि निराली है और वह अन्यत्र दुर्लभ है।”^१ शैली में चमत्कार और काव्यात्मकता है। गीतों की संख्या तेरह है और कवित्तपूर्ण संवाद भी अनेक हैं। इसी शैली द्वारा नाटककार प्रसाद ने अपने नाटक को गांभीर्य और स्थायित्व देने की चेष्टा की है। इस प्रकार सम्पूर्ण ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक आद्यन्त महाकाव्योचित उदात्त कथानक, उदात्त चरित्र-चित्रण, उदात्त उद्देश्य, उदात्त रस एवं भावाभिव्यञ्जना तथा उदात्त भाषा शैली आदि की समष्टि है। डा० वचनसिंह का यह कथन कि “प्रसाद के नाटकों का गांभीर्य औदात्य हिन्दी के किसी अन्य नाटककार में नहीं पाया

^१ डा० दशरथसिंह—हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृ० ११६

जाता”^२ वस्तुतः इस नाटक के विषय में भी सत्य है।

औदात्य के साथ-साथ नाटकीय संघर्ष की स्थिति भी ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक में विद्यमान है। बाह्य संघर्ष में तो इस नाटक के पात्र झुबते-झुबते ही हैं साथ ही आन्तरिक संघर्ष के तीव्र थपेड़ों से भी वे बेचैन हो उठते हैं और दोनों का सम्मिलित प्रयत्न ही इन पात्रों के चरित्र को स्फटिक के समान निखार देता है। नाटक के सभी पात्रों में उत्तेजना है, जोश है—एक संघर्ष की भावना है और क्रान्ति की हल-चल से जीवन की व्यग्रता है। बाह्य संघर्ष की दृष्टि से युद्ध आदि भीषण दृश्य उपस्थित हुए हैं। बातों ही बातों में आम्भीक और चन्द्रगुप्त में भगड़ा हो जाता है और तदनन्तर एक दूसरे के खून की प्यासी दोनों की तलवारें चमक उठती हैं। नन्द की राज-सभा में चाणक्य के यह कहने पर कि “सावधान नन्द! तुम्हारी धर्मान्धता से प्रेरित राजनीति आंधी की तरह चलेंगी” उसकी शिखा ही खींच ली जाती है और अन्ततः बेचारा बन्दी बनाया जाता है। इसी प्रकार सिकन्दर के आदेश से आम्भीक, फिलिप्स और एनिसा-क्रेटीज चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाने की चेष्टा करते हैं पर वह अपने असाधारण पराक्रम से तीनों को ग्राह्य कर निकल जाता है। जगद्विजेता का अभिनय करने वाले सिकन्दर को मालव युद्ध में चन्द्रगुप्त ही परास्त करता है। चन्द्रगुप्त के द्वारा चीते से कल्याणी की रक्षा, राज-प्राप्ति और सिल्यूकस से संधि भी इसी बाह्य संघर्ष के विषय हैं। चाणक्य और राक्षस की बुद्धि और विवेक का द्वन्द्व भी कम आकर्षक नहीं है। एक और राक्षस, चाणक्य को अपदस्थ करने में प्रयत्नशील हैं तो दूसरी ओर चाणक्य अपनी कूटनीति और मेधा से राक्षस को वशीभूत करने में व्यग्र। वस्तुतः ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक में संघर्ष का यह रूप व्यापक आधार लेकर प्रस्तुत हुआ है जो वैयक्तिक कम परन्तु राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अधिक है। चन्द्रगुप्त और सिकन्दर का संघर्ष भारत और यूनान का संघर्ष है—अस्तु और चाणक्य की चोट है। जिसकी अभिव्यक्ति कर्त्त-

^२ हिन्दी नाटक, पृ० ६२।

लिया के इन शब्दों में हुई है। “यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही हैं। यह प्ररस्तु और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र हैं।”

‘चन्द्रगुप्त’ में अन्तर्द्वन्द्वात्मक चरित्रांकन पद्धति के आधार पर आन्तरिक संघर्ष को भी वाणी मिली है। नाटक के प्रायः सभी पात्र जीवन के विभिन्न अंगों से आए हुए आत्म चेतना से उद्वेलित संघर्षरत व्यक्ति हैं। फलस्वरूप चन्द्रगुप्त, कल्याणी, राक्षस, चाणक्य और मालविका आदि का अन्तर्द्वन्द्वात्म्य ही स्पष्टता के साथ उभर सका है। इन पात्रों के मानस में अन्तर्द्वन्द्वात्म्य का घात-प्रतिघात पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। कल्याणी का चन्द्रगुप्त के प्रति मूक प्रेम और उस प्रेम की प्यास के लिए तड़पकर मर जाना उसके हृदय का हृदयस्पर्शी द्वन्द्व है। स्नातकोत्तर परीक्षा से लेकर राज्याभिषेक तक युद्धों की शृङ्खला का प्रधान सेनानी चन्द्रगुप्त अपने अन्तर की क्षुधा मिटाने का अवसर ही नहीं पाता है। व्यथित होकर वह मालविका के के सामने अपना हृदय खोलकर रख देता है—“युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभावों से द्वन्द्व ! कोई कभी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त-चिह्न लगा देता है।” राक्षस सुवासिनी से प्रेम करता है पर जब कभी उसे हस्तगत करने की सोचता है, राजकोप उसके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। चाणक्य का प्रबल व्यक्तित्व भी आन्तरिक संघर्ष से बच नहीं पाया है। मगध के बन्दीगृह में पड़ा चाणक्य का मन संकल्प-विकल्पों से भर उठता है। उसके हृदय में चलने वाले प्रणय और लोकहिंस की भावना का द्वन्द्व अभिराम है। निस्सन्देह प्रसाद ने संघर्ष के बल पर नाटक में जो स्वाभाविकता का सृजन किया है वह उनकी सूक्ष्म दृष्टि का द्योतक है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक में श्रीदात्म के साथ-साथ संघर्ष को भी स्थान मिला है। इसलिए यह कहना कि इस नाटक में संघर्ष है ही नहीं—मात्र व्यर्थ का दोषारोपण

ही होगा। हाँ, इतना अवश्य है कि यहाँ महाकाव्योचित श्रीदात्म का स्वर इतना प्रखर है कि नाटकीय संघर्ष की ध्वनि मन्द-सी पड़ गई है। अगर प्रसादजी श्रीदात्म को इतना अधिक न अपनाकर संघर्ष को अधिक अपनाते—जो कि नाटक का अनिवार्य गुण है तो निस्सन्देह ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक की उत्कृष्टता में और भी वृद्धि हुई होती। श्रीदात्म और संघर्ष की संस्थिति ‘स्कन्दगुप्त’ में भी है परन्तु वहाँ घटनाओं के बीच संघर्ष की भावना अधिक प्रबल है—वहाँ ऐसी स्थितियों की योजना की गई है जो अधिक नाटकीय हैं। ‘स्कन्दगुप्त’ को श्रेष्ठता प्रदान करने वाली दूसरी वस्तु है चरित्र-चित्रण का व्यक्तिगत पक्ष तथा उसका उत्थान-पतन। यही नहीं उसमें घटनाओं का भी पर्याप्त उत्थान-पतन दिखाया गया है और विरोध का तत्त्व भी प्रबल है। पर ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक के श्रीदात्म ने नाटकीय संघर्ष के विकास में बाधा पहुँचाई है। इस नाटक का कथानक वर्षों का समय लेता है। फलतः इसका वस्तु-विन्यास महाकाव्य के अनुकूल अधिक कहा जा सकता है—नाटक के अनुरूप कम। इसमें स्थितियों का वास्तविक वैपश्य नहीं है। ऐसी घटनाएँ नहीं हैं जो हमारी दृष्टि को निर्गुण के सम्बन्ध में उलभाए रखें। भाषा की रसात्मकता पाठक को साधारण जीवन से दूर एक आदर्श जगत् की ओर ले जाने वाली हो गई है जहाँ के पात्र हमारी साधारण बोल-चाल की भाषा से भिन्न भाषा में वार्तालाप करते हुए मिलते हैं। यौवन में पदार्पण करने वाली कर्न-लिया को यौवन और प्रेम का पाठ पढ़ाते-पढ़ाते सुवासिनी कवि ही बन जाती है। यही नहीं, कभी-कभी साधारण स्थलों पर जहाँ मनोवर्गों के चित्रण को स्थान भी न था वहाँ भी प्रसादजी अलंकृत भाषा, (एक ऐसी भाषा जो महाकाव्य की गरिमा से युक्त है) का उपयोग करते हैं। “आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुबेर और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है” एवं “एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त के लोह अस्त्रागार में विस्फोट करेगा” इत्यादि स्थल इसी प्रकार के हैं। इस श्रीदात्म का

लोभ संवरण न करने के कारण ही जो दृश्य नाटक के कथा-प्रवाह में सहायक नहीं हैं वे भी ठूस दिए गए हैं। सिकन्दर महान् का दार्शनिक दाण्ड्यायन से मिलना नाटक की कथावस्तु से बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं रखता। फिर भी, प्रसादजी ने एक पूरा दृश्य अपने नाटक में रख दिया है—बस इसलिए कि उन्हें दाण्ड्यायन के चरित्र का औदात्य प्रस्तुत करना था। साथ ही, इस नाटक में चाणक्य का महत् व्यक्तित्व भी महाकाव्य के नेता की भांति विरोधी पक्ष को अधिक शिथिल बना देने वाला है। प्रसाद का राक्षस 'मुद्राराक्षस' के राक्षस के साथ एक समानान्तर रेखा पर खड़े होने में असमर्थ है। उसका विरोधी चरित्र इतनी प्रमुखता पर नहीं आया है कि उसे प्रतिनायक माना जा सके। इसलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को कहना पड़ा है कि “चन्द्रगुप्त चरित्र प्रधान नहीं कव्योपजीवी नाटक है।”^१

इस नाटक के प्रधान पात्र चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त परिस्थितियों से बहुत कुछ ऊपर उठे हुए हैं जिससे संघर्ष का पूरा विकास नहीं हो पाया है। नाटक में एकाध स्थल ऐसा भी है जहाँ चाणक्य के चरित्र की दुर्बलता को प्रकट होने का अवसर आया है—सुवासिनी से सम्बन्धित विगत जीवन की स्मृतियों से वह वेचैन हुआ है। किन्तु तुरन्त ही उसका हृदय “जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य के यौवन” से भर उठा है और सुवासिनी की वह ‘क्षीण-रेखा’ उसके ‘जीवन-पट’ से धुल गई है। परिणाम यह हुआ है कि संघर्ष पूर्णतः उद्बुद्ध नहीं हो सका है और वहाँ शेष रह गया है वही चाणक्य के व्यक्तित्व का औदात्य। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त के चरित्र में भी उतार-चढ़ाव कम ही परिलक्षित होता है। जब कभी चाणक्य उसे कर्तव्यच्युत पाता है तभी सावधान कर देता है

“छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है मौर्य !” जिससे चन्द्रगुप्त के नाटकीय जीवन में ऐसे अवसर कम ही आ पाते हैं जिनमें वह शृङ्गारिक भावनाओं का आलम्बन बना हो। उसके चरित्र में वीरत्व और कोरा वीरत्व है। उसमें किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक और नाटकीय अभिसन्धि के लिये स्थान नहीं है। वस्तुतः चाणक्य के कंकाल में जो दिव्य ज्योति दिखाई पड़ती है उसकी चमक से चन्द्रगुप्त नाटक के पात्रों की आँखें भप जाती हैं। अलका का देश-सेविका रूप भी इतना उभार दिया गया है कि इसकी नारी जनोचित सरसता बहुत कुछ कृत्रिम हो गई है। कहने का आशय यह है कि चन्द्रगुप्त नाटक में चरित्रगत वैविध्य की न्यूनता है। नाटक पात्र दृष्टि से पागलों का सा अजायबघर हो गया है और पात्रों की दार्शनिकता व्यक्तिगत सनक सी हो गई है। संघर्ष पक्ष के निर्बल पड़ने के कारण अलक्षेन्द्र, नन्द और राक्षस तीनों में से कौन प्रतिनायक है, यह प्रश्न भी अनिश्चित सा रह गया है। किसी भी अच्छे नाटक के लिये यह दोष ही है कि नायिका की स्थिति सुव्यवस्थित न होने पाए। एक बात और ध्यातव्य है कि इस नाटक में रंगमंच की अवहेलना का कारण भी औदात्य की अतिशयता है। यहाँ स्थानान्विति और कलान्विति की अवहेलना है। प्रायः २२ वर्षों का समय नाटक में आया है। वस्तु-योजना भी अत्यन्त शिथिल है। अतः कहना न होगा कि ‘चन्द्रगुप्त’ नाटक नाटकीय संघर्ष की कमी के कारण और औदात्य की अतिशयता के कारण अनेक दोषों से भर गया है। निष्कर्ष यही है कि “चन्द्रगुप्त में महाकाव्य का औदात्य अधिक है, नाटक का संघर्ष कम।”^१

—हिन्दी-विभाग, आगरा कालेज, आगरा।

^१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—जयशङ्कर प्रसाद, पृ० १६८

^१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—जयशंकरप्रसाद, पृ० १६७।

काव्य में ललित कलाओं का तारतम्य और अन्तरावलम्बन

• डा० कन्हैयालाल सहल

ललित कलाओं में सर्वोच्च स्थान किसे दिया जाना चाहिए, यह विषय विवादास्पद है। कुछ समीक्षक संगीत को सर्वोत्कृष्ट मानने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि संगीत के शास्त्रीय पक्ष को यदि थोड़ी देर के लिए दृष्टि में न रखा जाए तो संगीत समझे न जाने पर भी सब मनुष्यों पर अपना प्रभाव डालता है, और मनुष्यों पर ही क्यों, संगीत की मोहिनी शक्ति तो पशु-पक्षियों पर भी अपना चमत्कार दिखलाती है। इसके विपरीत बर्ड्स्वर्थ का अमरता-विषयक संवोधन-गीत अथवा प्रसाद की कामायनी का कोई अंश सुनाया जाय तो बुद्धि-जीवियों की अल्पतम संख्या ही उसे सुनने के लिए एकत्र हो सकती है किन्तु किसी मधुर संगीत को सुनने के लिए बहुत बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे होते देखे गये हैं।

किन्तु इस पर भी यदि गहराई से विचार किया जाय तो उक्त स्थापना को स्वीकार करना कठिन होगा। यह तो सच है कि किसी प्रकार का स्वर-सामंजस्य अथवा मधुर तान सब को प्रभावित करती है किन्तु प्रश्न यह है कि जिसे मगान् संगीत की संज्ञा दी जाती है, क्या उसमें भी मार्वाभौम आर्कषण दृष्टि-गोचर होता है? मैं समझता हूँ, नहीं।

दूसरी बात यह है कि संगीत-श्रोताओं की अपेक्षा उपन्यास तथा कहानियों को पढ़ने वालों की संख्या कहीं अधिक है। अतः संगीत की व्यापक 'अपील' का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता।

इसके अतिरिक्त लोकप्रियता और कलात्मकता में अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ना भी उचित प्रतीत नहीं होता। लोकप्रियता की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों

और कहानियों ने अधिक ख्याति प्राप्त की जबकि प्रसादजी का कामायनी जैसा सुप्रसिद्ध महाकाव्य भी लोकप्रिय नहीं हो सका किन्तु लोकप्रियता के अभाव के कारण कामायनी की कलात्मकता जाती रही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सामान्यतः देखा जा सकता है कि कलात्मक कृतियाँ उतनी लोकप्रिय नहीं होतीं। आधुनिक कवियों की भी गहृत सी रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें सामान्य जनता न पढ़ती है और न जिसमें समझने की ही क्षमता है। ऐसी कविताओं को स्वयं कवि ही समझता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इस प्रकार की कृतियों को बिना समझे ही कवि के व्यक्तिगत मित्र और प्रशंसक दाढ़ देते देखे गये हैं। इस प्रकार की कला भी एक दूसरे अतिवाद का स्पर्श करती है जिसे बांछनीय नहीं कहा जा सकता।

किन्तु यह निष्कर्ष निकालना भी कि कोई भी महान् कृति लोकप्रिय नहीं होती, भ्रामक सिद्ध होगा। तुलसीदास का विश्व-विश्रुत रामचरितमानस लोकप्रियता और कलात्मकता दोनों दृष्टियों से स्पृहणीय आदर्श प्रस्तुत करता है।

कुछ समीक्षक मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ललित कलाओं की श्रेणियाँ निर्धारित करते हैं। इस कसौटी की दृष्टि से जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहता है, वह उतनी ही उत्कृष्ट कोटि की समझी जाती है। काव्य-कला में एक प्रकार से मूर्त आधार का अभाव रहता है, इसलिए उसका आधार सर्वोपरि है। काव्य के बाद दूसरा स्थान संगीत का है क्योंकि स्वरों का आरोह या धवरोह ही उसका आधार होता है। संगीत के बाद उत्कृष्टता के क्रम में

चित्रकला मूर्तिकला तथा वास्तु कला की गणना की जाती है। ललित कलाओं की पारस्परिक स्पर्धा की अपेक्षा इनके अन्तरावलम्बन पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक एवं वांछनीय है। संगीत एकांत स्वरात्मक होता है, वह काव्य की भाँति शब्दार्थात्मक नहीं होता। इसलिए उसकी अपनी सीमा है जिसका अतिक्रमण सम्भव नहीं। संगीतकार स्वरों के माध्यम से युद्ध वर्णन आदि का भाव प्रकट नहीं कर सकता। काव्य भी बिना संगीत की सहायता लिए उतना प्रभावक सिद्ध नहीं हो सकता। मीरा के पदों में जो आकर्षक है, वह केवल शब्द और अर्थ जन्य ही नहीं है, उसमें पदों के संगीत का भी महत्वपूर्ण योग है। बिना संगीत के मीरा का काव्य चिरजीवी नहीं हो सकता था।

चित्रकला में काव्य की-सी गतिशीलता नहीं होती। चित्रकला समय के केवल एक क्षण को पदार्थों की केवल एक स्थिति को अंकित करने में समर्थ होती है जबकि काव्य पर इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं है।

किन्तु कवि भी शब्द-चित्र उपस्थित करते समय चित्रकला का आश्रय लेता है जिससे पाठक पर चित्र का सा प्रभाव पड़ सके। प्रसाद के मातृगुप्त ने तो सम्भवतः इसीलिए कविता को 'वर्णमय चित्र' की संज्ञा दी थी। मूर्तिकार और वास्तुकलाकार अपनी कृति को सुन्दर बनाने के लिए अनुपात और सामंजस्य पर ध्यान रखते हैं। कवि तथा नाटककार को भी छन्द, सर्ग, अंक आदि की संख्या तथा अनुपात पर दृष्टि रखनी पड़ती है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ललित कलाएँ एक दूसरे की पूरक हैं और परस्पर सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होती हैं।

किन्तु एक दूसरे की पूरक होते हुए भी एक ललित कला का दूसरे के क्षेत्र में अनावश्यक अतिक्रमण वांछनीय नहीं है। उदाहरणार्थ गीति-काव्य में संगीत की प्रधानता होती है किन्तु यदि उसमें शब्दों का जमघट लग जाए तो उससे गीति तत्त्व को क्षति पहुँचेगी। रवि बाबू का कहना था "गीत में शब्दों

का उपद्रव जितना कम रहे, उतना ही अच्छा। वाक्य जहाँ समाप्त होता है, वहीं गान शुरू होता है। जहाँ अनिवर्चनीयता की स्थिति है, वहीं गान का प्रभाव है स्वरों को छोड़कर उनके वाहनों को सजा रखना ऐसा ही होता है जैसे गणेश को छोड़ उनके चूहे को पकड़ रखना।" गीत में प्रयुक्त शब्द स्वरों के वाहन मात्र होते हैं और इसलिए शास्त्रीय संगीतकार शब्दों को विशेष महत्त्व नहीं देता। शब्द उसकी स्वर-साधना में किसी सीमा तक बाधक ही सिद्ध होते हैं।

ललित कलाओं की आपेक्षिक तथा तुलनात्मक महत्ता का विचार करके उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट इस प्रकार का श्रेणी-विभाजन उतना उपयोगी नहीं। रवि बाबू की 'ताजमहल' कविता और आगरे के ताजमहल में किसे श्रेष्ठ कहा जाय? इसी प्रकार संगीत और वास्तुकला में किसे अधिक गौरव प्रदान किया जाय? वास्तुकला की देवी रुष्ट होकर कह सकती है कि यदि संगीत ही सब कुछ है तो संगीत की सहायता से कैथेड्रल, ताजमहल, पिरामिड आदि का निर्माण क्यों नहीं कर लिया जाय?

किन्तु यदि ललित कलाओं में उत्कृष्टता का निर्धारण करना ही हो तो काव्य-कला के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

१—काव्य-कला अन्य सभी ललित कलाओं से सर्वाधिक मात्रा में सहायता ले सकती है। काव्य सदा से संगीत, चित्र-कला, मूर्ति-कला और वास्तुकला आदि से सौन्दर्य के उपकरण जुटाता रहा है।

२—काव्य जैसी गतिशील कला और कोई नहीं।

३—शब्द और अर्थ में जितनी शक्ति है, उतनी दुनिया की अन्य किसी वस्तु में नहीं। शब्द-ब्रह्म का जय जयकार सभी ने किया है।

४—कवि की वाणी अजर-अमर रहती है। कवि के शब्दों में—

"कुछ रज-कण ही छोड़ यहाँ से,

चल देते नरपति सेनानी।

सम्राटों के शासन की बस

रह जाती अवशेष कहानी॥

गल जाती हैं विश्व विजेता

चक्रवर्तियों की तलवारें।

युग-युग तक, पर इस जग में है

अजर-अमर कवि की वाणी॥"

—सहल सदन, पिलानी (राज०)।

प्रेमचन्द, उनका युग और हम

मुन्नीदेवी माहेश्वरी

भारतवर्ष की अपार 'घनराशि' एवं संस्कृति विदेशियों के लिए सदैव से प्रलोभन का कारण रही है और उसी प्रलोभन के कारण विदेशी भारतवर्ष की भूमि को पदाक्रान्त करते रहे हैं। आज भी भारत चारों ओर से विकट परिस्थितियों में घिरा है और इसकी स्वतन्त्रता को बाहर से जितना खतरा नहीं, उतना अन्दर से है। परिवार टूट रहे हैं। नारी स्वाधीनता की बात एक स्वप्न मात्र रह गई है और देश में न्याय तथा सुरक्षा सिर्फ किताबों तक, किस्से-कहानियों की बातें बनकर रह गई हैं। कोन देशभक्त है और कोन देशद्रोही, कहना कठिन है। मिलावट, धून, चोरबाजारी, जमाखोरी, मेंहगाई, कुसियों की लड़ाई और भ्रष्ट नाजनीति—में सब प्रश्न आज प्रेमचन्दजी के समाज से, आज के समाज के लिए ज्यादा विचारणीय हो गए हैं। साथ ही परिस्थिति में भी अन्तर है—तब हम पराधीन थे, आज हम स्वतन्त्र हैं।

जिस समय प्रेमचन्दजी ने भारतीय सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय यहाँ की जनता पूर्ण निराशा का अनुभव कर रही थी तथा निरन्तर पतन की ओर अग्रसर होती जा रही थी। कई शताब्दियों की पराधीनता ने राष्ट्र की अन्तरात्मा को कुचल डाला था और राजनीतिक दासता, आर्थिक हीनता, सामाजिक विषमता आदि ने सम्पूर्ण देश की एकता को खण्ड-खण्ड कर दिया था। अतएव ऐसे वातावरण में आवश्यकता थी कि यहाँ के लोगों के मस्तिष्क से निराशा के अन्धकार को दूर किया जाना एवं उन्हें उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिए

प्रेरित किया जाना। और उन्हें सुपुष्पावस्था से जाग्रति की ओर लाया जाता और एक सुनिश्चित एवं अच्छे जीवन का पथ-प्रदर्शन किया जाता। पर, यह सब केवल राष्ट्रीय नारे लगा कर ही नहीं किया जा सकता था, क्योंकि भारत की सर्वोच्च शक्ति ब्रिटिश शासन के अधीन अपने को असहाय एवं निर्बल समझ रही थी।

प्रेमचन्दजी एक कुशल-अनुभवी समाज पारखी तथा मनोवैज्ञानिक चिकित्सक थे। उन्होंने जनता की मनःस्थिति का अध्ययन किया था, इसलिए उन्होंने अपने साहित्य में यथार्थवाद का सम्बन्ध लेकर जनता को एक अद्भुत प्रकाश प्रदान किया। जन-जागरण का सांस्कृतिक अथवा सामाजिक चेतना से विशेष सम्बन्ध है, साथ ही साथ यह भी कि साहित्यकार जो लिखे, उसमें जनता की सत्यता हो, और उसका मार्गदर्शन भी हो। प्रेमचन्दजी के साहित्य की यही विशेषता थी। उनकी लेखनी ने जन हृदय में उन भावों और अनुभूतियों को जन्म दिया, जिनको उन्होंने अपने साहित्य में महसूस किया था। प्रेमचन्दजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने साहित्य की रचना युग के साथ-साथ की है। प्रेमचन्दजी ने अपने युग की पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी समस्याओं को उठाया और उनके निराकरण के उपाय भी बताये। अगर हम यह कहें कि युग की परिस्थितियों ने प्रेमचन्दजी को उत्पन्न किया और वे परिस्थितियों की ही देन थे, तो अनुचित न होगा।

लेकिन आज जब कि हम स्वाधीन हैं परिस्थितियाँ और भी विकट हो गयी हैं। नैतिक मूल्यों का विघटन हो गया है। चरित्र नाम की चीज देखने को

नहीं मिलती। साम्प्रदायिकता जोरों पर है और कभी भी विस्फोट हो सकता है। आज किसी के भी जान माल की सुरक्षा का कोई आश्वासन नहीं है। लोग अपनी ही स्वार्थ-सिद्धि में लगे हैं। तब हमारे देश का बुद्धिजीवी, विचारक और लेखक क्या कर रहा है? क्या वह अपने उत्तरदायित्व को निभा रहा है? ऐसे कई प्रश्न उठते हैं। गुलाम भारत में प्रेमचन्द ने अपने देश और समाज के दर्द को पहचान कर अपनी कलम की धार को तेज किया था और एक के बाद एक समस्या को जनता के सामने रखते चले गये थे।

प्रेमचन्दजी ने जीवन में महात्मा गांधी तथा टालस्टाय के आदर्शवाद, गालजवर्दी के यथार्थवाद और मार्क्स के प्रगतिवाद के प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया था। लेकिन आज के लेखकों की रचनाओं को पढ़ते समय लगता है कि न उनमें सिवा सैक्स के विकृत रूपों के और कुछ है ही नहीं। न समाज, न देश, न परिवार, न गाँव और न कोई विचारधारा। सिर्फ सेक्स और सेक्स। आज के लेखन में जीवन तो है ही नहीं। जो है सो केवल व्यक्तिगत। कुण्ठा और विकृत यौन प्रवृत्तियाँ।

प्रेमचन्दजी के समय का मध्यवर्गीय जीवन अनेक प्रकार की उलझनों से ग्रस्त था। मध्यवर्ग की ये उलझनें तथा परेशानियाँ भारतीय इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। महेन्द्रनाथ चतुर्वेदी ने अपने 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण' में लिखा है— "मध्यवर्ग की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं—उसकी झूठी सम्मान-भावना, मानसिक अस्थिरता, संघर्ष से बचने की तथा समझौते की प्रवृत्ति और परमुखापेक्षिता।" इन्हीं सब तथ्यों को लेकर उन्होंने उपन्यासों में मध्य वर्ग के जीवन का संप्राण एवं मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्दजी एक दूरदर्शी और भविष्य-द्रष्टा साहित्यकार थे। आज का मध्यवर्गीय समाज ठीक वैसा ही है, जैसा कि उन्होंने उपन्यासों और कहानियों में उस समय चित्रित किया था।

उस युग में कृषकों तथा मजदूरों के शोषण पर

जमींदारों तथा धनिक वर्ग की गरिमा आधारित थी। प्रेमचन्दजी के अनुसार जहाँ समाज में स्वार्थ की अति हो जाती है, वहीं विद्रोह और क्रान्ति का जन्म होता है। भूखा व्यक्ति राजा के प्रति विद्रोह और ईश्वर के प्रति अविश्वासी हो जाता है। वही हुआ भी। यद्यपि प्रेमचन्दजी उस युग के कृषकों की दुरावस्था के लिये उनके अन्धविश्वासों, प्रचलित कुरीतियों और रूढ़ियों को उत्तरदायी अवश्य मानते हैं, फिर भी उनके अनुसार बहुत कुछ उत्तरदायित्व विदेशी सरकार की अर्थ नीति पर भी था।

उन्होंने कृषकों अथवा ग्रामीणों की दुरावस्था के दो कारण बताये हैं—

१—अन्तरंग : इसके अन्तर्गत कृषकों की अशिक्षा, असहयोग एवं भले-बुरे की अक्षमता आदि आती हैं।

२—दूसरा कारण बहिरंग है : जिसके लिये तत्कालीन शासन-व्यवस्था—जमींदारी, उसके कारिन्दे और नगर का शिक्षित-वर्ग जिम्मेदार है। उस युग में किसानों का शोषण जमींदार, महाजन, तथा धर्माधिकारियों द्वारा किया जाता था तथा कृषकों एवं ग्रामीणों की विपन्नता का एक प्रमुख कारण पिछड़ी हुई कृषि प्रणाली होती थी, जिसमें उत्पादन की दर बहुत कम होती थी तथा खेतों पर जन-संख्या का बहुत अधिक भार रहता था। दूसरी ओर साहसी कर्मठ संघटकों के अभाव में तथा औद्योगिक यन्त्रों एवं प्रवीण कार्यकर्तियों की कमी के कारण उद्योगों तथा कृषि का उचित विकास नहीं हो पाया। इसके अतिरिक्त उस काल की जनता भी सदैव प्राकृतिक प्रकोपों तथा भूभावातों से संघर्ष करती रही है और उचित शिक्षा के अभाव एवं असुविधाओं से त्रस्त रहती थी। सामाजिक भारतीय रूढ़िवादी प्रथा ने भारतीय आर्थिक विकास पर जितना प्रभाव डाला है—सम्भवतः संसार में अन्य किसी देश पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा है।

उस युग के श्रमजीवी, मनुष्यों का-सा नहीं,
(शेष पृष्ठ १२३ पर)

तात्विक शिला पर :

राम की शक्ति पूजा

डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया

‘मृतवाला’ का ‘निराला’—श्री पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी साहित्य-जगत में काव्य, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, निबन्ध, नाटक, आलोचना तथा जीवनचरित्र आदि विविध काव्यरूपों में मौलिक और अनूदित अर्द्धशताधिक रचनाओं के जन्मदाता कहलाते हैं। अनामिका, परिमल, गीतिका, कुकुरमुत्ता, अणिमा, वेला, नये पत्ते, अपरा, आराधना, अर्चना, गीत-गुञ्ज तथा तुलसीदास आदि काव्य-कृतियों को जन्म देकर निरालाजी ने अपनी मौलिक भावना और अभिव्यञ्जना पद्धति से हिन्दी-काव्य-साहित्य को नई दिशा दी है।

भाव, भाषा और छन्दबन्ध की दृष्टि से ‘जूही की कली’, ‘शेफालिका’, ‘जागो फिर एक बार’, ‘शिवाजी का पल’ तथा ‘राम की शक्ति-पूजा’ महाकवि निराला की प्रसिद्ध रचनायें मानी जाती हैं। ये सभी रचनायें स्व संचालित ‘मुक्तछन्द’ जिसे केचुआ छन्द, रबड़ छन्द, स्वच्छन्द छन्द भी कहा गया है—में लिखी गई हैं। मुक्तछन्द की अन्यतम विशेषताओं में उसकी ध्वन्यात्मकता, लयता और अद्भुत शब्द-मैत्री वस्तुतः उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन समालोचकों के गम्भीर विरोध के होते हुए भी महाकवि ने ‘राम की शक्ति-पूजा’ इसी छन्द में लिखी है।

‘देवी भागवत’ और ‘शिव महिम्न स्तोत्र’ की कथा पर आधारित ‘राम की शक्ति-पूजा’ का कथानक रामचरित्र को नवीनता के साथ प्रस्तुत करता है। यहाँ राम के चरित्र का मूलाधार शुद्ध मानवीय है उसमें मानवोचित उत्कर्ष और अपकर्ष का सहज समन्वय परिलक्षित होता है। ‘राम की शक्ति-पूजा’ के प्राचीन कथानक में नूतन युगबोध मुखर हो उठा है।

रामचरित्र को इस प्रकार से चित्रित करने का पहला और अकेला सशक्त कदम उठाने का श्रेय महाकवि निराला को ही है।

हिन्दू समाज की जानी-पहिचानी श्रीराम-कथा सीताहरण के कारण आयोजित श्रीराम-रावण समर ‘राम की शक्ति पूजा’ का कथानक है। अद्भुत कल्पना के दर्शन उस समय होते हैं जब राम के विश्रुत विपाक्त बाण रावण को बध करने में पूर्णतः असमर्थ हो जाते हैं। सूर्य अस्त हो जाता है और युद्ध अनिर्णित रहता है। रामचरित्र के लिए यह आश्चर्य और अद्भुत घटना बन पड़ी है। निरालाजी का लक्ष्य श्रीराम को देवता के रूप में नहीं, अपितु मानव स्वरूप में प्रस्तुत करना रहा है जो शत्रु को शत्रु की पद्धति को अपनाकर उसे दमन और पराजित करता है।

अपनी भक्ति से रावण शक्ति द्वारा प्रदत्त अमरता का वरदान पाकर युद्ध का शृङ्गारबनता है और इसीलिए श्रीराम के विख्यात विपाक्त बाण उसके बध करने में असमर्थ रहते हैं। पराजित से श्रीराम नवदुर्गा का व्रत करते हैं और सेवक सम्राट श्री हनुमान को १०८ कमल पुष्प ले आने का आदेश मिलता है। श्रीराम देवी-उपासना में लीन और तल्लीन हो जाते हैं तथा युद्ध का संचालन श्रीराम के अनन्य समर्थ सैन्य संचालक—श्री नल, नील, जाम्बवान, सुग्रीव, अंगद, विभीषण, हनुमान तथा लक्ष्मण करते हैं। श्रीराम की उपासना की परीक्षा होती है। देवी-माँ प्रकट होकर पूजन में लीन श्रीराम से छिपकर एक कमल का पुष्प प्रच्छन्न कर लेती हैं। श्रीराम अर्घ्य के अवसर पर उस कमल पुष्प का अभाव अनुभव करते हैं अन्त में अपने ‘राजीव नयन’ होने का

स्मरण कर एक आँख की आहुति देने को उद्धत होते हैं। उसी समय देवी-माँ श्रीराम की उपासना से प्रभावित होती हैं और उनकी आयोजित भक्ति से प्रभावित होकर तत्कालीन हो रहे राम-रावण युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने का वरदान देती हैं।

महाकवि निराला की शक्ति पूजा की कल्पना वस्तुतः बंगाली शक्ति पूजा का हिन्दी संस्करण कहा जाना चाहिए। बंगाल में शक्ति की प्रचण्डता, भयंकरता तथा शत्रु समाप्ति की उग्रता वस्तुतः प्रसिद्ध रही है। विवेकानन्द की शक्ति-भक्ति की भाँति निराला की शक्ति-अनुरक्ति प्रस्तुत रचना में मुखर हो उठी है।

हिन्दी समीक्षकों के सम्मुख यह एक विचार का विषय बना हुआ है कि 'राम की शक्ति पूजा' क्या महाकाव्य की कोटि में आती है? जहाँ एक महाकाव्य की शास्त्रीय मान्यता और आस्था का प्रश्न है। प्रस्तुत रचना उस कोटि में खरी नहीं उतरती। कामायनी (प्रसाद), प्रियप्रवास (हरिऔध) और लोकायतन (पन्तजी) की भाँति 'राम की शक्ति पूजा' आकार बहुला कृति नहीं बन सकी तथापि उसमें प्रभावना की सम्भावना सर्वथा हुई है। महाकाव्यों में प्राचीन शास्त्रीय मर्यादाओं का अतिक्रमण आज पर्याप्त खूबी के साथ होना प्रारम्भ हो गया है। कामायनी स्वयं महाकाव्य की पूर्णतः शास्त्रीय पद्धति का समर्थन नहीं करती। 'राम की शक्तिपूजा' में वह उपकरणों को देखना मात्र झरोखे से देखना है। उसमें तो व्यञ्जनार्थ की दृष्टि से देखना न्यायसंगत है। कवि ने अन्तर्द्वन्द्व चित्रण करने में साकार अनन्वय अलंकार की कथनोक्ति को चरितार्थ किया है। उसमें प्रत्येक दृष्टि से प्रभावना की प्रधानता रही है।

नाटक की कथावस्तु में पाँच कार्य अवस्थाएँ होती हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताति और फलागम। कवि के प्रस्तुत लघु कथानक में शास्त्रीय कथावस्तु की ये पाँचों अवस्थाएँ प्रायः परिलक्षित होती हैं। पृष्ठभूमि की दृष्टि से रवि के अस्त होने से लेकर 'आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर'

तक वस्तुतः कथानक की पृष्ठभूमि मानी जानी चाहिए।

श्रीराम द्वारा शक्ति की कल्पना तथा हनुमान को एक सौ आठ कमल पुष्प लाने की आज्ञा देना तक, 'प्रारम्भ' नामक पहली कार्यावस्था है। श्रीराम द्वारा एकासन लगाकर बैठना तथा लक्ष्मण की देख-रेख में महाबाहिनी का नायकत्व सँभालना वस्तुतः प्रयत्न की अवस्था कहलाती है। श्रीराम का पुरश्चरण गति से प्रगतिगामी होना हो जाता है यहीं प्राप्त्याशा के दर्शन होते हैं। श्रीराम की तपस्या की चरम सीमा पर पहुँचना ही चरम सीमा है। जहाँ श्रीराम की पूजा का एक पुष्प शेष रह जाता है। यहीं से नियताति की अवस्था अवगत होने लगती है। शक्ति को प्रसन्न करना प्रस्तुत रचना का मूलोद्देश्य रहा है, यही फलागम की अवस्था मानी जानी चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'राम की शक्ति पूजा' के कथानक में पाँचों ही कार्यावस्थाओं का अत्यन्त सुन्दर तथा सूक्ष्म प्रयोग हुआ है।

कथानक के अतिरिक्त उसके प्रस्तुतीकरण के लिए व्यवहृत पद्धति, उपकरण—छन्द, अलंकार, शब्द शक्ति, गुण, विम्बयोजना, प्रतीक विधान, भाषा, चित्रण, नाटकीयता, रस सिद्धान्त तथा अमर सन्देश—आदि तत्त्वों पर भी विचार करना अभीष्ट होगा।

मुक्त छन्द, छन्द-साहित्य में निरालाजी की निरुपमेय देन है। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' में उन्होंने जिन दीर्घाकार छन्दों को व्यवस्थित किया है वह सर्वथा अनुकरणीय है।

महाकवि 'निराला' अलंकारों के सहज प्रयोग को व्यवहृत करते हैं फलतः उनके काव्य में अनुप्रास, श्लेष, यमक, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, मानवीकरण, विशेषण, विपर्यय, व्यतिरेक तथा अन्योक्ति जैसे अनेक शब्दालङ्कारों के प्रयोग हुए हैं।

महाकवि छायावादी कविता के प्रवर्तकों में प्रमुख माने जाते हैं। इस कविता में अभिधा-शैली का अभाव परिलक्षित होता है। यहाँ अभिधा का तिरस्कार और लक्षणा-व्यंजना शब्द-शक्तियों के प्रति सहजता परिलक्षित होती है।

समग्र निराला काव्य साहित्य को देखा जाय तो यह सहज में कहा जा सकता है कि निराला-काव्य में प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों का उपयोग हुआ है। वीर रस प्रधान राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक अभिव्यंजना के लिए ओज गुण मुखरित हुआ है। 'राम की शक्ति पूजा' में प्रसाद और ओज गुणों का व्यवहार हुआ है।

निरालाजी की रचनाओं में विम्ब-योजना शब्द-विम्ब के रूप में रचे गए हैं। विम्ब वर्णन में 'फोटोग्राफी' जैसी मात्र परिगणन की शैली नहीं है अपितु ऐन्द्रिक संवेदनात्मक आत्मिक सज्जा के साथ विन्यस्त है। 'राम की शक्ति पूजा' में रेखाचित्र की भाँति विम्ब प्रयोग हुआ है।

निराला ने प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर परिणाम में किया है। जूही की कली, शेफाली, कुकुरमुत्ता, गुलाब, दलित वर्ग शोषित तथा पूँजीवादी परम्परा के प्रतीक हैं। 'राम की शक्ति पूजा' भी प्रतीकात्मक ही है। उसमें राम बहुत सीमा तक स्वयं कवि के प्रतीक जैसे अभिव्यक्त हैं।

निराला भाषा के धनी तथा शब्द साहूकार हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में उनकी भाषा विविधरूपा परिलक्षित होती है। संस्कृतबहुला, समासविहीन, प्रौढ़ परिमार्जित भाषा का रूप, उर्दू शब्द बहुल, हिन्दी मिश्रित भाषा के विविध प्रयोग 'राम की शक्ति पूजा' में हुए हैं।

'राम की शक्ति पूजा' में शान्त, वीर और श्रृंगार रस का एक साथ ही अनुपम वर्णन हुआ है। नाटकीयता 'राम की शक्ति पूजा' में पर्याप्त रूप में पायी जाती है। नेत्रों की भेंट, देवी का प्रसन्न होना, नाटकीय स्थिति की चरम सीमा है।

कवि का क्रान्तिकारी मनोभाव, आढम्बरविहीन नवीन दृष्टिकोण तथा श्रम का श्रद्धा के साथ साम-ञ्जस्य प्रस्तुत रचना में मुखर हो उठा है। भाषा के औदात्य ने इस कविता को मूलतः महाकाव्य की कोटि में पहुँचा दिया है।

—खिरनी गेट, अलीगढ़।

(शेषांश पृष्ठ १२० का)

बल्कि भार-वाहक पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करते थे। आज भी हमारे ग्रामीण की दशा ठीक उस मशीन की भाँति है, जिसको तेल पानी न देकर उससे कार्य ही लिया जाता हो।

प्रेमचन्दजी के युग में विदेशी शासन का शोषण बढ़ते हुए करोड़ों का बोझ, बढ़ा हुआ लगान, जमींदार महाजन, नगर-निवासी, व्यापारी, वकील, दलाल तथा शिक्षित वर्ग के शोषण ने भारतीय ग्रामीणों को जीवित ही मुर्दा बना दिया था।

उपर्युक्त बातों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेमचन्दजी ने निम्न मध्यवर्ग के समाज के उद्धार का निर्भीकता से बीड़ा उठाया तथा एक कर्मठ योगी की भाँति वे आगे आते

हुए दिखाई पड़े। लेकिन आज का लेखक क्यों नहीं इन सब समस्याओं पर लिख रहा है? जिस देश और समाज का वह एक अविभाज्य अंग है, क्या उसके प्रति उसका कोई लगाव नहीं है? क्या आज का लेखक इस पलायन के उत्तरदायित्व से बच सकेगा? हमें आज एक नहीं, कई प्रेमचन्द चाहिए, जो आज के किसान, मजदूर और मध्य वर्ग के प्रतिनिधि बनें, जो आज के ढोंगपूर्ण, नकली जीवन की पोल खोलें, समाज में दिन पर दिन बढ़ती जाने वाली बुराइयों का पर्दा-फाश करें और जनता में ऐसी क्रान्ति लाएँ जो हमारे देश के स्वातन्त्र्य और जनतन्त्र को स्थायित्व प्रदान करने के लिए नया मोड़ दे सकें।

—धरमकरन रोड, हैदराबाद।

अज्ञात ग्रन्थ परिचय—

भगवानदास रचित अश्वमेध यज्ञ कथा

● अगरचन्द नाहुटा

हिन्दी-साहित्य गत ८०० वर्षों में क्रमशः अधिक-धिक रचा जाता रहा है। विविध विषयक हिन्दी साहित्य का क्षेत्र और शैली का विस्तार देखते हुये यह मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी भाषा को जो स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा घोषित की गई वह उसके बहुत ही योग्य है। राष्ट्रभाषा का नाम चाहे स्वतन्त्र भारत में मिला हो पर बिना नाम के भी उसने एक अपना विशिष्ट स्थान शताब्दियों से बना लिया। केवल हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में ही नहीं अन्य प्रदेशों में भी उसका प्रभाव लम्बे समय से और काफी अच्छे रूप में रहा है। संस्कृत के बाद इतना व्यापक प्रभाव भारत की किसी अन्य भाषा का दिखाई नहीं देता।

हिन्दी-साहित्य के निर्माण और हिन्दी-भाषा के प्रचार में सर्वाधिक योग सन्त, भक्त एवं धार्मिक जनों का रहा है। क्योंकि भारत धर्म-प्रधान देश रहा है। इसलिये राजाओं से भी अधिक प्रभाव यहाँ सन्त, महात्माओं का रहा। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक नमस्कार करते हैं। जन-साधारण के लिये तो वे गुरु ही नहीं, परमात्मा के अवतार तक थे। साहित्यिक दृष्टि से चाहे धार्मिक साहित्य को कुछ लोग साहित्य की परिभाषा में 'फिट' नहीं कर पाते, पर हमें संकुचित परिभाषा से ऊपर उठकर जन-साधारण को जिस साहित्य ने मति-गति और प्रेरणा प्रदान की उसे साहित्य की परिभाषा में सम्मिलित करना ही होगा। छन्द, अलंकार, रस, काव्य-चमत्कार, चाहे धार्मिक साहित्य में उच्च स्तर का न हो पर भावों की समृद्धि और जन-मानस को ऊँचा उठाने की भावना तो उसमें कूट-कूट कर भरी

है। लाखों-करोड़ों व्यक्तियों ने जिससे आनन्द प्राप्त किया, उसे नव-रसों की परिभाषा से ही हम तोल नहीं सकते। धार्मिक साहित्य का मूल्याङ्कन भावों की दृष्टि से होना चाहिये।

हिन्दी-साहित्य की खोज अभी तक हिन्दी-भाषी प्रान्तों में ही अधिक हुई है। पर अन्य प्रदेशों और विदेशों में जो हजारों हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों की प्रतियाँ बिखरी पड़ी हैं और उन प्रदेशों में भी जो हिन्दी-साहित्य का निर्माण हुआ है उसकी खोज किये बिना प्राचीन हिन्दी-साहित्य की जानकारी अधूरी ही रहेगी।

महाराष्ट्र प्रान्त के कवियों ने जो हिन्दी की उल्लेखनीय सेवा की है उसकी तो कुछ खोज हुई है और दो-तीन ग्रन्थों में उसका परिचय और आलोचना भी प्रकाशित हो चुकी है। पर महाराष्ट्र के हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहालयों में जो राजस्थान आदि प्रदेशों से हजारों हस्तलिखित प्रतियाँ गईं उनकी अभी तक ठीक से खोज नहीं हुई। इनमें से कुछ ग्रन्थ तो ऐसे भी हैं कि जिनकी प्रतियाँ जिस प्रदेश या राज्य में वे ग्रन्थ रचे गए, वहाँ भी आज प्राप्त नहीं हैं।

भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में हस्तलिखित प्रतियों का बहुत प्रसिद्ध एवं विशिष्ट ग्रन्थागार है जिसमें हिन्दी के भी कुछ ऐसे ग्रन्थों की प्रतियाँ हैं, जो अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होतीं। अब से २५-३० वर्ष पहले जब मुझे यह ज्ञात हुआ कि वीरगाथा-काल के माने जाने वाले 'खुमाण रासो' की एक मात्र प्रति वहीं है, तो मैंने बीकानेर के तत्कालीन दीवान साहब सर सिरमलजी बाफना की सिफारिश

से उस प्रति को मांग द्वारा प्राप्त किया और तब से लेकर अब तक पचासों अज्ञात ग्रन्थों की प्रतियाँ मैं वहाँ से मँगवाकर उन ग्रन्थों के सम्बन्ध में प्रकाश डालता रहा हूँ। जब स्व० पी० के० गोड़े वहाँ के क्यूरेटर थे तो मैंने उन्हें उस संग्रहालय के हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची की एक नकल बनवाकर मँगवाई थी। उनमें से पाँच-पाँच प्रतियाँ समय-समय पर मँगवाता रहा हूँ। अभी कुछ महीने पहले जिन अज्ञात पाँच हिन्दी ग्रन्थों की प्रतियों को बोंड द्वारा प्राप्त किया, उनमें से एक अज्ञात ग्रन्थ का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है। इस ग्रन्थ का नाम है—‘अश्वमेध यज्ञ की कथा’ और इसके रचयिता हैं भगवानदास। भगवानदास ने अपने नाम के अतिरिक्त वंश या गुरु-परम्परा तथा रचनाकाल एवं रचना-स्थान आदि की सूचना इस ग्रन्थ में नहीं दी है। पर अधिक सम्भव है यह भगवानदास ‘निरंजनी सम्प्रदाय’ के हों। वैसे भगवानदास नाम के अन्य कई कवि हो गये हैं। ‘अश्वमेध यज्ञ की कथा’ की प्राप्त प्रति निरंजनी सन्त पूरणदास के द्वारा लिखी हुई है। प्राप्त प्रति ६५ पत्रों की है जिनमें से पत्रांक ३६, ४० और ८३ से ६३ तक के पत्र नहीं हैं। ग्रन्थ में २० अध्याय हैं। महाभारत के अश्वमेध यज्ञ का विवरण दोहा छन्द में लिखा गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में कवि ने अपना नाम भगवानदास दिया है। आदि-अन्त के कुछ पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

—आदि—

दो०—श्रीगुरु गोविंद सारदा, संकर गवरि गयंद।
विधि नारद पद वंदिके, कीजित छंद प्रबंद ॥१

हरि बल भज है जिते, ते सब होह कृपाल।
चरण सरण मोहि जाँनिके, कीजिए कृपा कृपाल ॥२
महमा ज्यग अश्वमेध की, कहत अधिक सब कोय।
ताते वरणण करिए जो, हरि का अनुग्रह होय ॥३
सद्व संस्कृत विकट अति, जो जानि नहि जाय।
ताते सुखदायक सरल, भाषा कित मन भाय ॥४
सब संतन अग्या दई, वरणिऐ जय अश्वमेध।
अश्वमेध अद्भुत कथा, भाषिए तिनके भेद ॥५
ऐसे अग्या पाव कहो, संतन कूँ सिर नाय।
भगवानदास भगवत कृपा, कीन्होँ उक्ति उपाय ॥६
कथा पुरातन हे जथा, तथा कहत सब ताहि।
जे जन्मेजय नृपति प्रति, कहि जयमुनि रिपिराड ॥७

—अन्त—

परिकरमां परिणाम करि, विदा किया जय मुन्य।
जै जै कार भये जहाँ, कहत धन्य नृप धन्य ॥८
सुर नर मुनि हरषे सकल, वरषे पहुँच मुग्न्य।
जिनके सदा सहाय है, गिरवर घर गोविंद ॥९
भगवानदास भजिए सोइ, जय पुरुष जडुनाय।
जिनके दरसण जिन किया, सो सब भए सनाय ॥१०
इति श्री महाभारथ अश्वमेध जय कथा राजा
जनमेजय रिपि जयमुन्य संवादे वीसमो अध्यायः।
सम्पूर्ण ॥

लेखन प्रशस्ति, सं० १८७७ मिति भादवा सुदि १
वार शुक्रवारे लिखितम् थावला मध्ये, ईसर दंडा
मध्ये ॥ वैष्णु निरंजनी बाबा श्री हरनाथदासजी,
तत् शिष्य खूबदासजी तस्य शिष्य पूरणदास लिखितं,
पोथी खूबदासजी की ॥ राम ॥ राम ॥

—नाहटों की गवार, बीकानेर

“मानव जाति ने जो साचा, समझा और पाया है, वह पुस्तकों के जादू भरे
पृष्ठों में बन्द है; उन पृष्ठों को खोलिये और संसार

भर का ज्ञान प्राप्त कीजिये”

आज ही अपनी मन पसन्द की पुस्तकें मंगाये—

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा-२



समालोचनाथ

प्रत्येक पुस्तक

को

दो प्रतियां

श्राणी चाहिये



आलोचना

नई कविता—

प्रकाशक—प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली-६ : पृ० ८०, मू० १.५०

प्रस्तुत पुस्तिका में 'नयी कविता' के चर्चनीय सन्दर्भों का उनके भागीदारों द्वारा विवेचन किया गया है। नयी कविता वर्तमान काल में एक युग लेकर आयातित हुई है। इस दृष्टि से उनके प्रतिनिधियों की विवेचना जहाँ महत्वपूर्ण है, वहाँ पुस्तक के अन्त में नयी कविता के कुछ दृष्टान्त उन्हें और ही चमत्कृत करने में सक्षम हुए हैं। काव्य की इस नई विधा को समझने एवं परखने के लिए प्रस्तुत संग्रह का अपना विशिष्ट स्थान होगा, ऐसी आशा है।

प्रेमचन्द—

लेखक—डा गंगाप्रसाद विमल, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली-६। पृष्ठ १६२, मू० ७.००

समीक्ष्य कृति 'प्रेमचन्द—आज के सन्दर्भ में' रख कर लिखी गई है। प्रेमचन्द को आज के सन्दर्भ में तोल कर उनकी कृतियों तथा उपलब्धियों को रखने का प्रयास लेखक ने किया है। परन्तु युग-बोध के

परिवर्तित प्रवाह में परम्परा और रुढ़िगत विषयों का नया प्रस्तुतीकरण वस्तुतः नवीन का द्योतक होता है, इसीलिए इस कृति का भी अपना उचित स्थान है। प्रेमचन्द को वर्तमान के आधार पर आकलित कर लेखक ने पाठकों एवं साहित्य को एक दिशा दी है। उनकी कृतियों का तत्कालीन समाज के साथ तालमेल तो था ही, पर समय की शिला पर उसका अभ्यास भी कराया गया है। फलतः जहाँ उनकी कृतियों में गत्यात्मकता है वहाँ उनका व्यक्तित्व भी बहुमुखी प्रकाश फेंकता है।

प्रस्तुत कृति इसी को लक्ष्य करते हुए लिखी गई है। इसमें अब तक प्रेमचन्द पर लिखे सभी वादों, प्रतिवादों, भावों, विचारों, आलोचनाओं-प्रत्यालोचनाओं के साथ अन्वेषण दृष्टि भी है। और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

—कामता गुप्त कमलेश।

काव्य

गीत और गीत (भाग १)—

सं०—पं० भरत व्यास, प्रका०—साहित्य भारती, १० स्वदेशी मार्केट, कालवादेवी, बम्बई-२। पृ० ४६, मूल्य २.५०।

प्रस्तुत पुस्तिका चार नवोदित कवियों—मधुकर गौड़, सावित्री परमार, बी० सिंह प्रवर, रमाकान्त आजाद की कविताओं का संकलन है। कविताओं में कसक, वेदना, संश्रय के अतिरिक्त मर्यादित वेदना है साथ ही गेयता के गवाक्षों से इनका लय स्पष्ट बाहर भाँकता प्रतीत होता है। पर इन सब के होते हुए भी इसका अधिक मूल्य सहज ही मन को कचोटता है।

काव्य-भारती—

प्रकाशक—निदेशक, प्रकाशन-विभाग, पटियाला हाउस, नयी दिल्ली—१। पृष्ठ ८८, मूल्य १.५०।

प्रस्तुत कविता संग्रह भारत की सभी भाषाओं को अपने में सँजोये हुए हिन्दी पाठकों के समक्ष आया है। यद्यपि इन कविताओं का आकाशवाणी के सर्व भाषा कवि सभा १९६४, ६५ और ६७ के द्वारा प्रसारण हो चुका है। फिर भी इनका हिन्दी रूपान्तर उससे कहीं अधिक श्रेयस्कर तथा परस्पर तादात्म्य-करण के परिप्रेक्ष्य में उपयोगी है। देवनागरी लिपि के माध्यम से हिन्दी वर्ग भी उनके भावों को समझ कुछ ज्ञानार्जन कर सकेगा, ऐसी आशा है।

आदमी सोहर और कुर्सी—

लेखक—डा० नरेन्द्र भानावत, प्रकाशक—अनुपम प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर। पृ० ७१, मू० ४.५०

प्रस्तुत कृति में कवि की ३४ भावोर्मयी कविताएँ संगुम्फित हैं। इनका रचना काल १९५८ से १९६४ है। पट्ट-वार्षिक कविताओं का मध्यकाल १९६१ बहुत ही गतिमान रहा। इसीलिए शायद इस संवत्सर में कवि ने अधिक रचनाएँ रचीं। अधिकांश कविताएँ व्यंग्य प्रधान पर एवं तीखी हैं। नयी कविता के द्युतिहीन परिवेश में इनका महत्व होते हुए भी ये स्थायित्व पाने में कशमकश करता हुआ प्रतीत होती हैं।

कवि भानावत की कविताओं में समाज-सापेक्ष व्यंग्य होते हुए भी व्यष्टिगत दोषों से दूर ही है, और यही इस पुस्तक की विशिष्टता है अथवा कवि की, यह कहना कठिन है। अन्ततः कविताएँ अच्छी एवं सत्प्रेरक तथा मार्ग प्रदर्शक हैं।

चित्रशाला—

लेखक—ग्रानन्दशंकर माधवन, प्रकाशक—अमरावती, डाकघर—मन्दार विद्यापीठ, जिला भागलपुर। पृष्ठ २७७, मूल्य ८.००।

‘चित्रशाला’ कवि माधवन का द्वितीय काव्य-सुमन है। इसमें कवि ने ‘स्व’ से ‘पर’ और ‘यह’ से ‘समाज’ तथा ‘शान्त’ से ‘अशान्त’ तक की दौड़ लगाई है। तीव्र-धावक ने अपने साथ पीछे भागते हुए वृक्ष एवं प्रकृति को भी इसमें मानवीय सचेतनता देते हुए संगुम्फित किया है एतदर्थ उनकी चित्रशाला में विभिन्न भाव सूचक प्राणवान चित्र हैं। यद्यपि कहीं-कहीं काव्य की भाषा एकदम गद्य है जिसे कविता कहना, काव्य का उपहास करना होगा। फिर भी पुस्तक के चित्र पूर्णरूपेण अनुभूतिपरक एवं स्पन्दनशील हैं। ‘चित्रशाला’ की कविताओं में आकर्षण तो है पर स्थिरता नहीं। काव्य का रसात्मक एवं लयात्मक होना आवश्यक है। माधवनजी इससे पूर्णरूपेण परिचित हैं। उनकी कविता जहाँ सीधे हृदय पर चोट करती है वहाँ बुद्धि पर भी प्रभाव डालती है। इसी-लिए मेरी दृष्टि में उनकी कविताएँ प्रज्ञात्मक हैं न कि हृदयात्मक।

समग्र रूप से पुस्तक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यदि वेदना का आविर्भाव करती है तो व्यक्तिगत जीवन में कुछ सोचन, समझने एवं मनन करने को प्रेरित करती हैं। माधवनजी आज के समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने के लिए हमारी बधाई के पात्र हैं।

महाकाव्य

महाभारती—

ले०—पोद्दार रामावतार अरुण, प्रका०—किरण कुञ्ज, समस्तीपुर, बिहार। पृ० ५५२, मूल्य २५.००

समीक्ष्य महाकाव्य आधुनिक युग की एक ऐसी कृति है जिसका प्रस्तुतीकरण १५ सर्गों में इस भाँति किया गया है कि वह अपने मूल भूत आधार वैदिक संस्कृति का नवीनीकरण सा प्रतीत होता है। कवि की वैचारिक तुला पर आज का जन-मानस अपने पुरा-काल से प्रज्ञा के आधार पर जहाँ बहुत अग्रसर

हो चुका है वहाँ उसका मानवीय धरातल सपाट होते हुए इतना छिछला है कि जिसका अवगाहन सभी तो कर लेते हैं किन्तु गहराई तथा गम्भीरता की अनभिज्ञता में उस पर कोई ठहरता नहीं। एतदर्थ उसका जीवन नाहक तर्क जालों से उलझता हुआ स्वयं से द्वन्द्व कर अन्यो को भी पराभूत होने की चुनौती दे रहा है। इस प्रकोण में अपने आदिकालीन विचार शृंखला को समझने, बूझने तथा मनन करने में इस महाकाव्य का अपना विशिष्ट योगदान है।

कवि अरुण की साहित्य-साधना प्राचीन साहित्य और काल के गहन गह्वर में प्रविष्ट कर इस भाँति तीन स्तम्भों का निर्माण करती है जिस पर 'महा-भारती' का यह विशाल प्रासाद खड़ा चमचमा रहा है। ये तीन स्तम्भ हैं—शक्ति, सौन्दर्य और साधना। स्वयं कवि का यह दृष्टिकोण उसके इस रूप का ही परिचायक है।

“मैं न शुष्क ऋषि, सामवेद का भी विधिवत् ज्ञाता हूँ
इन्द्र-काव्य की मनःशक्ति का भा-रत स्मृति-दाता हूँ
सुनता हूँ संगीत विश्व मानव के अन्तर तर का
सोमपान करता हूँ प्रतिपल शब्द-यज्ञ के स्वर का।”

पृ०—५५०

भारतीय संस्कृति का प्रेरणात्मक पृष्ठ उसके प्रत्येक पाठक को चाहे वह भारतीय हो अथवा अभा-रतीय सबको समान रूप से अपने शब्दाभा से आश्चर्य चकित करता है। विश्व की संस्कृति पृथक्-पृथक् होने पर भी योगिक रूप में सभी एक हैं। इसी उद्देश्य एवं ध्येय की परिपूर्णता के लिए 'महाभारती' ऐसे महाकाव्य की संरचना हुई है। एतदर्थ यह काव्य जीवन और जगत् की व्यापक गतिशीलता तथा क्रिया-शीलता का सम सामयिक चित्र भी प्रस्तुत करता है। पौराणिक उपाख्यान तथा कथाएँ भी अपने मूल रूप को संजोए हुए एक नूतन परिपार्श्व में अवतरित हुई हैं।

पोद्दार रामावतार अरुण भारतीय संस्कृति एवं समाज के ऐसे अनुभवी तथा साहसी अन्वेषक हैं जो कि काव्य के माध्यम से उसके छिपे भूगण रत्नों को

अन्वेषित कर निश्छल भाव से पाठक को सौंप देते हैं जिसे देख सभी का मानस-मयूर स्वतः ही नृत्य करने लगता है। उनकी प्रस्तुति कृति जहाँ हिन्दी के महा-काव्यों की शृंखला में एक अति सुन्दर कड़ी है वहाँ ही यह भावी कवियों के काव्य-सृजन की प्रेरणा भी सफल रूप में देने के अतिरिक्त उनका उपजीव्य भी प्रमाणित होकर एक नवीन आयाम देगी। साथ ही आर्यावर्त्त के वैदिक पावन-सलिल से मानसिक कल्मष का परिक्षालन होकर एक स्वस्थ, निर्मल एवं सरस हृदय का दर्शन होगा, जिसके रोम-रोम पर 'महा-भारती' का प्रभाव प्रतीत होगा। इस परिप्रेक्ष्य में महाकाव्यकार अरुण हमारी हार्दिक वर्धापनिका के पात्र हैं।

—कामता गुप्त 'कमलेश'।

नाटक

महल और भोंपड़ी—

ले०—डा० दशरथ ओझा, प्रका०—फ्रैंक वादर्स एण्ड कम्पनी, चांदनी चौक, दिल्ली-६, पृ० ११५, मू० १.५०।

समीक्ष्य कृति में महाराणा प्रताप और अकबर के परस्पर युद्धों को चार अङ्कों में बड़े ही सजीव ढंग से चित्रित किया गया है। प्रताप का जीवन स्वदेश प्रेम के लिए एक आदर्श रहा और अकबर का जीवन राज्य विस्तार के लिए सदैव प्रयत्नशील। इस सन्दर्भ में राणा प्रताप को सन्यासी एवं तपस्वी जीवन बिताकर भी अकबर से लड़ना पड़ा। अपने भाई जगमल और शक्तिसिंह के विरोधी होने पर प्रताप का लक्ष्य यथावत् बना रहा। अन्त में हल्दीघाटी के सम-रांगण में दोनों भाई प्रताप की सहायता करते हुये अपने जीवन की बलि देते हैं। नाटककार ने अभिनय को ध्यान में रखते हुए उसकी सम्भावनाओं आदि को विशेष महत्व दिया है। शायद इसीलिए इतिहासकार वदायूनी को भी रणक्षेत्र में दिखाकर युद्ध का वर्णना-त्मक दृश्य उपस्थित किया है जिससे पाठक हल्दीघाटी के गौरवपूर्ण युद्ध का आनन्द उठा सकें। रंगमंच में युद्ध वजित होता है, इसीलिये नाटककार ओझा को ऐसी

कल्पना करनी पड़ी जो यथार्थता उचित ही है। क्योंकि ऐतिहासिक नाटक लिखते समय नाटककार को बड़ा ही सतर्क रहना पड़ता है।

एक स्थल पर महाराणा के वरुचों एवं मानसिंह की पत्नी एवं खानखाना की वेगमों के वरुचों के साथ पारस्परिक कौतुक तथा क्रीड़ा के साथ सामूहिक गान भी नाटककार ने कराया है जो कि एकता की भावना से ओत-प्रोत है। वस्तुतः यही किशोर और किशोरियों का दृश्य ही नाटक का प्राण है। जहाँ राग एवं द्वेष का त्यागकर दोनों दिलों के बालक आँख-मिचौनी खेलते हैं। तमाम बाधाओं एवं कठिनाइयों के होते हुए भी प्रताप अपनी मुट्ठी भर सेना के बल पर मुगलों की अपार सेना के छुड़के छुड़ाकर अपनी गौरव रक्षा में सफल हो सके, यही इस नाटक का मूल है। फलतः भोपड़ी के आगे महल को भुकना पड़ता है। भोपड़ी वालों का मनोबल बहुत ही ऊँचा है जबकि महलों में विलासिता का साम्राज्य है।

समग्र रूप से नाटक अभिनेय तथा उत्साहवर्धक है। राजपूती आन तथा क्षत्रित्व के दिग्दर्शन के लिए इसका पठन-पाठन अपेक्षित है।

उपन्यास

नारी और नियति—

मूल ले०—गजेन्द्र कुमार मित्र, अनुवादिका—पुष्पा देवड़ा, प्रका०—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली-६। पृ० संख्या ८६, मू० ४.००

मुगल सम्राट शाहजहाँ का शासनकाल इतिहास का अत्यन्त गौरवशाली अध्याय है। इस युग में एक ओर जहाँ हम साहित्य, संगीत, कला एवं शिल्प का अभूतपूर्व उत्कर्ष देखते हैं वहाँ दूसरी ओर विघटनकारी तत्वों की प्रचण्डता भी चलचित्र की तरह सामने आती है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं विघटनकारी तत्वों का दिग्दर्शन कराया गया है।

नारी और नियति में औरंगजेब के समय के उस पक्ष का सजीव एवं रोमांचकारी वर्णन किया गया है जिसमें औरंगजेब के छोटे भाई मुराद का बागीपन

उसका सरस्वती बाई नामक एक हिन्दू लड़की के सम्पर्क में आना और अन्त में दोनों ही सच्चे प्रेमियों द्वारा आत्महत्या करने तक का वर्णन बहुत ही मार्मिक शैली में किया गया है।

औरंगजेब की कूटनीति निर्भीकताएँ एवं सफलताएँ मुराद की असावधानी, सरस्वती बाई की लगन, कर्तव्य परायणता, सच्चे स्नेह और मानसिक दृढ़ता का बहुत ही सफल चित्रण किया गया है। अन्य सहायक पात्रों में स्वामिभक्त सफीखाँ और असदखाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास में रहस्य रोमांच के साथ शृंगार रस का जीवन्त पुट उसकी रोचकता में चार चांद लगा देता है।

कमलेन्दु जैन

कहानी

नानी की कहानियाँ—

ले०—रूपनारायण चतुर्वेदी 'निविनेह', प्रका०—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६। पृ० ५६ मू० १.५०।

आठ बालोपयोगी कहानियों का यह सङ्कलन है। जिसमें प्राचीन एवं नवीन आचारों पर कौतूहलपूर्वक कहानियों को रेखाचित्रों के साथ रखा गया है। भाषा एवं भाव ललित हैं। इसमें बालक-बालिकाओं का मन सहज ही रमता है। कहानी पढ़ने वाले बच्चों को इन कहानियों को अवश्य ही पढ़ना चाहिए।

जीवन-चरित्र

गोपाल कृष्ण गोखले—

ले०—त्र्यम्बक रघुनाथ दिवगिरीकर, प्रका०—प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, दिल्ली-६। पृ० २६६, मू० ३.००

प्रस्तुत पुस्तक अंग्रेजी पुस्तक 'गोपाल कृष्ण गोखले' का हिन्दी रूपान्तर है। प्रकाशन विभाग की यह योजना कि जो महारूप अपने देश की स्वतन्त्रता एवं पुनरुत्थान के लिए अपना जीवन बलिदान कर चुके हैं, उनकी जीवन्तियों का प्रकाशन होना चाहिए। बहुत ही श्लाघ्य है। इसी योजना के अन्तर्गत इस

पुस्तक का प्रकाशन किया गया है ।

श्री गोपाल कृष्ण गोखले का भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में अतिशय योगदान रहा है । वे एक महान राजनीतिज्ञ उद्भट विद्वान तथा उत्कृष्ट देश भक्त थे । वे आधुनिक भारत के निर्माताओं में से थे । अतएव वर्तमान पीढ़ी एवं भावी पीढ़ी के लोगों को ऐसे पुरुषों के जीवन चरित्रों, क्रियाकलापों एवं आदर्शों को पढ़ना चाहिए । तदनन्तर उसे अपने जीवन में उतार कर अपना जीवन सार्थक बनाना ही उनके कार्यों का सच्चा आकलन होगा एवं इस दृष्टि से हम आशा करते हैं कि गोपाल कृष्ण गोखले की इस जीवनी का सर्वत्र स्वागत एवं अध्ययन होगा ।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस—

ले०—मन्मथनाथ गुप्त, प्रका०—निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नयी दिल्ली-१ । पृ० ६७, मू० १.०० ।

प्रस्तुत पुस्तक भारत के अमर चरित्र के अन्तर्गत प्रकाशित की गयी है । नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का भारत ही क्या सम्पूर्ण विश्व में अपना विशिष्ट स्थान है । चीन से जापान तक, भारत से जर्मनी एवं ब्रिटेन तक उनके यश की गाथा बड़े उत्साह से कही और सुनी जाती है । यह कृति उनके जीवन को बड़े ही सरल ढंग से प्रस्तुत करने में सफल हुई है । वस्तुतः इसका दृष्टिकोण किशोर एवं किशोरियों को ज्ञान कराने की ओर अधिक है किन्तु हमारी दृष्टि में इसका उपयोग वे प्रौढ़ एवं युवक भी कर सकते हैं जिन्हें शिक्षा एवं देश से प्रेम है । इसकी भाषा सहज ही बोधगम्य तथा ग्राह्य है ।

विविध

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के लिए शिक्षा—

अनु०—जीवन नायक, पुनरीक्षण—ए० चन्द्रहासन, प्रका०—एशियन पब्लिशर्स, ६६५ माडल टाउन, जालन्धर । पृ० १२३, मू० ७.५०

समीक्ष्य पुस्तक यूनेस्को की अन्तर्राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत प्रकाशित हुई है । विश्व के रंगमञ्च पर

शिक्षा-व्यवसाय में अध्यापकों एवं शिक्षा विशारदों का क्या महत्व है तथा वे किस प्रकार पारस्परिक ढंग से सहयोग एवं कार्य कर सकते हैं, इसी परिप्रेक्ष्य में इसका प्रकाशन हिन्दी में हुआ है । दुनिया के इस विशाल प्रांगण में शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके सहारे लोग एक दूसरे के विचारों एवं भावों को ज्ञान सकते हैं । सभी अध्यापकों एवं शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा दें । एतदर्थ सभी शिक्षकों के उद्देश्य एक से ही हैं । भाषा एवं संस्कृति अलग-अलग होने पर भी उन्हें आपस में स्वीकृत किया जा सकता है । उनके प्रति सभी की सद्भावनाएँ होती हैं । इसीलिए उनका शैक्षणिक मापदण्ड स्थापित करके एकसूत्र में पिरोये रखना अतीव आवश्यक है । इस पुस्तक के विचार जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय है वहाँ उनका स्रोत एक ही केन्द्र बिन्दु पर है । इस दृष्टि से पुस्तक का विषय एवं ध्येय दोनों अच्छा है । इसका सर्व शिक्षा जगत में स्वागत होगा ।

प्रगति के स्वर—

अनु०—तारा तिव्कू, पुनरीक्षण—ए० चन्द्रहासन, प्रकाशक—एशियन पब्लिशर्स, ६६५ माडल टाउन, जालन्धर । पृ० १०३, मू० ७.५०

प्रस्तुत पुस्तक में मानवीय एवं भौतिक प्रगति के सोपानों का यथा तथ्य विवरण दिया गया है । जीवन में प्राणि जगत को किस तरह उत्तरोत्तर गतिमान होना चाहिए तथा उसके साधन कौन-कौन से हैं । इन सबका बड़े ही आकर्षक ढंग से चित्रांकन किया गया है । यद्यपि यह सब यूनेस्को की प्रक्रियाओं का छायांकन ही है फिर भी इसे सत्प्रेरणा एवं सत्परामर्श हो कहना अधिक उचित होगा । यह कार्यक्रम उन्नत देशों एवं प्रगतिशील राष्ट्रों के हितार्थ किया गया है । इस दृष्टि से यह पुस्तक उन देशों के लिए अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण होगी जोकि प्रगति एवं उन्नत के पथ पर डगमगाते हुए कदम रख रहे हैं । समग्र रूप से पुस्तक ज्ञानवर्द्धक एवं पथ प्रदर्शक है ।

‘साहित्य-सन्देश’ सितम्बर-अक्टूबर १९६८]

[भाग-३०, अङ्क ३-४]

लोकाप्रिय लेखकों की चुनी हुई पुस्तकें



हिन्द पॉकेट बुक्स

दादा २००
आचार्य चतुरसेन
 बहुमुखी प्रतिभा के धनी सुप्रसिद्ध लेखक आचार्य चतुरसेन का एक अनूठा लघु उपन्यास ‘दादा’ और उनके पूरे कथा-साहित्य में से चुनी हुई पांच श्रेष्ठ कहानियाँ ।

पीकिंग की पतंग २००
चन्दर
 चीन और पाकिस्तान की साँठ-गाँठ और भारत-विरोध की पृष्ठभूमि पर लिखा गया एक अत्यन्त रोचक जासूसी उपन्यास । रहस्य, रोमांच और मनोरंजक दाँव-पेच से भरपूर ।

कागज की नाव २००
कृशन चन्दर
 दस रुपये के एक नोट के माध्यम से समाज के विविध रूपों और पात्रों की अत्यन्त मनोरंजक भाँकियाँ— जिन्हें पढ़ते हुए दिल में खनक के साथ कसक भी जाग उठती है ।

कामरेड शेखचिल्ली २००
कन्हैयालाल कपूर
 हास्य-व्यंग्य के जाने-माने लेखक की चुनी हुई कहानियों का अनूठा संकलन । इन्हें पढ़ते हुए आप वेसास्ता हँसेंगे और लेखक की पनी दृष्टि, गजब की सूझ-बूझ और विशिष्ट शैली की प्रशंसा करेंगे ।

सुखदा २००
जेनेन्द्र कुमार
 साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित श्री जेनेन्द्र-कुमार हिन्दी पाठकों में अत्यन्त लोकप्रिय हैं । सुखदा उनकी एक अत्यन्त सजीव, भावपूर्ण रचना है जिसे पाठक बार-बार पढ़ते नहीं आघाते ।

यौवन और स्वास्थ्य २००
डा० लक्ष्मीनारायण
 स्वास्थ्य यौवन की कुञ्जी है और यौवन जीवन की सफलता का रहस्य । डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा ने अपनी इस अत्यन्त उपयोगी पुस्तक में युवा और स्वस्थ रहने के अत्यन्त सरल गुर बताए हैं ।

खून के छीटे २००
कर्नल रंजीत
 कर्नल रंजीत का रहस्य-रोमांच से भरपूर नया जासूसी उपन्यास । मनुष्य की गिरावट और अपराधों की ऐसी कहानी जिसे पढ़ने के बाद आप चकित रह जायेंगे कि संसार में ऐसे बेहंगे इन्सान भी बसते हैं ।

उस्ताद शायरों का कलाम २००
सं० प्रकाश पंडित
 उर्दू शायरी के प्रारम्भ से लेकर उन्नीसवीं सदी के अन्त तक के उस्ताद शायरों का चुनीदा कलाम चित्रों सहित, जिन्हें पढ़कर आप सम्पादक के परिश्रम की दाद दिए बिना न रह सकेंगे ।

हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लि०, जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली-३२

‘साहित्य-सन्देश’ सितम्बर-अक्टूबर १९६८]

[भाग ३०, अङ्क ३-४]

ह मारे प्रकाशन

- १—दीवार ढह गई शत्रुघ्नलाल शुक्ल ८.००
(उत्कृष्ट सामाजिक उपन्यास)
- २—कल्पवृक्ष ,, ५.००
(अतीव रोचक सामाजिक उपन्यास)
- ३—परदे के पीछे एस० एल० ‘देव’ ६.००
(रहस्यात्मक उपन्यास)
- ४—वचन का मूल्य ,, ४.००
(ऐतिहासिक उपन्यास)
- ५—लहर और किनारा श्यामलाल ‘मधुप’ ६.००
(सामाजिक उपन्यास)
- ६—कलाकार संगम ,, ५.००
(सिने कलाकारों का प्रामाणिक परिचय)
- ७—सिन्दूर की लाज शंकर ‘मुल्तानपुरी’ ६.००
(लेखक का सर्वश्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास)
- ८—भाँग की पकौड़ी कन्हैयालाल ‘मयूर’ ५.००
(हास्योपन्यास)
- ९—तीन शहर तीन पहर पुरुषोत्तम ‘कोमल’ ३.५०
(मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यास)
- १०—जन भोग्या पुरुषोत्तमदास गौड़ ‘कोमल’ ५.००
(ऐतिहासिक उपन्यास)
- ११—अपना कौन ? देशराजसिंह भाटी ५.००
- १२—भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख शीर्षक
डा० देशराजसिंह भाटी ३.००
(परीक्षोपयोगी काव्यविवेचन)
- १३—पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रमुख शीर्षक
डा० देशराजसिंह भाटी ३.००

प्रत्येक का मूल्य दो रुपये

नया सैट—

- १—बदनाम सोमनाथ अकेला
रस ले लेकर पढ़ा जाने योग्य उपन्यास
- २—जिस्म का सौदागर एम० एल० ‘देव’
रहस्य जासूसी उपन्यास
- ३—नीलम किशनचन्द्र
प्यार की अनोखी दास्तान
- ४—बलात्कार ‘कोमल’
अत्यन्त रोचक उपन्यास

प्रथम सैट—

- ५—प्यार का खून शत्रुघ्नलाल शुक्ल
नारी भावनाओं का अनोखा चरित्र-चित्रण
- ६—लहर और किनारा श्यामलाल ‘मधुप’
गुलशन नन्दा शैली में लिखा गया सामाजिक उपन्यास
- ७—सिन्दूर की लाज शङ्कर मुल्तानपुरी
पठनीय सामाजिक उपन्यास
- ८—भाँग की पकौड़ी कन्हैयालाल ‘मयूर’
हास्य व्यंग्य से भरपूर सामाजिक उपन्यास
- ९—अपना कौन ? देशराजसिंह भाटी
पारिवारिक समस्या प्रधान उपन्यास
- १०—रंगीन दुनियाँ
सिने कलाकारों का प्रामाणिक जीवन परिचय

हिन्दी सेवा सदन

(प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)

कच्ची सड़क, मथुरा (उ० प्र०)



मधुर पॉकेट बुक्स

कच्ची सड़क, मथुरा ।

'साहित्य-सन्देश' सितम्बर-अक्टूबर १९६८]

[भाग ३०, अंक ३-४]

हिन्दी की विविध विधाओं पर प्रकाशित

हमारी नवीन पुस्तकें

- | | | | |
|----|------------------|---------------------|-------|
| १. | हिन्दी आलोचना : | सिद्धान्त और विवेचन | पू.०० |
| २. | हिन्दी उपन्यास : | सिद्धान्त और विवेचन | पू.०० |
| ३. | हिन्दी कहानी : | सिद्धान्त और विवेचन | पू.०० |
| ४. | हिन्दी नाटक : | सिद्धान्त और विवेचन | पू.०० |
| ५. | हिन्दी निबन्ध : | सिद्धान्त और विवेचन | पू.०० |

सभी पुस्तकें जिल्ददार हैं और बड़े आकार में बढ़िया सफेद कागज पर छपी हैं।

इनमें उस विषय के

चोटी के विद्वानों के चुने हुए लेख संग्रहीत हैं।

उ प यो गि ता

को देखते हुए हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन तो छपते ही आगरा विश्वविद्यालय ने अपनी बी० ए० की परीक्षा में स्वीकृत करली थी।

सब को एक साथ मँगाने पर विशेष रियायत

सभी पुस्तकों का मूल्य २५.०० रु० है लेकिन जो सज्जन सभी पुस्तकों का रियायती मूल्य १८.७५ पेशगी मनीग्रार्डर से भेज देंगे उनको पोस्टेज और रजिस्ट्री का खर्च भी नहीं देना पड़ेगा।

यह रियायत —

३१ दिसम्बर १९६८ तक है।

साहित्य रत्न भण्डार, साहित्य कुञ्ज, आगरा।

Licensed to post without prepayment

साहित्य-सन्देश

(आलोचना प्रधान मासिक)

‘साहित्य-सन्देश’ आलोचना का एक मात्र मासिक-पत्र है जो गत ३० वर्षों से लगातार निकल रहा है। इसका प्रचार समस्त भारत एवं विदेशों में भी है। वार्षिक मूल्य केवल ६.०० रुपया है।

उपयोगिता—(१) हिन्दी के अध्ययन के लिए साहित्य-सन्देश अनूठा साधन है। हजारों विद्यार्थी ‘साहित्य-सन्देश’ पढ़कर बी. ए., एम. ए., पी-एच. डी. आदि पदवीधारी बनकर आज बड़े-बड़े कालेजों में अध्यापन कर रहे हैं।

(२) साहित्य-सन्देश के निरन्तर अध्ययन से सैकड़ों व्यक्ति लेखक बन गए। आज के अनेक सम्मान्य लेखकों ने लिखने का प्रारम्भ साहित्य-सन्देश के माध्यम से ही किया है। आज भी उसे सभी विद्वानों का सहयोग प्राप्त है।

(३) अहिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्यार्थियों, अध्यापकों और प्रचारकों के लिए तो साहित्य-सन्देश एक सम्बल है जिसके सहारे वे हिन्दी का ज्ञान बराबर बढ़ा रहे हैं। इसीलिए इन प्रान्तों में भी उसकी हजारों प्रतियाँ जाती हैं।

मान्यता—(१) भारत के सभी प्रदेशों की सरकारों ने अपने स्कूल, कालेजों के लिए खरीदने की मान्यता ‘साहित्य-सन्देश’ को दे रखी है।

(२) भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालय, अधिकांश कालेज और स्कूल तथा अध्यापकगण अपने पुस्तकालयों के लिए ‘साहित्य-सन्देश’ खरीदते हैं।

आप भी छः रुपये धनादेश द्वारा भेजकर आज ही ग्राहक बन जाइए।

‘साहित्य-सन्देश’ की गत १५ वर्षों की फाइलें

साहित्य-सन्देश को निकलते ३० वर्ष हो गए। प्रारम्भ की १५ वर्षों की फाइलें क्या एक अङ्क भी उपलब्ध नहीं है। इधर १५ वर्षों की कुछ फाइलें उपलब्ध हैं। प्रत्येक फाइल में हिन्दी के श्रेष्ठ लेखकों द्वारा लिखित ५०० पृष्ठों (पुस्तकाकार में १००० पृष्ठ) की सामग्री है। ऐसी प्रत्येक सज्जद फाइल का मूल्य केवल १०) है। पोस्टेज एक फाइल पर करीब ३) पड़ेगा। किन्तु कम से कम पाँच वर्ष की फाइलें मँगाने पर रेल द्वारा बिना खर्च भेजी जायेंगी। किस वर्ष की फाइल में कौन विशेषाङ्क है—यह नीचे देखिए। चिन्हित विशेषाङ्क अलग से भी मिल सकते हैं। ग्राहकों को ये फायलें पौने मूल्य में मिलती हैं।

सन्	वर्ष के विशेषाङ्क	विशेषाङ्क का मूल्य
१९५२-५३	कहानी अङ्क (पुस्तक रूप में)*	५)
१९५३-५४	आधुनिक काव्याङ्क	२)
१९५४-५५		
१९५५-५६	नाटकाङ्क (पुस्तक रूप में)*	५)
१९५६-५७	आधुनिक उपन्यास अङ्क*	३)
१९५७-५८	(१) भाषा विज्ञान अङ्क (पु.रू.)*	५)
	(२) प्रगति विशेषाङ्क	२)
१९५८-५९	(१) सन्त साहित्य अङ्क*	३)
	(२) ऐतिहासिक उपन्यासाङ्क	३)
१९५९-६०	(१) रीतिकाव्यालोचनाङ्क*	३)
	(२) प्रगति अङ्क १९६०*	२)
१९६०-६१	(१) शोध विशेषाङ्क	३)
	(२) प्रगति विशेषाङ्क १९६१	३)
१९६१-६२	(१) निबन्ध विशेषाङ्क (पु.रू.)*	५)
	(२) निराला विशेषाङ्क	२)
१९६२-६३	(१) साहित्य-शास्त्र अङ्क	३)
	(२) रांगेय राघव अङ्क	२)
	(३) शिवपूजनसहाय अङ्क*	२)
१९६३-६४	(१) बाबू गुलाबराय अङ्क*	३)
	(२) वीर काव्य विशेषाङ्क	२)
१९६४-६५	(१) द्विवेदी अङ्क*	२)
	(२) राष्ट्र कवि गुप्त विशेषाङ्क*	२)
१९६५-६६	(१) हरिऔध विशेषाङ्क*	२)
	(२) विद्यापति विशेषाङ्क*	२)
१९६६-६७	(१) प्रवेपाङ्क*	२)
	(२) रत्नाकर विशेषाङ्क*	२)
१९६७-६८	(१) नव वर्षाङ्क*	२)
	(२) बचन विशेषाङ्क*	२)

साहित्य-सन्देश कार्यालय,

साहित्य-कुञ्ज, आगरा-२

साहित्य सन्देश

वर्ष ३०, अङ्क ८]

फरबरी, १९६६

[मूल्य साठ पैसे]

इस अङ्क में—

१—हमारी विचारधारा	सम्पादकीय	२२६
२ - साहित्य तथा इतिहास	श्री श्याम ग्रानन्द	२३३
३—‘सूर सूर तुलसी शशि’	श्री नरेश शर्मा	२३६
४—निराला के भक्ति-गीत	डा० जगदीश्वरप्रसाद	२४३
५—मनोवैज्ञानिक कथाकार जैनेन्द्र	श्री कृष्ण कमलेश	२४६
६ - डा० नगेन्द्र का समीक्षा पथ	डा० शान्तिगोपाल पुरोहित	२४८
७—खाल कवि का राज्याश्रित जीवन	डा० भगवानसहाय पचौरी	२५०
८—पाठ, शब्द और अर्थ का निर्णय	श्री कन्हैयासिंह	२५३
९—आगरा के कवि मसूकचन्द रचित ‘कुविजा पचीसी’	श्री अग्ररचन्द नाहटा	२५६
१०—साहित्य वाचस्पति उपाधि पाने वाले विद्वान्	राष्ट्रभाषा सन्देश से साभार	२५८
११—पुस्तक-परिचय		२६४

हिन्दी की विविध विधाओं पर प्रकाशित हमारी नवीन पुस्तकें

- | | | | |
|----|------------------|---------------------|------|
| १. | हिन्दी आलोचना : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |
| २. | हिन्दी उपन्यास : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |
| ३. | हिन्दी कहानी : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |
| ४. | हिन्दी नाटक : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |
| ५. | हिन्दी निबन्ध : | सिद्धान्त और विवेचन | ५.०० |

सभी पुस्तकें जिल्ददार हैं और बड़े आकार में बढ़िया सफेद कागज पर छपी हैं ।

इनमें उस विषय के

चोटी के विद्वानों के चुने हुए लेख संग्रहीत हैं ।

उ प यो गि ता

को देखते हुए हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन तो छपते ही
आगरा विश्वविद्यालय ने अपनी बी० ए० की परीक्षा में स्वीकृत करली थी ।

सब को एक साथ मँगाने पर विशेष रियायत

सभी पुस्तकों का मूल्य २५.०० रु० है लेकिन जो सज्जन सभी पुस्तकों का
रियायती मूल्य १८.७५ पेशगी मनीग्रार्डर से भेज देंगे उनको पोस्टेज
और रजिस्ट्री का खर्च भी नहीं देना पड़ेगा ।

यह रियायत—

३० जून १९६६ तक है ।

साहित्य रत्न भण्डार, साहित्य कुब्ज, आगरा ।

साहित्य संदेश

[आलोचना मासिक]

भाग-३०

अङ्क-७

सम्पादक

महेन्द्र

सहायक

कामतागुप्त 'कमलेश'

प्रबन्ध सम्पादक

कमलेन्दु जैन

फरवरी—१९६६

मूल्य

आजीवन	१००.००
एक वर्ष का	६.००
दो वर्ष का	११.००
तीन वर्ष का	१५.००
एक अंक का	.६०.

हमारी विचारधारा

सद्भावना मण्डल का स्वागत समारोह—

हिन्दी प्रचार की विभिन्न सभाओं के संघ की ओर से दक्षिणोत्तर के बीच सद्भावना फैलाने के लिए एक सद्भावना मण्डल गत वर्ष राजस्थान में गया था। इस वर्ष यह मण्डल उत्तर प्रदेश में आया और इसका पहला क्षेत्र आगरा था। आगरा में विगत १८ फरवरी को जैसा भव्य व विशाल स्वागत इस मण्डल का किया गया वैसा स्वागत सम्भवतः पहले कभी नहीं हुआ। इस सद्भावना मण्डल में दक्षिण के तीन मूर्धन्य साहित्यकार थे। श्री विश्वनाथ सत्यनारायण तेलुगु के, श्री का० ना० सुब्रह्मण्यम तमिल के, और श्री कालिन्दीचरण पाणिग्रही उड़िया के। मण्डल आगरा से इलाहाबाद, इलाहाबाद से वाराणसी, वाराणसी से लखनऊ की यात्रा करेगा। हिन्दी के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' और संघ के अध्यक्ष, संसत्सदस्य श्री गङ्गाशरणजी आप लोगों के साथ थे। आगरा कंठ स्टेशन पर आप लोगों के स्वागत के लिए कई सौ आदमी पहुँचे थे। दोपहर को कनारा बैंक के मैनेजर ने इन लोगों के सम्मान में भव्य भोज दिया। नगर महापालिका के विशाल प्रांगण में विशेष रूप से बनाये गये मंच पर नागरिक अभिनन्दन किया गया। इस समारोह की अध्यक्षता आगरा के मेयर श्री कल्याणदास जैन ने की। मण्डल आगरा के गण्यमाण्य व्यक्तियों से भरा हुआ था। कार्य बड़ी शालीनता के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर नागरिक अभिनन्दन के उत्तर में उपर्युक्त महान साहित्यकारों ने जो भाषण अपनी-अपनी भाषा में दिए और सर्वश्री डा० राजगोपालन आदि ने जैसा सुन्दर अनुवाद किया उसे सुनकर लोग चकित रह गए।

पंडाल में नगर के साहित्यकारों के अलावा विभिन्न वर्गों के लोग बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे। अभिनन्दन समिति के अध्यक्ष श्री कश्यप कृष्ण शर्मा आयुक्त आगरा मण्डल ने अनितियों का प्रभावपूर्ण शब्दों में परिचय दिया। श्री शर्मा अवसर के अनुकूल कुरता-धोती एवं वस्त्र धारण किये हुये थे।

अभिनन्दन समिति के मन्त्री डा० ब्रजेश्वर वर्मा निदेशक केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान के आह्वान पर नगर की विभिन्न संस्थाओं ने अति-

धियों को मात्पारंपर्य किया और समिति की ओर से संयोजक ने उन्हें ताज के मोडल भेंट किये ।

विविध विधाओं के धनी वयोवृद्ध साहित्यकार श्री विश्वनाथ सत्यनारायण ने तेलुगु में अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा—आपने आज ऐसा काम किया है कि मेरी गरदन टूट रही है । इतना बोझ मैं कैसे घर लेकर जाऊँ । अपने भाषण में आपने विभिन्न प्रान्तवासियों की आधारभूत एकता पर बल दिया और अंग्रेजी की फूट डालने वाली वृत्ति का नग्न रूप प्रस्तुत किया । आपने कहा कि आन्ध्र वाले आपके लोग हैं, आप आन्ध्र वालों के, अंग्रेज हमारे नहीं । 'समैक्य' हमारे यहाँ सदा विद्यमान रहा है । अब भी इसे मन में बिठाने की जरूरत है । ऊपर से कुछ न होगा ।

तमिल के लब्ध प्रतिष्ठित उपन्यासकार श्री का० ना० सुब्रह्मण्यम ने अपने स्नेहसिक्त भाषण में कहा कि यमुना नदी केवल आपकी ही नहीं हमारी भी है । परम्परा से हम एक हैं । जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, मद्रास में जितनी सफलता इसे मिली है उतनी कहीं नहीं । जो भाषा की समस्या पैदा कर लोगों को एक दूसरे से अलग करना चाहते हैं, वे देश द्रोही हैं । उन्हें अलग कर देना चाहिए । मेरा विचार है भाषा और अभिव्यक्ति एक दूसरे को मिलाने के लिये हैं—अलग करने के लिये नहीं । साहित्यकार का एक भाषा से काम नहीं चल सकता । तमिल वासी को हिन्दी सीखनी चाहिये । हिन्दी भाषी को तमिल । एक-दूसरे से लाभ उठायें ।

आपके तमिल भाषण का साथ-साथ सुन्दर अनुवाद श्री बी० रा० जगन्नाथन ने किया ।

उड़िया के प्रसिद्ध उपन्यासकार और कवि श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही ने अपने भाषण में कहा कि देश की प्राचीन नगरियों और तीर्थवार्मों में भावात्मक एकता के अच्छी तरह दर्शन होते हैं । इन नगरों के विभिन्न भाषी लोग हिन्दी के माध्यम से बड़ी सुविधा से अपना कारबार चलाते हैं । यह आवश्यक है कि हिन्दी के प्रसार के मामले में हिन्दी

वालों का मनोभाव उदार हो । सरकार का मनोभाव भी राष्ट्रभाषा के सन्दर्भ में उदार हो । हिन्दी के लिए जबरदस्ती की आवश्यकता नहीं । सहस्रों वर्षों से भारत में एकता की सुरसरि प्रवाहित हो रही है । यह मान्यता रही है कि चारों दिशाओं में स्थित चारों धर्मों की यात्रा किये बिना मुक्ति नहीं मिल सकती ।

कविवर डा० रामधारीसिंह दिनकर ने अपनी काव्यमयी भाषा में आज के दिन के आगरा के महत्व का प्रतिपादन किया । आपने कहा कि संगम में स्नान पुण्य का कारण होता है । आज यह मंच भी संगम है जो देश के लिये अशेष पुण्य उत्पन्न करेगा । आगरा नगर में केन्द्रीय हिन्दी संस्थान की मौजूदगी को आपने सीमाग्य की बात कहा ।

आपने कहा कि आज भाषा का विग्रह क्यों ? इसीलिये कि त्रिभाषा के सूत्र का आदर नहीं हुआ । इस मामले में हिन्दी क्षेत्र सबसे ज्यादा पिछड़ा है । भाषा के साथ प्रजाति सिद्धान्त (रेसथ्योरी) का जुड़ना सर्वाधिक घातक सिद्ध हुआ । इसे पहले-पहल अंग्रेजों ने लागू किया । उन्होंने कहा जो लोग भिन्न भाषा बोलते हैं वे भिन्न जाति के हैं । हम इसका खण्डन करते हैं सारे देश की जनता एक खानदान की जनता है ।

आपने हृदय से कहा कि अंग्रेजी से देश की एकता बढ़ी पर दूसरे प्रकार की । मन की एकता नहीं । मन की एकता अपनी भाषाओं से ही होगी ।

स्पेनी राजदूत और हिन्दी—

जब किसी देश से कोई नया राजदूत भारत में नियुक्त किया जाता है तब वह भारत के राष्ट्रपति के सम्मुख उपस्थित होकर उन्हें अपना परिचय पत्र देता है और साथ ही उनको सम्बोधित करते हुए एक भाषण भी देता है । ये राजदूत अपना भाषण अपने देश की भाषा या अंग्रेजी में देते रहे हैं । ये भाषण लिखित होते हैं और सामान्यतः वे उसका हिन्दी अनुवाद कराकर उसकी प्रतिलिपि भी दे देते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टता के अनुसार दो देशों के मध्य पत्राचार आदि उनकी भाषाओं में होता है । उदा-

हरण के लिए इटली की सरकार ब्रिटेन की सरकार को अपना पत्र इटालवी भाषा में भेजेगी और ब्रिटिश सरकार उसे अंग्रेजी में। यदि वे चाहें तो दोनों ही केवल इटालवी या केवल अंग्रेजी भाषा में पत्राचार कर सकते हैं। भारत की राजभाषा हिन्दी है किन्तु हमारे राजनयिक उसका व्यवहार कम ही करते हैं। दूसरे देशों के राजदूत अभी तक या तो अपने देश की भाषा में बोलते थे या अंग्रेजी में। अंग्रेजी अधिकांश देशों की भाषा नहीं है और भारत की भी नहीं। किन्तु भारत सरकार में अंग्रेजी का इतना प्रचलन है कि विदेशी लोग जानते हैं कि यहाँ उनके अंग्रेजी बोलने पर कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु गत मास जब स्पेन के नये राजदूत श्री ग्विलेर्मो नदल ब्लेनिस ने राष्ट्रपति को अपना परिचयपत्र दिया तब उन्होंने जो भाषण दिया वह हिन्दी में था। भारत के राजनयिक इतिहास में पहली बार एक विदेशी राजदूत ने इस अवसर पर अपना भाषण हिन्दी में दिया। इस प्रकार स्पेन के राजदूत ने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। उनकी भाषा बड़ी प्रांजल थी। अपने भाषण में उन्होंने बतलाया कि वे चार वर्ष भारत में रह चुके हैं और यहाँ उन्हें हिन्दी सीखने का अवसर और प्रोत्साहन मिला था। इसलिए वे उस अवसर पर हिन्दी में बोल सके। जो भी हो, हमें इस बात की प्रसन्नता है कि स्पेन के राजदूत ने हिन्दी में बोलकर एक स्वस्थ परम्परा का आरम्भ किया है। हम उन्हें इसके लिए हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

अमीर खुसरो की मजार पर—

हिन्दी के आदि कवि और सौ वर्ष पूर्व ही खड़ी-बोली में हिन्दी के रचयिता कवि श्रेष्ठ अमीर खुसरो की मजार पर इस वर्ष दिल्ली में अनेक कवियों और विद्वानों ने उनके उर्स के अवसर पर इकट्ठे होकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। इस समारोह का उद्घाटन केन्द्रीय उपमन्त्री श्री मोहम्मद शफी कुरैशी ने किया।

उन्होंने उस समय हिन्दी, फारसी और अरबी को एक दर्जा प्रदान किया और सभी भाषाओं में अपने

कलाम लिखे। आज हम आजाद होने के बाद भी भाषा विवाद में उलझे हैं, क्या यह उचित है ?

दरगाह निजामुद्दीन औलिया के सज्जादानशीन मीर जामिन निजामी ने कहा कि अमीर खुसरो भविष्य द्रष्टा थे। आज से लगभग छह सौ वर्ष पूर्व ही उन्होंने यह भाँप लिया था कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है। उन्होंने अरबी, फारसी के समय में भी जन भाषा हिन्दी में काव्य रचना की।

अमीर खुसरो साहित्य अकादमी के उपाध्यक्ष श्री परमानन्द पांचाल ने कहा कि अमीर खुसरो ने दिल्ली के आसपास की बोली को आज से छह शताब्दी पूर्व साहित्यिक रूप देने का प्रयास किया था। आज प्रायः उसी रूप में हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है। अमीर खुसरो सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय एकता के प्रतीक तो थे ही, साथ ही वे भाषाई एकता के प्रेरणा स्रोत भी हैं।

श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' का स्वर्गवास—

हिन्दी के प्रसिद्ध और पुराने लेखक पण्डित रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' का स्वर्गवास इस मास के आरम्भ में गोंडा में हो गया। ये बस्ती जिले के निवासी थे। वे बड़े मेधावी छात्र थे। उन्होंने हिन्दू-विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० किया था। एम० ए० में सर्वप्रथम होने के कारण उन्हें विश्वविद्यालय का स्वर्ण-पदक मिला था। उन्होंने शिक्षा को अपना कार्यक्षेत्र चुना और वे मध्यभारत तथा उत्तर प्रदेश में कई कालेजों के प्राचार्य रहे। एक बार उन्हें अफगानिस्तान की सरकार ने भी परामर्श देने के लिए आमन्त्रित किया था। अंग्रेजी के विद्वान् और प्रोफेसर होते हुए भी हिन्दी से उन्हें गहरा प्रेम था। वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य में बराबर सहयोग देते थे। उन्होंने लेखनी द्वारा भी हिन्दी-साहित्य की सेवा की और कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। उनका 'अवधी कोश' अपने विषय का एकमात्र कोश है और बहुत महत्वपूर्ण है। उनके निधन से हिन्दी और शिक्षा-जगत् की बड़ी क्षति हुई है।

हम उनके शोक-सन्तप्त परिवार के प्रति हार्दिक सहा-
नुभूति प्रकट करते हैं ।

डा० वृन्दावनलाल वर्मा का निधन—

हमें यह जानकर हार्दिक दुःख हुआ कि हिन्दी के
मूर्धन्य साहित्यकार, ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्यतम
लेखक, मानवता के प्रतीक श्री वृन्दावनलाल वर्मा का
भी गत मास स्वर्गवास हो गया । वर्माजी ८२ वर्ष की
परिपक्व अवस्था में हम से विदा हुए पर इधर कुछ
दिन को छोड़कर उनका स्वास्थ्य इतना अच्छा था
कि वे किसी भी समय से हाथ मिलाने के लिये
तैयार रहते थे । उनका जीवन इतना संयमशील और
उनको मन इतना संयत रहता था कि उनका दीर्घ-
जीवी होना स्वाभाविक था ।

अब से दस वर्ष पूर्व फरवरी १९५६ में हमने साहित्य
सन्देश का एक विशेषांक निकाला था जिसका नाम
'ऐतिहासिक उपन्यास अङ्क' रखा गया था । यह
अङ्क श्रेष्ठ वर्माजी के सम्मान में ही निकाला गया
था । वास्तविक बात तो यह है कि इस अङ्क का नाम
'वृन्दावनलाल वर्मा अङ्क' रखा जाना चाहिए था
क्योंकि उसके ११० पृष्ठों में प्रायः सभी लेख वर्माजी
के व्यक्तित्व एवं उनकी रचनाओं से सम्बन्धित हैं ।
इस अङ्क की बड़ी चर्चा हुई थी और बड़ा सम्मान
मिला था । इस अङ्क के सम्पादकीय में हमने लिखा था ।

डा० वृन्दावनलाल वर्मा के सम्मान में आयोजित
साहित्य-सन्देश का यह विशेषांक निकालते हुए हमें
बड़ी प्रसन्नता है । वर्माजी हिन्दी के यशस्वी उपन्यास-
कार हैं । उन्होंने साहित्य को बहुत कुछ दिया है और
बहुत श्रेष्ठ दिया है । किसी भी कवि या लेखक की
सभी रचनाएँ उच्च श्रेणी की ही हों ऐसा नहीं है—
हो भी नहीं सकता । उसका मूल्याङ्कन समय सामग्री
को सामने रख कर किया जाता है । वर्माजी के कृतित्व
के मूल्याङ्कन का यह छोटा सा प्रयास हिन्दी जगत के
सम्मुख उपस्थित करते हुए हमें बड़ा सुख और सन्तोष
है । विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न
विषयों पर इसमें वर्माजी की कृतियों की चर्चा की
है । हिन्दी ही नहीं, अ हिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्वानों

ने भी अपनी-अपनी भाषा के मूर्धन्य लेखकों का परि-
चय देते हुए वर्माजी से उनकी तुलना की है । पाठक
देखेंगे कि सभी लेखकों ने वर्माजी की श्रेष्ठता को
मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है और उनकी अनेक
रचनाओं को अपने क्षेत्र में विश्व-साहित्य के मंच पर
विशिष्ट स्थान पाने के योग्य प्रमाणित किया है । हम
अपने इन सब प्रेमी लेखकों के बहुत आभारी हैं
जिनकी सहायता के बिना यह अङ्क इस रूप में नहीं
निकल सकता था ।

६ जनवरी को वर्माजी ने अपने जीवन के ७०
वर्ष पूरे करके ७१ वें वर्ष में प्रवेश किया है । उनके
जीवन साफल्य पर बधाई देने, उनके प्रति अपनी
और सभी साहित्य-प्रेमियों की श्रद्धा प्रकट करने और
अपना सम्मान प्रकट करने के लिए यह आयोजन
हमने किया था । इसकी सफलता पर हमें सन्तोष है ।
इसलिए नहीं कि हमारा अनुष्ठान कुछ बहुत बड़ा या
महान है । हमें सन्तोष केवल इसलिए है कि हम ऐसे
महान् लेखकों के प्रति अपना और समाज का आदर
भाव प्रकट करने के प्रतीक बन सकें । हम अपना
और सभी साहित्य-प्रेमियों का यह कर्तव्य समझते हैं
कि जिन विद्वानों ने साहित्य की सेवा में अपना जीवन
खपाया है और अपना रक्त सुखा और पसीना बहा
कर हमें अमूल्य रत्न प्रदान किए हैं, माँ भारती का
भण्डार भरा है, देश को स्वस्थ, सक्षम और सरस
रचनाएँ देकर उन्नत बनाया है—उनके प्रति अपना
सम्मान प्रकट करें और उन्हें आदर देकर अपना
कृतज्ञता का भाव प्रकट करें । हमारा यह विशेषांक
इसी दृष्टि से एक क्षुद्र प्रयास है और इसे वर्माजी को
भेंट करते हुए हमें परम सुख है ।

वर्माजी के स्वर्गारोहण पर अपनी विनम्र श्रद्धा-
ञ्जलि अर्पित करते हुए हम भगवान से उनकी सद्-
गति और उनके कुटुम्बी जनों को शान्ति लाभ की
प्रार्थना करते हैं और अपने पाठकों से निवेदन करते
हैं कि वे वर्माजी के विषय में विशद जानकारी के
लिए और उनकी रचनाओं के अध्ययन के लिए उक्त
अङ्क को हमारे यहाँ से मँगाकर देखें ।

साहित्य तथा इतिहास

• श्याम आनन्द

साहित्य तथा इतिहास पर विचार करने से पूर्व यदि दोनों शब्दों का अर्थ स्पष्ट करके उनकी सीमाओं का निवारण कर लें तो अधिक उपयुक्त होगा। कोश^१ के अनुसार साहित्य=साहित+यत् प्रत्ययः अर्थात् सार्थक शब्द मात्र का नाम साहित्य है। अंग्रेजी का लिटरेचर शब्द प्रत्येक छपी हुई सामग्री के लिए प्रयुक्त होता है। पर साहित्य की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है। मूल रूप से 'शास्त्र' के लिए प्रयुक्त होने वाले इस शब्द को भर्तृहरि ने 'साहित्य, संगीत, कला' की त्रयी में रखकर काव्य का समानार्थी माना है। भामह ने "शब्दार्थो सहितौ काव्यम्" कहकर इसकी पुष्टि की। राजशेखर ने "शब्दार्थयोर्यथवित्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या" द्वारा और अधिक विस्तृति दी। परन्तु साहित्य का जो अर्थ आज लिया जाता है, उसे "वक्रोक्तिजीवित" में कुन्तक की परिभाषा—“साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काव्यसौ अन्यूनानतिखितत्व मनोहाख्यवस्थिति”—में यदि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का रस जोड़ दिया जाय तो हम अपने लक्ष्य-बिन्दु के अधिक निकट पहुँच पाते हैं। साहित्य क्योंकि जीवन की व्याख्या है या आलोचना है^२ इसलिए उसमें सत्य का अंश विद्यमान होता है पर शिव और सुन्दर के साथ। हृदय-पक्ष यद्यपि प्रबल होता है पर बुद्धि पक्ष की उपेक्षा भी सर्वथा नहीं होती। साहित्य से हमारा तात्पर्य ललित-साहित्य से है। कविता, कहानी,

नाटक, उपन्यास, एकांकी आदि जिसके अन्तर्गत आते हैं।^३

इतिहास=इति+ह+आस अर्थात् “धर्मात्-काममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् पूर्ववृत्तं कथायुक्तमिति हासं प्रचक्षते।” परन्तु पश्चिमी विद्वान् 'उपदेश' और 'कथा' आदि को इतिहास नहीं मानते। उनके अनुसार परिनिश्चित तथ्यों की सुसम्बद्ध कालक्रमानुसारी शृङ्खला का नाम इतिहास है।

कई विशेषतः अनुभववादी (एम्पिरिस्टिक) और तथ्यवादी (पाजिटिविस्ट) दर्शन से प्रभावित इतिहास-विद् इतिहास में तथ्यों का यथार्थ, वस्तुनिष्ठ निरूपण पर्याप्त समझते हैं, जबकि अन्यो की दृष्टि में यथार्थोन्मुखता अथवा वस्तुनिष्ठता इतिहास की पहली शर्त है, अन्तिम नहीं। परन्तु तथ्यों का संकलन ही इतिहास नहीं, तथ्यों का वातावरण इतिहास है।^२ द्विवेदीजी का सकेत भी शायद यही है। उनके अनुसार “इतिहास जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवन कथा होता है। जो काल-प्रवाह से नित्य उद्धटित होते रहने वाली नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय मात्रा का चित्र उपस्थित करता है और जो काल के पदों पर प्रतिफलित होने वाले नये-नये दृश्यों को हमारे सामने सहज-भाव से उद्घटित करता रहता है।^३ ये घटनायें राष्ट्र, धर्म, विज्ञान, कला आदि को भी प्रभावित करें।” तथ्यों

^१ हिन्दी साहित्य कोश भाग १

^२ मैथ्यू आनल्ड

^१ संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे।

^२ डा० ओमप्रकाश व्याख्यान

^३ डा० ह० प्र० द्वि० संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो भूमिका।

के चयन-संकलन-संग्रहण से ही सन्तुष्ट न होकर इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं अथवा घटना-समूहों की कारण-निर्देशपुरस्सर व्याख्या भी करना चाहता है। "तथ्यों के वातावरण" का दिग्दर्शन करने के लिए वह तत्कालीन समाज, धर्म, राजनीति, आर्थिक-दशा पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। ज्ञातव्य है कि इतिहास से साधारणतया राजनीतिक परिवर्तनों का अर्थ लिया जाता है।

साहित्य तथा इतिहास को यदि अर्थ के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखें तो यह समान रूप से दोनों में दृष्टि-गोचर होगा। कथावस्तु साहित्य की प्रायः प्रत्येक विधा में परिलक्षित होती है पर कहानी, उपन्यास, नाटक आदि में यह मुख्यता प्राप्त कर लेती है। अर्थ की प्रधानता इतिहास में भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कहानी में। पर कहानी इतिहास नहीं क्योंकि कवैस् के कारण एक विलक्षण शक्ति और सामर्थ्य जो कहानी (साहित्य) में आ जाती है, वह इतिहास में दुर्लभ है।^१ व्यंग्यार्थ-साहित्य का अर्थ हमारे हृदय को उद्वेलित कर देता है। रागात्मक अनुभूति उत्पन्न कर देता है और यही उत्कृष्ट साहित्य की कसौटी है। पर इतिहास में इस राग, उद्वेलन या भावुकता पर जितना अधिक अंकुश होता है, भ्रामकता जितनी कम होती है। उतना ही वह अधिक सफल होता है। जो भी रचना साहित्यिक है, उसमें मनोवेगों को उद्वेलित करने की शक्ति होना अनिवार्य है। इतिहास से पाठकों के मनोवेगों का प्रणदन नहीं होता, और जहाँ तक यह प्रणदन होता है वहाँ तक इतिहास भी साहित्य है।

इतिहास तथा साहित्य दोनों का उद्देश्य सत्य की खोज है। परन्तु दोनों के साधन एवं उपकरण भिन्न हैं, महादेवीजी ने इसको अधिक स्पष्ट करते हुए स्वीकार किया है। "सत्य काव्य का साध्य है और सौन्दर्य साधन है"^२ पर इतिहास का साध्य होने

पर भी साधन 'तथ्यपूर्ण' यथार्थ है। यही कारण है कि वही सत्य साहित्य में "सौन्दर्य-पूर्ण आदर्श" बन जाता है और इतिहास में "यथार्थमय तथ्य" है। इस बात को प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रियों ने भी समझ लिया था और पाश्चात्य विद्वानों ने भी। दण्डी^१ ने महाकाव्य की परिभाषा करते हुए कहा— "महाकाव्य वह है जिसका कथानक इतिहास या कथा से उद्भूत हो.....आदि-आदि।" अरस्तू ने यही बात दूसरे ढंग से कही। "इसका रूप-गठन इतिहास से बहुत भिन्न होता है। क्योंकि महाकवि महाकाव्य की सामग्री का इतिहास से इस प्रकार चयन करता है कि उसमें सम्बन्ध युक्त अन्विति दिखाई पड़ती है जो इतिहास में नहीं होती।" साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने नाटक का लक्षण दिया कि 'नाटक वह रचना है जिसकी कथावस्तु रामायणादि एवं इतिहास में प्रसिद्ध हो.....'^२ संस्कृत गद्य-साहित्य में असंख्य ललित-कथाएँ ऐतिहासिक आधार लेकर लिखी गई हैं और उनका उद्देश्य, नीति-स्थापना आदर्श एवं दृष्टान्त उपस्थित करना रहा है। हिन्दी में आधुनिक दृष्टिकोण से ऐतिहासिक सामग्री को बिल्कुल भिन्न उद्देश्य से कहानी का वर्ण्य विषय बनाया गया है। इतिहास को यथार्थवादी ढंग से ग्रहण करना इसकी पहली विशेषता है। इसी दृष्टिकोण से प्राचीनता के मोह, जातीय गौरव, राष्ट्र प्रेम, आदर्श भावना एवं वीर पूजा की भावना ने कहानियों को इतिहास की ओर प्रेरित किया। ऐतिहासिक यथार्थ और मनोविज्ञान इनकी एक और विशेषता है वृन्दावनलाल वर्मा, प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री, प्रसाद आदि की रचनाओं में जहाँ ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा की गई है वहाँ वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में जीवन का मूल्यांकन इनकी विशेषता है। रचना का आधार इतिहास न भी हो तो भी संदर्भ के अभाव में अनेक व्यंजनाएँ केवल अर्थहीन सी लगती हैं और वह प्रेषणीयता जो एक संगति विशेष में महत्वपूर्ण अर्थ

^१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो की भूमिका।

^२ दीप शिखा : चिन्तन के कुछ क्षण।

^१ काव्यादर्श (१ : १४ : १६)

^२ साहित्य दर्पण षष्ठ परिच्छेद ७, ११

रखती है, संदर्भ के अज्ञान के कारण स्पष्ट बताता है। इतना ही नहीं वह उसे आरोपित भी कर देता है। साहित्यकार ऐसे मानव-मूल्यों को ग्रहण करता है जो कल्याणकारी हैं, शुभ हैं, सज्जनात्मक हैं और कल्पना के द्वारा वह उन मूल्यों की सृष्टि कर देता है। एक ही स्रोत से सामग्री ग्रहण करते हुए भी इतिहास उस पात्र के समान है जो संसार रूपी समुद्र से खारा पानी लेकर उसी रूप में प्रस्तुत कर देता है और साहित्य वह वादल है जो संसार रूपी समुद्र से खारा पानी लेकर वर्षा का मीठा जल प्रदान करता है। विश्व-साहित्य में इसके उदाहरण बड़ी मात्रा में मिलते हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र में इसकी जो महत्ता है वह जीवन के आन्तरिक आनन्द ही वास्तविक आनन्द हैं। इसी दृष्टि में संस्कृत में सुखान्त-नाटकों की परम्परा अधिक रही। रामायण और महाभारत में देवत्व की दानत्व पर विजय घोषित की गई जिससे मानव-मन में आनन्द के साथ सद्बुक्तियों का भी प्रवेश हो। मिल्टन का "पैराडा-इज लास्ट" यद्यपि साहित्यिक आदर्शवाद के स्थान पर धार्मिक आदर्शवाद का अधिक आश्रय लेता है फिर भी उसमें मानव के उच्चतर मूल्यों की स्थापना है। अरस्तू का अनुकृति-सिद्धान्त, प्लेटो की रिपब्लिक, टेंगोर की गीतांजलि, प्रेमचन्द के उपन्यास, प्रसाद की कामायनी इसी आदर्श का प्रतिपादन करती हैं। डबल्यू वेव के शब्दों में "आदर्श साहित्य में आनन्द और उपदेश का सुन्दर समन्वय होता है।" इतिहास को इसकी परवाह नहीं होती।

इस आदर्शवादी दृष्टिकोण का सत्य की असत्य पर विजय दिखाने का एक कारण है। संभाव्य यथार्थ से सम्बन्ध रखने वाले अन्तर्गत के हमारे संस्कार हमारे बाह्य आचरण पर विशेष प्रभाव डालते हैं। इसी से धर्म-नीति आदि ने समय-समय पर उन्हें विकास का साधन बनाया। शकुन्तला की आत्महत्या तो सरल-सौन्दर्य और मधुर विश्वास की हत्या है। उसे कवि कल्पना में भी अंगीकार नहीं कर सकता। पर उस पर विश्वास और सौन्दर्य को ठुकराने वाले दुष्यन्त के पश्चात्ताप में से वह लेशमात्र भी नहीं हटाता, इतना ही नहीं जिस पवित्र सौन्दर्य और मधुर विश्वास की प्राप्ति एक दिन कण्व के साधारण तपोवन में अनायास ही हो गई थी, उसी के पुनर्दर्शन के लिए दुष्यन्त को स्वर्ग तक जाने का आयास भी करना पड़ता है और दिव्य भूमि पर अपराधी-याचक की भाँति खड़ा भी होना पड़ता है। अशोक की युद्ध विजय का महत्व कवि के लिए कुछ नहीं पर धर्म-जयी अशोक के संदेश को विश्व के कोने कोने में पहुँचाने के लिए अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रखता। पर इतिहास के लिए इस विश्वासघात या रक्तपात का कोई मतलब नहीं। यदि तथ्य की कसौटी पर सच्चाई खरी नहीं उतरती तो वह उसका वर्णन कदापि नहीं करता। उसके लिए युद्ध का विजेता और धर्म का रक्षक, अशोक समान महत्त्व रखते हैं।

जीवन को सुन्दर बनाने के लिए साहित्यकार को आदर्श की स्थापना करनी पड़ती है और आदर्श को प्रतिष्ठित करने के लिए कल्पना का दामन थामना पड़ता है। पर काव्य को केवल कल्पना की ही उपज समझना केवल भ्रान्ति है। काव्य कल्पना में बुद्धिगम्यता और संभाव्यता आदि अति आवश्यक तत्व हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में इस संभाव्यता पर विशेष बल दिया गया है। महाकाव्य और नाटकादि के लिए ऐतिहासिक या प्रसिद्ध कथा का निर्देश भी शायद इसी कारण है। "सिद्धान्ततः काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय उचित नहीं समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे।" "दुःखोद्वेचक विषय परिस्थितियों द्रैजिक कन्ट्राडिक्शन्स की सृष्टि करे।"^१ रासो ग्रन्थों में कल्पना के साथ-साथ यथार्थ भी पर्याप्त मात्रा में है। रामायण और महाभारत में जीवन की यथार्थ घटनाओं एवं परिस्थितियों का तथ्य-पूर्ण चित्रण है। पुराणों में भावना के उद्रेक के कारण यथार्थ को वह स्थान न मिल सका। प्रेमचन्द के उपन्यास हमारे आस-पास घटने वाली घटनाओं एवं आस-पास घूमने वाले

जीवन को सुन्दर बनाने के लिए साहित्यकार को आदर्श की स्थापना करनी पड़ती है और आदर्श को प्रतिष्ठित करने के लिए कल्पना का दामन थामना पड़ता है। पर काव्य को केवल कल्पना की ही उपज समझना केवल भ्रान्ति है। काव्य कल्पना में बुद्धिगम्यता और संभाव्यता आदि अति आवश्यक तत्व हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में इस संभाव्यता पर विशेष बल दिया गया है। महाकाव्य और नाटकादि के लिए ऐतिहासिक या प्रसिद्ध कथा का निर्देश भी शायद इसी कारण है। "सिद्धान्ततः काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय उचित नहीं समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे।" "दुःखोद्वेचक विषय परिस्थितियों द्रैजिक कन्ट्राडिक्शन्स की सृष्टि करे।"^१ रासो ग्रन्थों में कल्पना के साथ-साथ यथार्थ भी पर्याप्त मात्रा में है। रामायण और महाभारत में जीवन की यथार्थ घटनाओं एवं परिस्थितियों का तथ्य-पूर्ण चित्रण है। पुराणों में भावना के उद्रेक के कारण यथार्थ को वह स्थान न मिल सका। प्रेमचन्द के उपन्यास हमारे आस-पास घटने वाली घटनाओं एवं आस-पास घूमने वाले

^१ डा० ह० प्र० द्वि० पृथ्वीराज रासो की भूमिका।

चरित्रों का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। आधुनिक काल में साहित्यकार का भुकाव इतिहास के इस आधार तत्व यथार्थ—की ओर बहुत अधिक हो गया है। सभ्यता और संस्कृति के अनुक्रमिक विकास ने मनुष्य के आदिम भावों को ठंस पहुँचा, उसे कल्पना की उच्च परिधि से उतार शनैः शनैः यथार्थता की कठोर और इसीलिए नीरस, आधिभौतिक परिधि में ला खड़ा किया है। उसने उसे अपने अन्तः से निकालकर अपने उपकरणों के मध्य में ला पटका है। अब वह कल्पना के तन्तुओं में न उलझ कर स्थूल जगत की मूर्तियों को गढ़ता है। कल्पना से जन्मे देवी-देवताओं को न पूज यथार्थता में उभरे हुए कंचन की कीर्ति गाता है। देवी देवताओं द्वारा समर्थ किये धर्म की वन्दना न कर कंचन को सम्पन्न और सुरक्षित रखने वाले राजनीतिक नियमों के गुण गाता है। आत्मा के प्रवाह-स्वरूप आनन्द को छोड़कर भौतिक जगत के पोषक तथा विश्लेषक विज्ञान की चर्चा करता है।

इसी यथार्थता के परिणाम-स्वरूप आज का साहित्यकार जीवन के कुत्सित, घृणित एवं बीभत्स चित्रों का यथातथ्य चित्रण करने में अपना आदर्श समझने लगा है। जो साहित्य का नहीं निश्चय ही इतिहास का क्षेत्र है। इस विकारमुक्त यथार्थवादिता के विषय में महादेवीजी ने कहा था—‘संसार का सबसे दण्डनीय व्यक्ति वह है जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला क्योंकि इस चित्र ने मनुष्य की सारी बर्बरता को चुन-चुन कर ऐसे व्यौरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने-कोने में नरक गढ़ा जाने लगा।’^१ इसका यह अर्थ नहीं कि वे साहित्य में यथार्थ के विरोधी हैं। परन्तु उनके मत में साहित्यिक यथार्थ और ऐतिहासिक यथार्थ में अन्तर तो है ही। उनके शब्दों में यदि ‘यथार्थ को केवल इतिवृत्त कर्म भाव लिया जावे तो भी व्यक्तिगत भाव भूमि पर अपनी स्थिति रखकर ही वह काव्य के अनुरूप संवेदनशील हो सकता है। इस भाव भूमि से निर्वासित इतिवृत्त का सबसे उप-

^१ दीपशिखा—चिन्तन के कुछ क्षण।

युक्त स्थान इतिहास है।’^१ इसी सम्बन्ध में इस युग (यथार्थवादी युग) के प्रख्यात विद्वान आचार्य हजारी प्रसादजी द्विवेदी के विचार उल्लेखनीय हैं। हाल ही में एक भेंट^२ के सिलसिले में उन्होंने कहा—‘जीवन में ही बिखराव आ गया है तो साहित्य में क्यों न होगा। पर अन्ततोगत्वा सब कुछ पकड़ से छूट ही जाय तो साहित्य का प्रयोजन ही क्या रहेगा?—माना कि आज बड़ी परेशानी है, भुखमरी है, बेरोजगारी है—‘पर लोग मर रहे हैं’ ऐसा कहने-चिल्लाने से क्या लाभ होने वाला है। यह सब कैसे खतम हो, आखिर उसके लिए भी तो कुछ करो, कुछ बताओ, केवल चिल्लाना भर ही तो साहित्यकार का दायित्व नहीं।’ अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—‘साहित्य अंधेरे की चीख नहीं बन सकता, कभी नहीं बना है।’

स्पष्ट है साहित्य का दायित्व इतिहास से बहुत अधिक है और वह इतिहास को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर सकता। तो क्या साहित्य और इतिहास दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं? नहीं, वास्तविकता यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। साहित्य का अस्तित्व इतिहास के बिना असम्भव-सा है। आज कई विद्वान सोचते हैं कि अतिशय भावुकता, चमत्कार एवं आदर्श के कारण साहित्य में सत्य की हत्या हो जाती है। पर वास्तव में ऐसा है नहीं। कामायनी के रचनाकार के शब्दों में ‘आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसमें तिथि-क्रम-मात्र से सन्तुष्ट न होकर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है आत्मा की अनुभूति। यहीं पर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और वर्णिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। परन्तु सूक्ष्मानुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। जिसके द्वारा युग के पुरुषों की तथा पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति

^१ दीपशिखा—चिन्तन के कुछ क्षण।

^२ एक जलती शाम द्विवेदीजी के साथ—शिवप्रसाद-सिंह, वर्षयुग २३ अक्टूबर, १९६६।

होती रही है।^१ पर इतिहास में यह तत्व (सत्य) स्पष्ट एवं स्वच्छ रूप में उपस्थित होता है।

साहित्य संस्कृति का प्रतिबिम्ब है—“संस्कृति निरन्तर प्रवाहित होने वाला जीवन-क्रम है।”^२ और इतिहास इस जीवन-क्रम के उतार-चढ़ाव, ह्रास-विकास व उसके कारणों का लेखा-जोखा है—यथा-तथ्य तथा यथार्थ वर्णन है। इतिहास इस विकास या ह्रास का कारण बाह्य जीवन-समाज, धर्म, राजनीति, आर्थिक दशा, नैतिक मान्यता आदि के द्वारा खोजता है पर साहित्य इनके साथ-साथ मानव-दृश्य में भी झँकता है। मानव-वृत्ति चूँकि सार्वकालिक, सार्व-भौमिक तथा सार्वजनिक है इसलिए साहित्य का सत्य एवं निर्णय देशकालावर्त की सीमा से प्रभावित होता है। पर बाहरी जीवन की अस्थिरता एवं परिवर्तनशीलता के कारण इतिहास का सत्य एवं निर्णय एक विशेष स्थान और काल में सीमित रहता है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किसी विशेष व्यक्ति ने क्या किया और क्यों किया यह इतिहास बताता है, पर उसे क्या करना चाहिए, यह साहित्य में ही हो पाता है।

जैसे तुलसीदास की इस पंक्ति का अर्थ—“माँग के खाइलो सोइवो मसीत को”—बिना उनके जीवन-सन्दर्भ और ऐतिहासिक सन्दर्भ को जाने ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकता। ठीक इसी प्रकार के स्थल अन्य रचनाओं में भी होते हैं, जिनका मूल्य बिना सन्दर्भ रूप में समझे स्पष्ट नहीं हो पाता। प्रत्येक देश-काल में ऐतिहासिक सीमाओं और विशेषताओं के नाते भाव-बोध के विभिन्न रूप विकसित होते हैं। इस विकसित भाव-बोध के स्तरों को ऐतिहासिक सन्दर्भ के बिना समझने में कठिनाई पड़ती है। भूषण के कई कवित्त बिना ऐतिहासिक सन्दर्भ के वह भावबोध नहीं स्पष्ट कर पाते जो कि उन कवित्तों को जानने के लिए नितान्त आवश्यक है। भारत-भारती जैसी रचना साहित्यिक स्तर से

^१ कामायनी-आमुख।

^२ डा० ओमप्रकाश, व्याख्यान।

महत्वपूर्ण न मानते हुए भी ऐतिहासिक भाव-बोध की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि उस ग्रन्थ को समझने के लिए उन सन्दर्भों को जानना आवश्यक है, जिनमें उसे लिखने की प्रेरणा कवि को मिली। कामायनी और कुरुक्षेत्र का मूलाधार इतिहास होने पर भी इनके रचनाकाल की जानकारी अर्थ को अधिक स्पष्ट करती है। दूसरे शब्दों में हम रचनाओं में तत्कालीन ऐतिहासिक तत्व पा सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इतिहास के बिना न तो साहित्य की आधार-शिला टूट हो सकती है और न ही मूल्यांकन की सही दिशा ही मिल सकती है।

सार रूप में, इतिहास स्थूल कारणों एवं भौतिक घटनाओं को व्यक्ति के समक्ष ले आता है और व्यक्ति साहित्यकार—मानव के अन्तः में पँठकर, सूक्ष्म सत्यों और चिरन्तन प्रवृत्तियों को काव्य में प्रस्तुत कर देता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ इतिहास की सीमा रेखा समाप्त होती है, वहाँ से साहित्य की सीमा आरम्भ होती है। पर यह सीमा रेखा दोनों को अलग नहीं करती, मिलाती है। कारण, साहित्य की प्रत्येक रचना इतिहास के युग विशेष में होने वाली परिस्थिति विशेष में जीने वाले व्यक्ति-विशेष के आत्मीय अनुभावों का रागात्मक प्रकाशन है। फलतः उसमें व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व का प्रतिफलन होना भी स्वाभाविक है। इतिहास एक अनन्त प्रक्रिया है और इसमें कवि और परिस्थितियाँ दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं जिससे इतिहास की धारा पर भी प्रभाव पड़ता है। इतिहासकार भी अपने व्यक्तित्व का हनन स्वभावतः नहीं कर सकता। वह भी एक ही घटना को गदर या स्वतन्त्रता संग्राम कह सकता है। यहीं पर दोनों का सामंजस्य होता है और इतिहास साहित्य का संग्राम होता है। दिल्ली के एक वजीर के शेर ने इतिहास की धारा को ही बदल दिया।^१ राजस्थान के एक चारण के एक दोहे ने मेवाड़ के इतिहास की दूटती हुई गौरवमयी कड़ी को विच्छिन्न होने से बचा

^१ कसे न माँद कि दीगर न तेरो नाज कुशी।

मगर कि जिन्दा कुनी खलक व बाज कुशी॥

लिया ।^१ शेक्सपीयर के नाटक हेमलेट और किंग-लीडर की रचना कैथोलिक लीग के प्रभाव को हटा कर जेम्स प्रथम का पक्ष दृढ़ करने के लिए हुई थी । दी टेम्पेस्ट उपनिवेश सम्बन्धी योरुप की नीति का समर्थन था । दी लास्ट लीडर में ब्राउनिंग ने तत्कालीन राजनीति पर प्रकाश डाला । मध्ययुग में भारत के रंगमंच के ह्रास का कारण भी यही राजनीति थी । ऐसे और भी बहुत से उदाहरण हमारे आस-पास बिखरे पड़े हैं ।

इतिहास तथा साहित्य में जैसा कि हम देख आए हैं, बहुत से स्थानों पर मतभेद है, परन्तु फिर भी हम उन्हें अलग नहीं कर सकते । आज का साहित्यकार अधिक स्वतन्त्र है, इसीलिए उसका कार्य-क्षेत्र एवं प्रभाव क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है । उस पर अधिक उत्तरदायित्व आ गया है । उसे निभाने में उसे किसी दबाव या व्यक्तित्व के हनन का भय नहीं । राजनीति

^१ दिल्ली दरबार १९११, मेवाड़ क राणा की अनु-पस्थिति ।

में, इतिहास में भी साहित्यकार उतना ही योग दे सकता है जितना कि राजनीतिज्ञ । द्विवेदीजी के शब्दों में—राजनीतिक और साहित्यकार को एक दूसरे का विरोधी समझने की धारणा पुरानी है । आज की सही राजनीति साहित्य को अलग करके नहीं चलती । लोकतन्त्रों की यही विशेषता है । एक ही मूलभूत विचारधारा साहित्य और राजनीति में अपने-अपने ढंग से काम करती है ।^१ गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, विश्वयुद्ध आदि राजनीतिक विषय आज साहित्य के द्वारा ही पोषित एवं प्रसारित हो रहे हैं । साहित्य की कल्याणमयी भावधारा राजनीति के कलुषित स्वार्थों को धो दे, तभी हमारा कल्याण है और तब ही हमारा कल का इतिहास ऐसा बनेगा जिस पर भावी पीढ़ी गौरव कर सके ।

—३३२६, आर्यपुरा सब्जीमण्डी, दिल्ली-७ ।

^१ एक जलती शाम द्विवेदीजी के साथ—शिवप्रसादसिंह, धर्मयुग, २३ अक्टूबर, १९६६ ।

(पृष्ठ २४२ का शेषांश)

‘सूरसागर’ का एक पद संस्कृत में अनुवाद करके सुनाया तो वे रो पड़े थे । वेदान्ती को हृदय कहाँ है ? उनमें तो बुद्धि की प्रधानता है । ऐसा प्रभावशाली है सूर का पद । महाकवि सूर की गोपियाँ नन्ददास की गोपियों की तरह शास्त्रार्थ नहीं करतीं । वे तो अपनी विवशता प्रकट करती हैं—

“उर में माखन चोर गड़े ।

अब कैसेहु निकसत नहि ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ।”

इन पंक्तियों में गोपियों की विवशता के साथ ही साथ चतुरता एवं वाग्वेदग्य भी देखते ही बनता है । सूरदासजी में तन्मयी भावना ही सहृदयता है । इनकी कविता अत्यन्त प्रभावशालिनी है बहुत थोड़े कवि हैं जो इनकी समकक्षता में रखे जा सकते हैं । अन्य कवियों में यह विशेषता नहीं है जो इनकी समता कर सकते हैं ? इनमें सहृदयता की ही प्रधानता है ।

सूरदासजी •अपने विषय के विशेषज्ञ हैं । जिस

विधा पर अपने लेखनी चलाते हैं तो वे दूसरों के लिए कुछ छोड़ते ही नहीं हैं । वे कवियों में सम्राट हैं । वात्सल्य और शृङ्गार के तो वे आचार्य ही हैं । इस क्षेत्र में उनका कोई सानी नहीं है । वात्सल्य में उनकी उपमा समस्त विश्व-काव्य में भी नहीं मिल सकती । नवीनता और उद्भावना शक्ति उनके काव्य की मौलिक विशेषताएँ हैं । उनके सहृदय सरस, सरल, सुन्दर, सुहावन, भावपूर्ण, मधुर, ललित एवं मनोहर मुक्तक काव्य हिन्दी में तो क्या, विश्व की सम्पूर्ण भाषा में भी नहीं मिल सकता । प्रबन्ध की दृष्टि से तुलसी भी मूर्द्धन्य कवि हैं । जब तक सृष्टि है और रहेगी, तब तक दोनों कवि सूर्य और चन्द्र के सदृश विश्व-जाति को अपने अपार प्रकाश से प्रकाशित करते रहेंगे ।

—द्वारा मिथिलेशकुमार (तारबाबू)
मसीदी पोस्ट आफिस, पटना ।

‘सूर सूर तुलसी शशि’

● नरेश शर्मा

कवि-कुल-तिलक भक्त शिरोमणि सूरदास और कवि चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी हिन्दी साहित्याकाश को देदीप्यमान करने वाले सचमुच में दिनमान और सुधांशु हैं। ‘को बड़ छोट कहत अपराधु।’ दोनों में कौन बड़ा है, कौन छोटा है यह निर्णय करना कोई सरल काम नहीं है। इसका निर्णय करना आसमान का तारा तोड़ लाना है। प्राचीन से अर्वाचीन तक के सुधी आलोचकों एवं विद्वानों में इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा मूर्द्धन्य आलोचक एक दूसरे को वरेण्य सावित करते हैं। हर कोई को देखने की अपनी दृष्टि होती है, लेकिन आज तक कोई उचित निर्णय पर नहीं पहुँच सका है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में बड़े और बेजोड़ हैं। हर एक का क्षेत्र अलग-अलग है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने लिखा है—‘तुलसी का क्षेत्र सूर की अपक्षा भिन्न है। व्यवहार दशाग्रों की अधिकता तुलसी में तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के काव्य में प्राप्त होती है, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। सूरदास के सम्बन्ध में यह दोहा अनुचित नहीं है—

‘सूर सूर तुलसी ससी।’

इसी सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं ने लिखा है—‘हम लोगों का मत यह है कि हिन्दी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उन्हीं के पीछे सूर का नम्बर आता है। महात्मा सूरदास हिन्दी के वाल्मीकि हैं, वाल्मीकि के समान हिन्दी के प्राचीन सत्कवि हैं...।’

सूरदास तथा तुलसीदास पर सबसे अधिक पांडित्यपूर्ण विवेचन हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध आलो-

चक प्रवर आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्लजी ने किया है। उनका विचार यह है—

१—तुलसी का ब्रजभाषा और अवधी भाषा दोनों पर समान अधिकार था और उन्होंने जितनी शैलियों की काव्य रचना प्रचलित थीं, उन सब पर उत्कृष्ट रचना की है। यह बात सूर में नहीं है। ‘सूरदास’ की पद्धति पर वैसी मनोहारिणी और सरस रचना ‘गीतावली’ में विद्यमान है। पर ‘रामचरित-मानस’ और ‘कवितावली’ की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है।

२—मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशाएँ, जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई हैं उतनी सूर ने नहीं।

३—तुलसी ने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे आदर्श स्थापित किये हैं वैसे सूर ने नहीं।

४—तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है, सूर की एकमुखी।

५—तुलसी में लोक-संग्रह तथा समन्वय का भाव विद्यमान है, सूर का ध्यान इस ओर गया ही नहीं। इस प्रकार शुक्लजी ने तुलसी की मूर्द्धन्य स्थान दिया है।

सूर का क्षेत्र सीमित है, किन्तु तुलसी ने सम्पूर्ण मानव-जीवन और विभिन्न भावों का निरूपण किया है। सूर का क्षेत्र परिमित है, लेकिन उसमें गहराई है, विस्तार नहीं है। एक विषय की विभिन्न प्रकार से उद्भावना शक्ति द्वारा जिस कुशलता के साथ सूर ने वर्णन किया है वह तुलसी में दुर्लभ है। तुलसी सभी विषयों पर लिख सकते हैं, लेकिन एक पर नहीं।

कलात्मक दृष्टि से तुलना—सूर ने पदों में लिखा है, लेकिन तुलसी का अधिकार सभी काव्य रूपों पर है। सूर ने केवल मुक्तक काव्य लिखा है। तुलसी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों। 'गीतावली' में गीत हैं और 'विनयपत्रिका' में पद हैं। ब्रजभाषा पर केवल सूर का अधिकार है, लेकिन तुलसी का अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर।

काव्य-शैलियों की दृष्टि से सूर में केवल पद-शैली का प्रयोग है, लेकिन तुलसी में पूर्ववर्ती सभी शैलियों का प्रयोग है—कवित्त, पद, सर्वैया, दोहा, चौपाई आदि शैलियों का तुलसी ने प्रयोग किया है।

तुलसी ने प्रायः सभी अलंकारों का प्रयोग किया है, लेकिन सूर के प्रिय अलंकार सांगरूपक और उपमा हैं।

सूर को कुछ आलोचकों ने श्रेष्ठ इसलिए माना है कि काव्य का लक्ष्य आनन्द है। वह सूर में है, लेकिन तुलसी में नहीं है। तुलसी के काव्य में उपदेशात्मकता है, लेकिन सूर में नहीं। सूर के काव्य में आनन्द है, लेकिन तुलसी लोकमंगल की भावना को मानते हैं। काव्य में उपदेशात्मकता ठीक नहीं है।

'कीरति भनति भूति भल सोई।

सूरसरि सम सब कहँ हित होई॥

सूर के सामने गृहस्थी आदि का प्रश्न नहीं था। सूर का प्रधान काम था भगवत् भजन, गीत लिखना। यही कारण है कि उनकी रचना सर्वश्रेष्ठ है। कवि उत्पन्न होते हैं, लेकिन बनाये नहीं जाते। उसकी परिस्थितियाँ भी होती हैं। तुलसी के समक्ष गृहस्थी आदि का भ्रमेला था।

हमारी इन्द्रियों में सबसे अधिक नेत्र से हमारी शक्ति क्षय होती है। कान, नाक से उतनी नहीं, लेकिन आँख को क्या करें? इसके ऊपर कोई अधिकार नहीं है। सूरदास के पास आँखें ही नहीं थीं, एतदर्थ शक्ति कहाँ से क्षय होती? अब इनकी शक्ति बढ़ गई। यदि उन्हें बाहरी आँखें नहीं थीं तो अन्तरात्मा की आँखें प्राप्त थीं। भ्रों भी देखा जाता है कि सूर लोग गायक अवश्य होते हैं। उनकी आवाज

बड़ी मधुर और मीठी होती है।

जब द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की परीक्षा ली तो कुछ भिन्न जवाब दिये, लेकिन अर्जुन ने कहा कि मुझे केवल पक्षी की आँखें दिखाई दे रही हैं। उसी तरह सूर को एक ही चीज दिखाई दे रही है और वह है ब्रह्म का शृंगार और वात्सल्य। फलतः जो गहराई, तल्लीनता और मधुरता उनकी कविता में है वह तुलसी में नहीं। इसीलिए सूर की रचना हिन्दी-साहित्य में सर्वोपरि मानी जाती है। सूरदास वात्सल्य रस के सम्राट हैं। एतदर्थ वे मूलतः वात्सल्य और शृंगार के कवि हैं। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में—'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे भाँक आये। उक्त दोनों रसों के प्रवर्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी-साहित्य में शृंगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।

“जसोदा हरि पालने भुलावै।

मलहरावै, दुलरावै, हलरावै जोइ सोइ कछु गावै॥”

× × ×

छाँड़ो मेरे ललित लालन लरिकाई,
ऐहँ सत देखवार कालि तेरे बवै व्याह की बात चलाई।
डरिहँ सासु-ससुर चोरी सुनि, हँसिहै नई दुलहिआ आई।’

—तुलसीदास

इन उद्धरणों से बिल्कुल स्पष्ट है कि सूर तुलसी से बहुत आगे थे। वात्सल्य रस के चित्रण में सूर की तुलसी ही क्या विश्व का कोई भी कवि समता नहीं कर सकता। सूर के बाल-वर्णन में जो मधुरता, और स्वाभाविकता है वह तुलसी के वर्णन में नहीं है। यथा—

“मैया मोरी मैं नहि माखन खायो।

× × ×

सूर स्याम तब बिहसि यसोदा लै उर कंठ लगायो॥

इसमें जो माधुर्य और स्वाभाविकता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। रामकुमार वर्मा के शब्दों में—“सूरदास की कविता में महत्व की एक बात और है। उसमें हम विश्वव्यापी राग सुनते हैं। वह राग मनुष्य-हृदय का सूक्ष्म उद्गार है। उसी राग में मानव-जाति की सभी वृत्तियाँ अन्तर्निहित हैं।” कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी कविता में मनुष्य के सुख-दुख का तार सदैव हिला करता है। उनकी कविता मनुष्य-जाति के स्वरो में हँसती है और उसी के स्वरो में रोती है। बालक कृष्ण के शैशव में, कृष्ण के मचलने में, मां यशोदा के दुलार में हम विश्व-व्यापी माता-पुत्र-प्रेम देखते हैं—

“मैया मोहि दाऊ बहुत खिभायौ। —सूरदास
इन्हीं विश्वव्यापी वृत्तियों के कारण सूर का काव्य विश्व काव्य की श्रेणी में आ सकता है। प्रेम का जितना स्वाभाविक एवं मधुर विकास सूर ने दर्शाया है वैसा तुलसी ने नहीं। सूर ने प्रेम की सभी मनोदशाओं का चित्रण किया है। सूर ने प्रेम का स्वच्छन्द वर्णन किया है। लेकिन तुलसी का शृंगार मर्यादित है।

राधा कृष्ण का प्रेम—

“खेलन हरि निकसे ब्रज होरी।

गए श्याम रवि तनयातट अंग लसित

चन्दन की खोरी ॥

ओचक ही देखी तहँ राधा नयन

विशाल भाल दिये रोरी ॥”

सीता राम का प्रेम—

“अधिक सनेह दई भई गोरी।

शरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥

लोचन मग रामहि उर आनी।

दीने पलक कपाट सयानी ॥

जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी।

कहि न सकहि कछु मन सकुचानी ॥”

कविकुल तिलक भक्त शिरोमणि तुलसीदास की सीता समझदार हैं और संकोचशीला हैं। भक्त चूड़ामणि सूरदास की राधा का प्रेम लरिकाई का प्रेम है जिसमें एक दूसरे को स्वाभाविक रूप से हृदय समर्पित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयोग शृंगार की दृष्टि से भी सूर ही आगे हैं। उनमें जो सहज स्वाभाविकता और रमणीयता है वह तुलसी में नहीं। तुलसी में मर्यादा ही सब कुछ है और सूर में हृदय ही सब कुछ है।

संयोग ही नहीं, प्रत्युत विप्रलम्भ शृंगार की दृष्टि से भी सूर का स्थान तुलसी से आगे ही है। तुलसी के विवेचन में शिष्टाचार एवं मर्यादा का अंश अधिक मात्रा में है। और सूर का वर्णन स्वच्छन्द है तथा उनका हृदय निर्द्वन्द्व है।

कहीं-कहीं तो दोनों की रचनाओं में अद्भुत साम्य है। तुलसी सूर से प्रभावित हैं।

“कोटि मनोज लजावन हारे।

सुमुखि कहहु को अहहि तुम्हारे ॥

सुनि सनेहमय मंजुल बानी।

सकुच सीय मन महँ मुसकानी ॥

तिनहि विलोक विलोकत धरनी।

दुहै संकोच सकुचति वरवरनी ॥

सकुचि सप्रेम बाल मृगनेनी।

बोली मधुर वचन पिक बेनी ॥

सहज सुभाव अहँ तनु गोरे।

नाम लखन लघु देवर मोरे ॥

बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी।

प्रिय तन चितँ भौंह करि बाँकी ॥

खंजन मंजु तिरीछे नैननि।

निजपति कहेहि तिनहि सिय सैननि ॥”

यही प्रसंग “कवितावली” में इस प्रकार है—

“पूछति ग्रामवधू सियु सौं कही साँवरे से सखि !

रावरे को है ?

×

×

• ✕

¹ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—

सुनि सुन्दर बानी सुधारस सानी, सयानि हैं
जानकि जानि भली ॥

तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हें समझाइ कछु
मुसकाइ चली ॥

सूर-काव्य में यही प्रसंग इस प्रकार मिलता है—
“कहि धौ सखी ? बटोही को हैं ?

अदभुत बधू लिए संग डोलत, देखत त्रिभुवन मोहै ।
यहि में को धनि पिया तुम्हारे, पुरतिय पूछहि घाई ।
राजिव नैन मन की मूरति, सैननि दियो बताई ॥”

सूर-काव्य का और भी स्पष्ट प्रभाव तुलसी की
‘गीतावली’ पर दीखता है—

“जसोदा हरि पालने भुलावै ।

हलरावै दुलरावै मल्हरावै, जोइ सोइ कछु गावै ॥”

—सूरदास

पालने रघुपतिहि भुलावै ।

लै-लै नाम सप्रेम सरल स्वर कोसल्या कल-
कीरति गावै ॥ —तुलसीदास

इस प्रकार सूर-तुलसी में कई समानता भी हैं ।

गीत में स्वतः उद्भूत उक्तियाँ अपने आप आ जाती हैं और में सोचना पड़ता है । इसलिए इसमें विशेषता नहीं आती । गीत में एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें वाणी का प्रवाह है । वाणी स्वयं ही गीत बन जाती है । गीत में प्रयत्न नहीं रहता । सूरदास गीत के प्रवाह में स्वयं बह जाते हैं । गीत स्वतः उद्भूत है, उसमें आयास नहीं करना पड़ता है । अन्य में आयास करना पड़ता है । यह विशेषता उत्पन्न हो जाने के कारण उनकी रचना सर्वोपरि है ।

सूर की आलोचना केवल श्रीकृष्ण और राधा के सम्बन्ध में है । भक्ति की रचना में केवल भगवान और उनकी शक्ति के बारे में सोचना पड़ता है । तुलसी भक्त थे । उन्होंने राम-सीता को सोचा और तो प्रवाह हैं । और के बारे में भी सोचे हैं । लेकिन सूर ने कृष्ण के शृंगार का वर्णन किया और राधा और गोपियों का । बहुत ईश्वर लक्ष्य में इनको सोचना है । तुलसी को चित्रकूट, अयोध्या, लंकादि का वर्णन करना है । सूर केवल श्रीकृष्ण और राधा में ही

केन्द्रित हैं । वृन्दावन, गोवर्द्धन और यमुना के केवल नाम आये हैं । प्रकृति का वर्णन इन्होंने बहुत कम किया है । सूर ने केवल राधा और कृष्ण को भाड़ा है । इसलिए सूर चमक गए । सूर-सूर का अर्थ सूर्य है । सूर्य के कारण ही प्रकाश है । सूर ने इतने ढंग और प्रकार से कह दिया है कि वह दूसरा क्या कह सकता है ? किसी ने यमक के लोभ से नहीं कहा है । बहुत सोच-समझ कर कहा है । सबसे अधिक प्रकाश, चर्मोत्कर्ष, काव्योत्कर्ष सूर में है । शुक्लजी आलोचक थे, इसलिए तुलसी को बड़ा माना है । उन्होंने विविधता और लोकमंगल को मानकर चला है, लेकिन विचार करने का यही लक्ष्य हो सकता है । दूसरा भी आधार हो सकता है ? कुम्हड़े की बतिया तो हैं नहीं कि अंगुली दिखा दी और समाप्त हो गये । सूर हीरा हैं । उनमें अपना प्रकाश है । स्वतः प्रकाश है । सूर्य में प्रकाश है । चन्द्रमा में प्रकाश नहीं है । सूर्य में अपना प्रकाश है, तीव्र प्रकाश है । इसलिए सूर्य कहा गया है । शुक्लजी ने इसे माना है कि सूर ने जिसको पकड़ा उसका कोना-कोना भाँक आये हैं, लेकिन तुलसी ने ऐसा नहीं किया है । सूर की विशेषता यह है कि जिस पर उन्होंने लिखा उसकी बराबरी करने वाला हिन्दी साहित्य क्या विश्व साहित्य में नहीं है । सूरदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

सूर की रचना की विशेषता यह है कि उसमें हृदय की प्रधानता है बुद्धि का योग कम है । वे हमारे हृदय को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं, क्योंकि उनमें सहृदयता अधिक है ।

सूर में जितनी सहृदयता है उतनी वाग्वैदग्ध्यता नहीं है । सहृदयता के साथ ही वाग्वैदग्ध्यता भी आ गई है । हृदय के साथ लिपटी अपने आप आ गई है । बुद्धि नहीं लगानी पड़ी है । उनकी रचना पढ़ने पर पाठक व्याकुल हो जाता है और बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । एक बार बनारस में श्रद्धेय आचार्य पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्रजी ने दक्षिण के एक वेदान्ती को

(शेष पृष्ठ २३८ पर देखिए)

निराला के भक्ति-गीत

• डा० जगदीश्वरप्रसाद

साधारणतः हम निराला को ऐसे व्यक्ति के रूप में देखते हैं जो जीवन-सङ्घर्षों से जीवन भर उलझता, क्षुब्ध होता तथा आक्रोश प्रकट करता रहा। तात्पर्य यह है कि हम उन्हें वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति क्षुब्ध व्यक्ति के ही रूप में देखते हैं। यह उनका भौतिक जीवन में उलझा रूप है। किन्तु यह उनके व्यक्तित्व का एकांगी पक्ष ही है। उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा अंश भी है जो इससे भी उदात्त एवं गरिमामय है। यह है उनका आध्यात्मिक पक्ष जिसके उचित परिज्ञान के बिना उनका मूल्यांकन करना अनुचित होगा। अपने परिवेश की समस्याओं से उलझते और कभी न टूटते हुए निराला के अतिरिक्त एक साधक और भक्त निराला भी है जहाँ से क्षुब्ध निराला अदम्य शक्ति ग्रहण करता है, अन्विकारमय मार्ग में आशा की किरणें देखता है। और परम शान्ति प्राप्त करता है। ईश्वर के प्रति उनकी आस्था किसी भी उच्छकोटि के भक्त से कम नहीं, उनकी भक्ति-भावना की तुलना किसी भी भक्ति-कालीन कवि से की जा सकती है।

उनका यह रूप साधारणतः रहस्यमय बना हुआ है। किन्तु यह स्पष्ट है कि उनका जीवन इसी जीवन के सङ्घर्षों में समाप्त नहीं था, पंक के कमल की भाँति उससे ऊपर उठकर हँसता हुआ भी कुछ था। परमात्मा के चरणों में सब कुछ अर्पण कर देने की भावना के कारण जीवन के समस्त घात-प्रतिघातों का विशेष प्रभाव उन पर नहीं पड़ पाया।

उन्होंने जीवन को अपनी समग्रताओं में भेला भी, भोगा भी और उसे अपने स्वप्नों के अनुरूप ढालना

भी चाहा। जीवन के प्रति यह समग्र दृष्टि ही उनके काव्य की सर्व प्रमुख विशेषता है। इसीलिए उनके काव्य में वर्ण्य विषय की जितनी विविधता पाई जाती है उतनी अन्य कवियों में बहुत कम दीख पड़ती है। उनकी रचना का एक छोर जीवन के यथार्थ की जटिल परिस्थितियों को छूता और दूसरा जीवन के सत्य के सम्बन्ध में दार्शनिक चिन्तन करता हुआ आध्यात्मिकता प्रधान बन जाता है। इन दोनों ध्रुवान्तों का मध्यवर्ती स्वर श्रृङ्गारिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय है। इस प्रकार निराला का काव्य सत्य, शिव और सुन्दर की साधना है। सत्य की यह साधना एवं अडिग विश्वास ही शक्ति का वह स्रोत है जिसके कारण जीवन समर में वे अपराजेय रहे।

निराला के इस साधक और भक्त रूप का परिचय उनकी 'अर्चना', 'आराधना' और 'गीत गुंज' में विशेष रूप से उपलब्ध होता है, किन्तु इसकी पृष्ठभूमि हमें उनके गीतिका, परिमल अथवा अनामिका के रहस्यपरक गीतों में उपलब्ध होती है। महर्षि परमहंस और विवेकानन्द के प्रभाव का प्रतिफलन इन रचनाओं में दीख पड़ता है। परिस्थितियों से प्रभावित होकर वे क्रमशः आत्मनिष्ठ होते गए हैं और प्रपत्ति को निष्कृति का मार्ग मानने लगे हैं। उन्हें यह अनुभव होने लगा है कि वासना से पीड़ित होकर यह संसार दीन बना हुआ है—

वासना समासीना जगती महती दीना।

—अर्चना

यह जगत् हिंस्र जन्तुओं से भरे हुए वन के समान माया से आक्रान्त है, सभी स्वार्थ की साधना में लीन

होकर एक दूसरे के भक्षक बन गये हैं। एक दूसरे पर अत्याचार कर रहे हैं—

जीते हैं जन जन को खाकर,
रहते कहीं मैं ठौर न पाकर,
माया का संहार करो हे।

अर्चना, गीत ७

जिन सांसारिक कटुताओं का वर्णन निराला ने किया है उनकी अनुभूति जीवन में उन्होंने स्वयं की है। उन्हें संसार से निराशा, अवसाद और दुःख ही मिला। इसकी वास्तविकता का उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन किया। अतः भक्ति की ओर उनकी उन्मुखता का प्रमुख कारण है सांसारिक यथार्थ की प्रत्यक्ष अनुभूति। पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्र के तीव्र आघातों ने उनके हृदय को आत्मचिन्तन की ओर मोड़ दिया। रामकृष्ण और विवेकानन्द के प्रत्यक्ष प्रभाव ने इसे उचित दिशा प्रदान की। उन्हें यह अनुभव होने लगा कि बिना ईश्वर की कृपा के मुक्ति संभव नहीं। धार तेज है, नाव डोल रही है, प्रबल तरंगों में वह काँप रही है, जीवन खेवनहार को इसे पार लगाना ही होगा—डोलती नाव प्रखर है धार, संभालो जीवन खेवनहार

परिमलः खेवा, पृ० ३०

समस्त विकृतियों से मन को शान्त करने के लिए ईश्वर भक्ति ही सुगम साधन है, अतः निराला पूर्ण समर्पण की मुद्रा में प्रार्थना करते हैं। तत्त्व चिन्तन की जटिलताओं में नहीं उलझकर सांसारिक विषमताओं से मुक्ति का साधन वे इसे ही बनाते हैं। भक्ति का दर्शन सम्पूर्ण समर्पण का दर्शन है। इसीलिए वे दार्शनिक विवेचन अथवा तत्त्व चिन्तन के स्थान पर ईश्वर भजन पर विशेष बल देते हैं। ईश्वर की कृपा अशरण को भी शरण देने वाली है, अतः इसका अवलम्ब ग्रहण करने वाले को अन्य किसी साधन की क्या आवश्यकता? इसीलिए कवि इस भिखारी विश्व को विश्वभरण की शरण में जाने का परामर्श देता है—भज भिखारी विश्वभरणा, सदा अशरण शरण शरणा।

—अर्चना पृ० ३

माया-मोह के बन्धन ने व्यक्ति को मिथ्या-बन्धन

में उलझा रखा है। ईश्वर भक्ति ही इन बन्धनों को काटने का सफल साधन है।

इसीलिए वे अपने मन को उद्वोधित करते हुए कहते हैं—

भजन कर हरि के चरण मन !
पार कर मायावरण मन !

—वही, गीत ७८

सांसारिक विकृतियों से मुक्त होने के लिए काम-विमुक्ति, संयमित जीवन, तन्मय भक्ति इत्यादि साधनों की चर्चा कवि ने की है। किन्तु इन सभी में से शरणागति अथवा प्रपत्ति को वे सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं। कवि को हजार मरण मरने के बाद परमात्मा की शरण मिली है—मरा हूँ हजार मरण, पाई तब चरण-शरण।

—आराधना, पृ० ६

इस दृष्टि से उनके लिए मृत्यु का भी भय नहीं रहा क्योंकि मृत्यु तो व्यक्ति का मधुर स्वर में परलोक में आह्वान है—

मधुर स्वर तुमने बुलाया
लज्जा से जो मरण आया।

—अर्चना, पृ० ८३

ऐसे स्थलों में भक्ति-भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई दिखाई देती है।

उनकी भक्ति-भावना का मूल जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य दर्शन है। दोनों की एकता के विविध रूपों की अभिव्यक्ति उनकी रहस्यपरक रचनाओं में होती है। इसलिए संसार को वे अनेक पुष्पों और रंगों से निर्मित एक हार के रूप में देखते हैं—

बहु सुमन बहु रंग निर्मित एक सुन्दर हार।
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार॥

—गीतिका, गीत २२

केवल इतना ही नहीं, व्यष्टि और समष्टि में भी वे कोई भेद नहीं मानते। माया के कारण ही यह भेद बना हुआ है। 'पंचवटी प्रसंग' में राम कहते हैं कि व्यष्टि और समष्टि में भेद नहीं है। भ्रम अथवा माया के कारण यह भेद बना हुआ है। संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं जो उस परम सत्ता से उद्भासित न हो—

निराला के भक्ति-गीत]

व्यष्टि और समष्टि में नहीं है भेद,

भेद उपजाता भ्रम—

माया जिसे कहते हैं ।

.....व्यष्टि और समष्टि में वही एक रूप

चिद्वहन आनन्दकन्द ।

—परिमल : पंचवटी प्रसंग, पृ० २५०

व्यष्टि और समष्टि की एकरूपता के अतिरिक्त वे वहाँ तक पहुँचने के लिए भक्ति, ज्ञान और योग की एकरूपता का भी प्रतिपादन करते हैं—

भक्तियोग — कर्म—ज्ञान एक ही हैं

यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं ।

—वही, पृ० २५४

फिर भी प्रेममार्ग को श्रेष्ठ मानने वाले भक्ति मार्ग का अवलम्ब ग्रहण करते हैं । यह प्रेम सेवा से आता है । सेवा से चित्त शुद्ध होता है और उसी में प्रेम का अंकुर उगता है । (वही, पृ० २५४)

व्यष्टि और समष्टि के इस ऐक्य दर्शन के कारण निराला की भक्ति को एक व्यापक आयाम मिला है । वे व्यक्तिगत मुक्ति के लिए नहीं, सामाजिक मुक्ति के लिए भी चिंतित हैं । व्यष्टि और समष्टि में एकता मानने के कारण ही कवि रंग रंग से सागर भरने की, निष्प्राणों को रसमय करने की तथा दुःखमय पृथ्वी की दुरित से त्राण दिलाने की कामना करता है ।^१ जब ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है—जीवात्मा उसी का एक अज्ञानोपहित अंश है—तब बाह्य जगत में देश, जाति अथवा वर्गगत विषमताओं का मूल्य ही क्या हो सकता है ? इसीलिए वेदान्त में जीव-ब्रह्म की एकता के अतिरिक्त जीवमात्र की एकता का भी

^१ रंग रंग से यह सागर भर दो,

निष्प्राणों को रसमय कर दो ।

—आराधना, गीत ८

× × ×
सार्थक करो प्राण !

जननि, दुख अवनि को दुरित से दो त्राण ।

गीतिका, गीत ५३

प्रतिपादन किया गया है । यह वेदान्त की मानवता-दृष्टि है । निराला क्रमशः इसी मानवतावाद की ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं । उनके काव्य में जो क्षोभ अथवा आक्रोश के स्वर की प्रधानता है उसका कारण है वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में दलित मानवता के प्रति उपेक्षा भाव । इस दृष्टि से उनके काव्य के दो स्तर निर्धारित किये जा सकते हैं । प्रथम का सम्बन्ध सांसारिक घात-प्रतिघातों और उनसे उद्भूत क्रिया-प्रतिक्रियाओं से है । व्यक्तिगत रूप में उन्हें उपेक्षा और तिरस्कार ही मिला । जीवन के प्रति उनकी जो धारणा थी उसे वे साकार नहीं कर सके । सामाजिक विषमताओं की पीड़ा से वे आक्रान्त रहे । इन परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप उनके अद्वैतवाद के प्रति आस्था की परिणति भक्तिपरक समर्पण भावना में होती है । यह उनके काव्य का दूसरा स्तर है । एक साधक के रूप में सभी प्रकार की विषमताओं को दूर करने का उपाय वे भक्ति और ईश्वर भजन को मानने लगते हैं ।

यहाँ कवि काम, क्रोध इत्यादि सभी विकारों तथा सामाजिक विषमताओं को दूर करने की प्रार्थना करता है । इन स्थलों में हम उन्हें पलायनवादी नहीं कह सकते क्योंकि संसार के प्रति उपेक्षा भाव उनकी रचनाओं में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता । ईश्वर का आवाहन वे समाज में सुन्दर की अवतारणा करने के लिए ही करते हैं । इनमें कहीं भी निराशा, अवसाद अथवा अनास्था के दर्शन नहीं होते । इन गीतों में हमें उस भक्त-हृदय के दर्शन होते हैं जो आत्ममुक्ति और लोकमुक्ति की दिशा में अपने निज के प्रयत्नों से निराश हो ईश्वर की शरण में जाता है । ऐसे स्थलों में हम उन्हें तुलसी, कबीर जैसे भक्तों की परम्परा में रख सकते हैं । इस रूप को ध्यान में रखकर निराला को केवल प्रगतिशील अथवा अनास्थावादी कहना उनके व्यक्तित्व का केवल एकांगीण मूल्यांकन होगा ।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

जी० एब्ब० ए० कालेज, डाल्टनगंज ।

मनोवैज्ञानिक कथाकार जैनेन्द्र

● कृष्ण 'कमलेश'

जैनेन्द्र हिन्दी-साहित्य के युगान्तकारी कथाकार हैं, वे विद्रोही और क्रान्तिकारी कथाकार हैं, किन्तु उनका विद्रोह स्थूल के प्रति न होकर सूक्ष्म के प्रति है। पूर्व प्रेमचन्द और प्रेमचन्द युग में कथा-साहित्य के जो प्रतिमान निश्चित हो गये थे, उन्हें जैनेन्द्र ने आमूल परिवर्तित करने का व्यवस्थित आयास किया। प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों में उनकी टक्कर का कोई कथाकार दिखाई नहीं देता। वे घटनाओं से अधिक विश्लेषण में रुचि लेते हैं, पात्रों से अधिक व्यक्तित्व में और दृश्य क्रिया-कलापों से अधिक अदृश्य क्रिया-कलापों में।

जैनेन्द्र के जीवन के प्रारम्भिक बाईस-तेईस वर्ष 'असफलता' और 'निराशा' के वर्ष रहे। सम्भवतः ये दोनों शब्द तो उनके भाग्य ने आदि से अन्त तक सभी जगह लिख दिये हैं। स्वयं उनके अनुसार— "मैं बाईस-तेईस वर्ष का हो आया, हाथ-पैर से जवान, वैसे नादान। करने-घरने लायक कुछ भी नहीं। पढ़ा तो अधूरा और हर हुनर से अनजान। दुनिया तब तिलस्म लगती कि जिसके दरवाजे मुझ पर बन्द थे। पर जहाँ-जहाँ झरोखों से झाँकी देता दीखता कि उस दुनिया में खासी ले-दे, धूमधाम और चहल-पहल मची है। इशारे से वह मुझे बुलाती मानुम होती। पर उस रंगारंग, सैरगाह की चारदीवारी से बाहर होकर पाता कि मैं अकेला हूँ और सुनसान, सुनसान और अकेला।....ऐसी बेवसी में मैंने लिखा और लिखने ने मुझे जीता रखा।"

उनका प्रथम उपन्यास 'परख' (१९२९) प्रकाशित हुआ। आरम्भ में इसके साथ 'स्पद्धा' कहानी संयुक्त थी और उसका नाम था 'परख-स्पद्धा'। आज 'स्पद्धा'

को उनके कहानी-संग्रह में पृथक् से स्थान मिल गया है। 'परख' लम्बी कहानी है या उपन्यास, इस पर काफी विवाद चलता रहा और आज भी उसका स्वरूप निर्णीत नहीं है। एक प्रारम्भिक कृति की दुर्बलतायें इसमें विद्यमान हैं। कथाकार आदर्शों के तट पर विश्राम करता प्रतीत होता है।

अगला उपन्यास 'तपोभूमि' (१९३२) उनके और श्री ऋषभचरण जैन द्वारा सम्मिलित रूप से लिखा गया, किन्तु जैनेन्द्रजी का कहना है कि प्रस्तुत उपन्यास में उनका अंश नितान्त नगण्य है। वे उसकी गणना भी अपने साहित्य में नहीं करते। आजकल 'तपोभूमि' अनुपलब्ध है।

'सुनीता' (१९३४-३५) और उनकी प्रथम कृति 'परख' के कथानक के दृष्टिकोण में बहुत कुछ साम्य है। शैली की दृष्टि से यह उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास के कथाचक्र की सबसे भारी घटना निजंन वन में अर्द्धरात्रि के समय प्रधान पात्री सुनीता का हरिप्रसन्न के सामने निर्वसना हो जाना है। इस घटना को लेकर विभिन्न आलोचकों ने पर्याप्त आलोचना की है। इस प्रकार की घटना उनके परवर्ती उपन्यासों में भी पाई जाती है। इसे प्रकारान्तर में उनकी कुण्ठा की अभिव्यञ्जना भी कहा जा सकता है।

'त्यागपत्र' (१९३४-३७) भी उनका बहुचर्चित उपन्यास रहा है। इस उपन्यास की पात्री 'मृणाल' में भारतीय नारी के जीवन की करुणा घनीभूत हो उठी है। उसकी समस्यायें प्रत्येक नारी-मन की समस्यायें हैं। अत्यधिक नियन्त्रण ने उसे अनियन्त्रित बना दिया है। वह समाज को तोड़ना नहीं चाहती, क्योंकि

समाज टूट गया तो वह, उसका प्रमोद कहाँ रहेंगे आखिर ? प्रमोद जो उसका भतीजा और भतीजे से अधिक प्रेमी है, के लिये वह निरन्तर दहती रहती है और अन्त में स्वयं टूट जाती है। तमिल, तेलुगु, गुजराती, मराठी, बंगला, अरबी, अंग्रेजी, जर्मन आदि दशाधिक भाषाओं में प्रस्तुत उपन्यास का अनुवाद हो चुका है।

‘कल्याणी’ (१९३८-१९३९), ‘सुखदा’ (१९५२-५३), ‘विवर्त’ (१९५२), ‘व्यतीत’ (१९५३), ‘जय-वर्द्धन’ (१९५६), ‘मुक्तिबोध’ (१९६७), आदि उनके सभी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण से अधिक उनका व्यक्तित्व प्रखर हो उठा है।

‘फाँसी’ (१९२९), ‘बलिदान’ (१९३०), ‘नीलम देश की राजकन्या’ (१९३३), ‘एक रात’ (१९३४), ‘दो चिड़ियाँ’ (१९३५), ‘पाजेब’, ‘जयसन्धि’ (१९४९) शीर्षक संग्रहों में उनकी कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी लिखी हुई समस्त कहानियाँ जैनेन्द्र की कहानियों के नाम से सात भागों में छपी हैं। सामान्य रूप से उनकी कहानियों में भी प्रायः वे ही तत्त्व विद्यमान हैं जो उनके उपन्यासों में हैं।

उनके कथा-साहित्य पर गेस्टाल्ट के आचरण-वादी मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक जीवन की समस्याओं का विश्लेषण किया है और मानस-शास्त्र के आधार पर मनुष्य के भाव-जगत की संवेदनाओं का विश्लेषण बहुत ही सच्चाई के साथ किया है।

‘बिखरी कहानी’ में जैनेन्द्र की अवचेतन मनतक

की पहुँच बहुत गहरी है। फ्रायडवादियों का एक मुख्य सिद्धान्त है कि मनुष्य की बाह्य नतिकता, अतिशय बुद्धिकता, यन्त्रवत् जीवन, मर्यादापूर्ण व्यवहार आदि की स्थिति ठीक अवचेतन की विपरीत भावनाओं पर अवलम्बित रहती है। कई प्रसंगों में अवचेतन मौन रह सकता है किन्तु अवचेतन में आसक्ति और मोह के भाव अवश्य पोषित होते रहते हैं, इसी सब पृष्ठभूमि के सशक्त प्रतीक हैं बिखरी कहानी के डाक्टर सेन। उनके दाम्पत्य जीवन में रस के प्रदर्शन के होते हुए भी वहाँ रस की दृष्टि से शून्यता थी। डा० सेन चालीस वर्ष के लम्बे अन्तराल को भी नहीं भूल सके हैं। भाभी के प्रति वे तन-मन-धन से हार्दिक सहयोग भी करते हैं, किन्तु उन्हें अपनी मान्यताओं के अनुकूल न पाकर, वे और अधिक जी नहीं पाते। उनकी मृत्यु जीवन-संघर्ष में पराजय की स्वीकृति है, जिसके पीछे एक संयत जीवन का बिखराव है। स्पष्ट है कि जीवन में जो स्थूल और अव्यक्त है, उसे छोड़कर जैनेन्द्र मन के सूक्ष्म और अव्यक्त जीवन से नाता रखते हैं। मानस के अतीव मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन उनकी कहानियों की विशेषता है।

जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में उनका अपना जीवना-नुभव और भाव-चेतन्य है। उनके अन्तर्द्वन्द्वों के माध्यम से उदात्त अभिव्यक्ति का आयास है। उन्होंने मनो-विज्ञान और दर्शन जैसे दुरूह विषयों को अपने कथा-साहित्य में सरस रूपायन प्रदान किया है। हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास में वे मनोविश्लेषणात्मक परम्परा के रूप में चिरस्मरणीय हैं।

—बड़ वाली मस्जिद मार्ग,

जहांगीराबाद डाकघर के निकट, भोपाल-८

“मानव जाति ने जो सोचा, समझा और पाया है, वह पुस्तकों के जादू भरे पृष्ठों में बन्द है; उन पृष्ठों को खोलिये और संसार भर का ज्ञान प्राप्त कीजिये”

आज ही अपनी मन पसन्द की पुस्तकें मंगाएँ—

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा-२

डा० नगेन्द्र का समीक्षा-पथ

● डा० शान्तिगोपाल पुरोहित

डा० नगेन्द्र रस-सिद्धान्त के पोषक हैं। आप ने मनोविज्ञान और शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर रस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस प्रकार आप ने काव्यशास्त्र को दृढ़ भित्ति प्रदान की है। इनका कथन है कि विदेशी काव्यशास्त्र एवं मनो-विज्ञान पद्धतियों ने इनकी शास्त्रीय दृष्टि को और भी स्थिर कर दिया है। ये काव्य में रस-सिद्धान्त को अन्तिम मानते हैं, जिसके बाहर न काव्य की गति है और न सार्थकता। आप रस सिद्धान्त की ओर आ० रामचन्द्र शुक्ल के प्रभाव से मुड़े और भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने इन्हें प्रभावित कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

आपने जहाँ अंग्रेजी के शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुदित रूप प्रस्तुत किये, वहाँ संस्कृत ग्रन्थों का भी कुशल सम्पादन किया। इनमें से कई ग्रन्थों को 'हिन्दी अनु-सन्धान परिषद्' द्वारा प्रकाशित भी कराया। हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र, हिन्दी वक्रोक्ति जीवित और अग्नि-पुराण का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थयन आदि उदाहरण-स्वरूप पढ़े जा सकते हैं। इनके 'विचार और अनु-भूति', 'विचार और विवेचन' एवं 'विचार और विश्लेषण' नामक समीक्षा ग्रन्थों में सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक आलोचना का सुन्दर समन्वय हुआ है। 'काव्य के विम्ब' और 'आलोचक की आस्था' मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से मनोविश्लेषण करते हुए इनकी मान्यतायें स्पष्ट करने में सफल होते हैं। आपका 'रस-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ गम्भीर चर्चा का ग्रन्थ रहा है और 'आस्था के चरण' इनके दृष्टिकोण को स्पष्टतः प्रतिपादित करता है।

डा० नगेन्द्र की मान्यता है कि भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्य-शास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं। 'रीतिकाव्य की भूमिका' में आपने सात रसों को स्थायीभावों से सम्बन्धित घोषित किया। इन्होंने वीर के अन्तर्गत आत्म-प्रतिष्ठान परि-ग्रह को एवं कर्ण के आधीन आत्म-निवेदन और सामाजिकता को प्रतिपादित किया। इससे हमारी इस मान्यता की पुष्टि होती है कि आप मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। 'साहित्य की प्रेरणा' में इन्होंने अरस्तू, हीगेल और क्रोचे के मत उद्धृत किये हैं। अन्यत्र आप ने यह बताया कि "....विचार के क्षेत्र में भौतिक, बौद्धिक मूल्यों की अधिक विश्वसनीय तथा रोचक ढंग से स्थापना की गई और जीवन तथा साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में सहायता मिली। इस प्रकार फ्रायड की प्रगति की परम्परा को भी आगे बढ़ाया, साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा साहित्य की प्रवृत्तियों के विश्लेषण तथा व्याख्या के लिए नया मार्ग खुल गया..."^१ इन्होंने फ्रायड के समान सौन्दर्य-प्रेम को कामवृत्ति से सम्बन्धित बताया है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये काव्य का परीक्षण करने वाले प्रमुख आचार्य हैं। इन्होंने सामूहिक भाव को काव्य का मूल प्रेरणा मानने का निषेध किया है। ये शब्दों और सिद्धान्तों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करते हैं। 'अनुसन्धान की व्याख्या' इसका प्रमाण है।^२ साधारणीकरण को आप ने मानसशास्त्र के परिपार्श्व में देखा-परखा है। इनका

^१ प्रसारिका वर्ष १, अंक ३, पृ० १३।

^२ अनुसन्धान की प्रक्रिया, पृ० ४५।

कथन है कि साधारणीकरण अपनी अनुभूति का होता है। अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति इस प्रकार व्यक्त करता है कि सभी के हृदय में वैसी ही अनुभूति जाग्रत करदे तब हम पारिभाषिक शब्दावली में कह सकते हैं कि उस प्रक्रिया से साधारणीकरण हुआ है।

इन्होंने टी० एस० इलियट, आई० ए० रिचर्ड्स और डा० सेंटमबरी प्रभृति पाश्चात्य समालोचकों के बारे में अपने मत प्रस्तुत किए हैं। 'वक्रोक्ति काव्य जीवित' में 'लोमाई क्रिटिकी', 'प्रिन्सीपल्स ऑफ क्रिटिसिज्म' और अन्य कई साहित्यिक-मनोवैज्ञानिक कृतियों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार ये पाश्चात्य काव्यशास्त्र की व्याख्या-विवेचन करते हैं।

इनका अलंकारों का विवेचन भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टियों से अवलोकनीय है। इन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्रकारों के समान वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अलंकारों के मूल में माना है, किन्तु इस निष्कर्ष का कारण आधुनिक मनोविज्ञान है। ये कहते हैं कि संस्कृत-साहित्य में मूलतः अनेक 'अलंकारों' का स्वरूप सर्वथा अस्पष्ट है। साथ ही यह भी बताते हैं कि पाश्चात्य आचार्यों ने कल्पना को भी अलंकार का आधार माना है। वस्तुतः कल्पना के आश्रित तो सभी अलंकार हैं ही। इस भाँति आपने अलंकारों के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण कर यह बताया कि इनका आधार मनोवैज्ञानिक है।^१

^१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६३-६४।

अली के विवेचन में भी आपने समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने उसे संस्कृत की शास्त्रीय दृष्टि से देख कर मनोवैज्ञानिक आधार दिया है।^१ इनका कथन है कि रीति की परिभाषा 'विशिष्ट पद रचना रीति' सर्वमान्य है।

अन्त में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आई० ए० रिचर्ड्स अंग्रेजी के समर्थ समालोचक हैं वैसे ही हिन्दी में डा० नगेन्द्र हैं। इन्होंने रस, अलंकार, गुण-दोष विवेचन को मनोवैज्ञानिक आधार पर देखा-परखा है। प्रयोगात्मक समालोचना करते हुए आपने सैद्धान्तिक पक्ष की भी सांगोपांग व्याख्या की है। इनके विवेचन में मौलिक और सन्तुलित दृष्टि का विकास हुआ है। यथा—इनकी मान्यता है कि मूल रूप से स्वाभाविक विकास प्रकृति के अनुकूल ही होता है, विकृति को स्वाभाविकता नहीं कहा जा सकता।

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि व्यस्त नगर दिल्ली में रहते हुए भी आप साहित्य-साधना-संलग्न हैं। आपको शास्त्रीय भूमि पर श्रम भी सुखकर प्रतीत होता है।^२

—हिन्दी विभाग,

राजकीय कालेज, भीलवाड़ा, राजस्थान।

^१ भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ४०-५०।

^२ 'रस सम्प्रदाय'—भूमिका।

ग्राहकों से—अपनी ग्राहक संख्या के पुनर्नवीनीकरण के समय, अपना पता

बदलते समय तथा साहित्य संदेश का शुल्क भेजते समय

मनीआर्डर कूपन पर अपनी ग्राहक संख्या लिखना न भूलें।

इससे हम आपकी समस्याओं का हल शीघ्र कर सकेंगे। —प्रबन्ध सम्पादक

ग्वाल कवि का राज्याश्रित जीवन

● डा० भगवानसहाय पचोरी

मध्ययुगीन भारत में यहाँ के राजवंश, कवियों, संगीतज्ञों, कलाकारों आदि गुणीजनों का पर्याप्त सम्मान करते थे। इस युग का कोई ही राजघराना कदाचित् ऐसा बचा हो, जो इन विद्वज्जनों से अलंकृत न हो। ये इस युग की ही प्रमुख प्रवृत्ति थी, जिससे सामन्ती दरबार विनोदित होते थे।

विद्वांसः कवयः भट्टाः गायकाः परिहासकाः

इतिहास-पुराणज्ञाः सभासत्तांग संयुता।

वीरगाथा काल के भाट और चारण प्रसिद्ध हैं। भक्ति-काल में तो “सन्तन कहा सीकरी सौ काम। आवत जात पनहियाँ दूटै विसरि जाय हरिनाम।” तथा “कीन्दे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना।” जैसे सिद्धान्तों का बोलवाला रहा। पर अभक्त कवि तब भी राजदरबारों में रहे। रीति युग की तो यह अनिवार्यता ही थी कोई दरबार बिना कवि के और कोई कवि दरबार के बिना शोभित नहीं होता था। हम देखते हैं कि चिन्तामणि ने नागपुरेश मकरन्दशाह की राजसभा को अलंकृत किया, कविवर बिहारी राजा जयसिंह के दरबार के रत्न बने, राजा मंगदसिंह की विद्वत् सभा को मंडन से चमत्कृत होने का श्रेय प्राप्त हुआ, मतिराम ने बूँदी नरेश भावसिंह के दरबार को उपकृत किया, भूषण ने छत्रपति शिवाजी और छत्रसाल के यश-शौर्य का गायन किया। भिखारीदास प्रतापगढ़ नरेशों के आश्रित रहे, कविवर नेवाज, पद्माकर, देव, सोमनाथ, रसनिधि, रसानन्द, कलानिधि, सूदन, कृष्ण, भोगी-लाल, शिवराम, रामकवि, गोविन्द आदि शत-शत कवियों ने राज्याश्रयों में ही काव्य-सृजन किया। ये

सभी कवि प्रायः पर्यटन प्रवृत्ति वाले हुए और अधिकाधिक राजाओं द्वारा प्रशंसित एवं पुरस्कृत होने की आकांक्षा रखते थे। हिन्दी के लिये इस दृष्टि से मध्यकाल शुभ रहा। इन यशस्वी कवियों ने दरबारों की शीतल छाया में रहकर हिन्दी के भण्डार को अपूर्व ग्रन्थों से भरा।

ग्वाल कवि युग की इस परम्परा में कुछ कदम आगे ही निकले। देशाटन का चस्का इनको बाल्यकाल से ही पड़ गया था। अल्पायु में ही शिक्षा दीक्षा हेतु ये वृन्दावन, मथुरा, काशी और वरेली आदि स्थानों में घूमे थे। शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करके काव्य रचना में निष्णात होकर जीविकोपार्जन की खोज में यह भट्ट युवक घर से निकल पड़ा। कविता ही इनकी व्यसन और रुचि थी और यही व्यापार भी। उन दिनों मुगल सत्ता विशृङ्खलित होकर अस्तप्रायः हो चुकी थी। विदेशी सत्ता देशी राज्यों पर प्रभुत्व पा रही थी। उत्तरी भारत राजनीतिक रूप से जर्जर और अशक्त हो चला था। राजा और नवाब पारस्परिक सत्ता सङ्घर्षों में फँसे थे। एक दो स्थानों को छोड़कर सर्वत्र अशान्ति का साम्राज्य था। इसी समय देश का पश्चिमोत्तर भूभाग सुख और शान्ति में जीवन-यापन कर रहा था। यह भू भाग था पंजाब, जहाँ गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह के शिष्यों का एकच्छत्र राज्य था। पंजाब तक अभी अंग्रेजी घोड़ों की टाप श्रवणगोचर नहीं हुई थी। लाल रंग का अस्तित्व तब तक दिल्ली से आगे के नक्शे पर नहीं था। लाहौर में बुद्धि-कोशल और शूरवीरता के धनी पंजाब केसरी रणजीतसिंह की तलवार का

शासन था। उत्तर और दक्षिण उसकी सूझ-बूझ का नेतृत्व मानते थे। नाभा में जसवन्तसिंह और पटियाला में कर्मसिंह-नरेन्द्रसिंह की राजसभाएँ विद्वानों से विभूषित थीं। रोपड़ और जींद की रियासतें भी हिन्दी को प्रश्रय दे रही थीं। सिक्खों के अन्तिम दसवें गुरु गोविन्दसिंह हिन्दी के ५२ कवियों को सम्मान आश्रय देकर सिख राजाओं के समक्ष एक आदर्श रख गये थे। परम्परानुसार पंजाब के छोटे-बड़े राज्य अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार हिन्दी कवियों का मान करते और दरबारों में उनको बुलाते तथा रखते थे। रणजीतसिंह का दरबार हाशम, गणेश, शिवदयाल, जयसिंह, बुधसिंह, ग्वाल प्रभृति प्रतिभाशील कवियों से सुशोभित था। पटियालापति के यहाँ चन्द्रशेखर बाजपेयी, केशीदास, मूलासिंह, रामसिंह पंजाबी, फतैराम, देवीदत्ताराय, उमादास (भवानीदास), बनारसीदास, रूपचन्द, कृष्णकवि, निहालचन्द्र, वंशी पण्डित, ईश्वरकवि, मैनकवि, चन्दकवि, स्वर्णकार, गोपालसिंह नवीन आदि कवियों का भारी सम्मान था। नाभानरेश के दरबार में वंशी पण्डित, भाई प्रेमसिंह, लालकवि, भाई मन्तोपसिंह, ऋतुराज नवीन आदि कवि आहूत थे। नाभा, पटियाला, कपूरथला के नरेश स्वयं भी अच्छे कवि रहे हैं। कपूरथला में फतैराम, फतहसिंह, हरनाम, राममुखराय आदि और जींद में मदनसिंह और साहबसिंह मृगेन्द्र के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। ग्वाल फक्कड़ चित्त से पर्यटन प्रिय थे। दूसरे उनको आजीविका की भी खोज थी। गोपालसिंह 'नवीन' जो वृन्दावन वासी थे, ग्वाल की प्रतिभा से प्रभावित थे। कहते हैं कि वे ही ग्वाल को पंजाब ले गये। 'नवीन' का नाभा और पटियाला दोनों राज्यों से ही घनिष्ठ सम्पर्क था। वे स्वयं नाभा राज्याश्रित थे। फलतः उन्होंने कवि ग्वाल का प्रथम परिचय जसवन्तसिंह नाभापति से कराया। नाभा उन दिनों एक समृद्ध सिखराज्य था। गुणग्राही कवि राजा ने ग्वाल को अपना दरबारी कवि बनाकर सम्मान प्रदर्शित किया। ग्वाल मथुरा में रहकर 'नेह निवाह' और 'यमुना

लहरी' की रचना कर चुके थे। 'यमुना लहरी' भक्त रससिक्त शृङ्गारिक प्रकृति वर्णन संयुक्त काव्य की उत्कृष्ट रचना है। इसका रचनाकाल यों संवत् १८७६ वि० ही उल्लिखित है पर यह किसी आश्रयदाता के निर्देश-पालनाथ नहीं लिखी गई, क्योंकि इसमें इस विषय का कोई अन्तर्साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता। प्रतीत होता है कि कवि जीवन का श्रीगणेश करने के लिये कवि ने ब्रज लोक मानस की युग-युग पूजिता कालिंदजा माता की वन्दना स्वरूप यह रचना मंगलाचरण के रूप में लिखी। यहीं से कवि का वास्तविक कवि, काव्य-जीवन में उतरा और इसी समय से कवि के कविता काल का सभारम्भ भी हुआ।

कवि का नाभा दरबार में सं० १८७६ वि० में ही प्रवेश हुआ, जहाँ उन्होंने नाभापति की इच्छापूर्ति हेतु शृङ्गाररस-पूरित नायक-नायिका निरूपक काव्य-लक्षण ग्रन्थ रसिकानन्द की रचना की। इसमें कवि ने ग्रन्थ प्रणयन का उद्देश्य कथन करते हुए लिखा है। "दर्ई सु आजा यों नृपति, मुन कवि ग्वाल अमंद। देपि मनान्तर रिसिन के, विरच्यो रसिकानन्द॥"

'इन्तखावे यादगार' के लेखक इस विषय में मौन हैं। उनके अनुसार ग्वाल सीधे लाहौर गये थे। परन्तु वस्तुतः ग्वाल पहले नाभा दरबार में गये, लाहौर में इसके पश्चात्। ग्वाल की वीर रस की रचना हमीर हठ की रचना सं० १८८३ वि० में अमृतसर में हुई।^१ 'कवि दर्पण' की रचना सं० १८९१ वि० में महाराजा रणजीतसिंह के सामन्त सरदार लहनासिंह अमृतसर के लिये की गई।^२ इसमें सं० १८८३ वि० में कवि का अमृतसर वास मिथ्य होता है। कवि दर्पण की रचना अमृतसर में ही हुई थी, हम इसी मत के पक्ष में हैं। यदि कवि का नाभा प्रवास सं० १८७६ वि० से १८८२ वि० तक मान लिया जाय तो सं० १८८३ वि० से १८९१

^१ हमीर हठ : ग्वाल कवि (हस्तलिखित) छन्द सं० २

^२ कवि दर्पण : " " सं० २ एवं पुष्पिकी

वि० उस का अमृतसर में सरदार लहनासिंह के आश्रित रहना युक्तिसंगत है। सम्भवतः सरदार लहनासिंह के द्वारा ही कवि ने लाहौर दरबार में प्रवेश पाया होगा, यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है। महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु सं० १८६६ वि० में हुई।^१ अतः कवि इससे पूर्व संभवतः सं० १८६२ वि० के आस-पास ही लाहौर दरबार गया होगा १६०१ वि० तक रहने की बात किसी को भी अमान्य नहीं हो सकती। 'विजय विनोद' नामक वीरकाव्य की रचना महाराजा शेरसिंह के विश्वासपात्र दरबारी जल्हा पण्डित के आदेश से सं० १६०१ वि० में की गई थी।^२ जिसके ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने वाले तथ्यों के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि महाराजा रणजीतसिंह से लेकर सं० १६०१ वि० तक की लाहौर दरबार की समस्त गतिविवियों के साथ कवि का निकट का परिचय था। लाहौर के पश्चात् कवि पंजाब की पहाड़ी रियासतों में घूम-घाम कर सुकेत मण्डी पहुँचा, जहाँ वह प्रायः दो तीन वर्ष तक रहा और यहाँ बलवीर विनोद की रचना की। सं० १६०४ वि० में कवि पुनः नाभा के महाराज भगवानसिंह और भरपूरसिंह के दरबार में उपस्थित था, जहाँ उसने 'रसरंग' की रचना की।^३ इसके पश्चात् कवि कहाँ कहाँ रहा, सं० १६१७ वि० तक कोई उल्लेख नहीं मिलता। हो सकता है कि वह मण्डी में रहा हो। सम्भवतः इसी बीच टोंक में जाकर उसने कृष्णाष्टक बनाकर वहाँ के नरेश को सुनाया हो या मथुरा आकर रहा हो और बीच-बीच में राजस्थान की अलवर आदि रियासतों में घूमा हो। पर यह निश्चित है कि उसने नाभा में 'इश्क लहर दरयाव' की रचना सं० १६१७ वि० में की थी। रामपुर के शासक नवाब कल्वे अली खाँ साहब इन पर बड़े कृपालु थे। उनके विशेष आग्रह पर वे राम-

पुर १६१६ वि० में गये। 'अमीर' साहब इनके रामपुर प्रवास के विषय में इस प्रकार लिखते हैं :—

“शाहजादा इम्दादुल्ला खाँ ताव जिनका जिक्र खैर हरफ ताये करस्त में गुजरा उनके शागिर्द थे। एक जमाने में शाहजादा मोसूफ मथुरा गये हुए थे कि उनके साथ अकबर शाहजादा सैयदुल्ला खाँ इल्म अपने वालिद के पास गये। ग्वाल राय से मुलाकात हुई। शाहजादा सैयदुल्ला खाँ ने उसी मार्फत साविका के ऐतवार से नवाब फिरदौस के हुजूर में उनका जिक्र किया। नवाब ममदूह ने उनकी मारफत उनको बुलाया। बहुकैम महमानवाजी मदारात मौरुफ इना-यत फरमाया। नौकरी उन्होंने मंजूर न की। सात महीने के बाद रुखसन हुए। जब बन्दगाने आली दाम अकबालहु ने सदर पर जुलूस फरमाया। वो रहमियत अरबावे कमाल आया फिर ग्वाल को तलब फरमाया। हरचन्द बसारत से होसला नकल ओ हरकत का बाकी तनहा मगर शहरो कदर अफजाई बन्दगान हुजूर का जो सुना विला ताम्मुल आये और कदरदानियों के मजे उठाये। सी रुपये मशाहिग करार पाया। एक साल नौ महिने यह ताल्लुक रहा।”^१

रामपुर दरबार में ही ग्वाल की इहलीला जिमादी उल अब्दुल की नौवीं तारीख सं० १२८४ हिजरी तदनुसार भाद्रपद शुक्ला एकादशी सं० १६२५ वि० दिनांक १४ सितम्बर १८६८ ई० सोमवार^२ को समाप्त हो गई। इन्तखावे यादगार में इसका उल्लेख मिलता है—“उम्र ६५ वरस थी कि जिमादी उल अब्दुल की नौवीं तारीख वारा सौ चौरासी हिजरी को खाना मुल्के अदम हुए।”^३

इस प्रकार सं० १८७६ वि० से १६२५ वि० तक प्रायः ४६ वर्ष का सम्मानपूर्ण राज्याश्रित जीवन-यापन करके ग्वाल ने हिन्दी के भण्डार की श्रीवृद्धि की। इस जीवन में इन्होंने हिन्दू, मुसलमान, मिश्र सभी धर्म के आश्रयदाताओं को अपनी प्रतिभा से प्रसन्न किया।

—२५, कृष्णपुरी, मथुरा।

^१ इन्तखावे यादगार (उर्दू) ले० मु० अमीर अहमद मीनाई, रामपुर सं० १६३० वि०, पृ० ३२३

^२ काशी में छपे सं० १६२४-२५ वि० के पंचांग के पृ० ६ पंक्ति ११ स्तम्भ १, ६ तथा ११ के अनुसार प्रमाणित।

^३ इन्तखावे यादगार : पृ० ३२३।

^१ सिख इतिहास : ठा० देसराज

^२ विजय विनोद : ग्वाल कवि (गुरुमुखी) छन्द सं० ५ से ७।

^३ रसरंग : ग्वाल कवि (हस्तलिखित)।

पाठ, शब्द और अर्थ का निर्णय

• कन्हैयासिंह

साहित्य शब्द और अर्थ का सम्पृक्त रूप है। इसी-लिए 'शब्दार्थी सहितो काव्यम्' की बात कही गई है। कवियों ने शब्द और अर्थ दोनों की महिमा का उल्लेख किया है। कालिदास का प्रसिद्ध मंगला-चरण 'वागर्थविव सम्पृक्तौ वागर्थं प्रति पत्तये' तथा तुलसी का 'वर्णानां अर्थसंधानां' इसी बात को व्यक्त करते हैं। शब्द और अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध है। इनके अभिन्न सम्बन्ध के सम्बन्ध में तुलसीदास ने ठीक ही लिखा है। 'गिरा अर्थ जल बीच सम कहियत भिन्न न भिन्न।' यह शब्द और अर्थ की अभिन्नता सिद्धान्त रूप में पूर्णतः सत्य होते हुए प्रसंग के अनु-सार अलग-अलग रूपों में निश्चित होती है।

प्रसंग की दृष्टि से शब्द के अर्थ पर विचार करना कितना आवश्यक है इसके लिए संस्कृत में 'सैन्धव' शब्द का उदाहरण अति प्रचलित है। 'सैन्धव' का अर्थ 'घोड़ा' और 'नमक' दोनों होता है। यदि भोजन पर बैठा हुआ व्यक्ति सैन्धव माँगे तो नमक और युद्ध या यात्रा के लिए प्रस्तुत व्यक्ति सैन्धव माँगे तो घोड़ा समझना चाहिए। इसके विपरीत भोजन के समय घोड़ा लाकर खड़ा कर देना और यात्रा के लिए प्रस्तुत व्यक्ति के सामने नमक की शीशी रखना एक विसंगति हो जाएगी। इस तथ्य को भी भलीभाँति समझना चाहिए।

हिन्दी की प्राचीन रचनाओं के पाठ-निर्णय के प्रसंग में किसी भी विधि से कार्य करते समय शब्द और अर्थ दोनों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रणाली विज्ञान होने के नाते 'शब्द' पर ही

ध्यान देती है, अर्थ पर नहीं। अर्थ पर ध्यान देना साहित्यिक कार्य है अतः सम्पादन की साहित्यिक सरणि से ही यह गुत्थी सुलझ पाती है। वस्तुतः यह दृष्टि भ्रामक है। शब्द और अर्थ ये दोनों ही विश्लेषण के क्षेत्र में विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। व्याकरण, भाषा विज्ञान, कोश-निर्माण आदि कार्य इस अर्थ में विज्ञान ही हैं।

इस सम्बन्ध में देवेन्द्रनाथ शर्मा का मत उल्लेख्य है। 'शब्द' अर्थप्रधान अभिव्यक्ति मूलक उपादान है। शब्द अर्थों की अभिव्यक्ति और भावाभिव्यंजना का समष्टि रूप है। किसी भी विषय के क्रमबद्ध अध्ययन को हम सामान्यतः विज्ञान की संज्ञा देते हैं। कोश-कार्य करते समय भी हम शब्दों का अध्ययन करते हैं कोई शब्द जब हमारे सामने आता है तो हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि यह किस भाषा या बोली का शब्द है, इसकी निरुक्ति या व्युत्पत्ति कहाँ से हुई है, व्याकरण की दृष्टि से यह शब्द किस शब्द भेद के अन्तर्गत आता है, किस लिंग का हम इसे मानेंगे आदि सभी बातों की ओर हमारा ध्यान जाता है। शब्दों का अध्ययन निश्चित ही विज्ञान सम्मत है और कोशकार्य को विज्ञान के अन्तर्गत स्थान मिलता है।"^१

यही स्थिति पाठालोचन में भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में आती है। पाठ निर्णय की प्रणाली तो वैज्ञानिक है और उसमें शब्द-अर्थ के निर्णय की विधि भी शास्त्रीय है, पर इसके लिए साहित्य का ज्ञान, साहित्य परम्परा का गूढ़ अध्ययन और शब्द रूपों के

^१ माध्यम, जनवरी ६६, पृष्ठ ६४।

ऐतिहासिक विकास की स्थितियों का परिचय भी नितान्त आवश्यक होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि पाठ-निर्णय में शब्द और अर्थ का विचार आवश्यक होता है फिर भी पाठालोचन एक शास्त्र है, एक विज्ञान है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है कि यदि एक ही पाठ सभी प्राप्त प्रतियों में प्राप्त हो किन्तु वह अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ न हो तो क्या करना चाहिए? पाठालोचन की विधि के अनुसार यदि मिलने वाले पाठ की भ्रष्टता का लेखन-प्रमाद-जनित आधार मिल जाय तो उसे सुधारा जा सकता है। जैसा विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'चले मत्त गज घन्ट विराजी' के सम्बन्ध में किया। 'घन्ट' पुल्लिङ्ग के साथ 'विराजी' स्त्रीलिङ्ग की संगति न मिलने से 'घन्ट' शब्द की स्थिति पर विचार करना आवश्यक हुआ। श्रावण कुञ्ज अयोध्या की प्रति में 'घय' पाठ है। संपादक के अनुसार यह 'घटा' पाठ था, लिखने में 'ट', 'य' से मिल गया। अतः भ्रष्ट पाठ 'घय' हो गया। यह संभव भी है।

यदि इस स्थिति में लेखन-प्रमाद-जनित कोई संभावना न मिले तो क्या करना चाहिए? इस दशा में पाठालोचन की विधि के अनुसार उपलब्ध पाठ ही देना चाहिए, सुधार करना ठीक नहीं है। यही विवाद का मुख्य केन्द्र है। वास्तव में कभी-कभी पाठ अर्थसंगत होते हुए भी संपादक की समझ में नहीं आता है और यदि उसने मनमाने संशोधन की प्रणाली का अनुगमन किया तो मूल पाठ कुछ का कुछ हो जाता है। इस सम्बन्ध में पद्मावत के विद्वान व्याख्याकार डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के एक पाठ पर विचार करेंगे। पाठ है 'कोरों कहाँ ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा।'—पद्मावत ३५६-७। यहाँ कोरों शब्द ठेठ अवधी का शब्द है जिसका अर्थ छप्पर में लगने वाले छाजन के बँड़े बाँसों से है। डा० अग्रवाल को यह अर्थ नहीं सूझ पड़ा और उन्होंने 'कोरे' पाठ ठूँस दिया और अर्थ किया : 'अरे कौन ?

हिन्दी पाठ समस्याओं के अध्ययन से ऐसे असंख्य उदाहरण मिलते हैं कि प्रतियों में मिलने वाले पाठ संगत थे, पर संपादक की समझ में न आने के कारण वे उलझन के कारण बने रहे।

इसी प्रकार 'अनुराग बाँसुरी' का एक पाठ है—

दीठिन काहूँ कै तेहि आवैं।

आर संप रवि आगि जरावैं॥

'आर' शब्द का अर्थ न समझ में आने पर उपलब्ध प्रति के प्रतिलिपिकर्ता ने 'आउ' लिख दिया। इस ग्रन्थ के संपादक चन्द्रवली पांडे ने लिखा है कि रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'आड़ि' किया। यह सब कार्य अर्थ निकालने के लिए ही हुए। पर पांडेजी ने लिखा है कि बहुत विचार करने पर यह संस्कृत का शुद्ध 'आर' दिखाई दिया जिसका अर्थ ज्योतिष में होता है मंगल और यत्र-तत्र शनिश्चर भी।'

—अनुराग बाँसुरी (बीती बात) पृ० ६

'चान्दायन' का एक पाठ है—

जाकर कोई जरै सो जानइ।

अनजाने कस काहूँ बखानइ॥

इसमें 'कोई' शब्द ठेठ शब्द है। 'कोई' जरना' ठेठ अवधी का मुहावरा है जो इसी रूप में प्रयुक्त होता है। इसका पाठ परमेश्वरीलाल गुप्त ने 'कोइ' दिया है और माताप्रसाद गुप्त ने मूल 'कोई' पाठ देकर उसके आगे सुझाव रूप में (ही) लिखा है। वस्तुतः 'कोई' शब्द ही ठीक है न 'कोइ' और न 'कोही'। यदि अपनी दृष्टि से संपादक ने इस शब्द को बदल दिया होता तो मूल पाठ निश्चित ही बदल जाता।

'शब्द' के अर्थ के सम्बन्ध में विचार करना एक महत्वपूर्ण कार्य है पर वह पाठ के क्षेत्र में समझ बूझ कर होना चाहिए। फारसी लिपि में लिखे हुए हस्त-लेखों में तो शुद्ध पढ़ने की समस्या को उठा दिया है। एक ही पाठ को कई प्रकार से पढ़ा जा सकता है। ऐसी स्थिति में अर्थ संगति विशेष महत्वपूर्ण हो जाती है। 'मृगावती' में मृगावती और रूपमिनि के सपत्नी कलह में रूपमिनि, मृगावती के लिए कहती है—

हम वियही कुलवंति जो आहीं ।
वह रे अरध हम सरवरि नाही ॥

उपर्युक्त पाठ माताप्रसाद गुप्त के संस्करण का है। परमेश्वरीलाल गुप्त 'अरध' के स्थान पर 'उढ़रि' लिखते हैं। 'वियाही' के साथ 'उढ़री' अधिक संगत है पर इस पाठ का निर्णय हस्तलेख के ठीक वाचन पर निर्भर है। 'अरध' का अर्थ माताप्रसाद गुप्त ने किया है कि 'वह हमारी आधी भी नहीं है।' यह अर्थ भी संगत ही है। फिर भी यह पाठ विचारणीय है। अर्थ तो दोनों ही पाठों से निकलता है। अतः यहाँ उत्कृष्ट अर्थ से पाठ का निर्णय करना उचित न होकर हस्तलेख के शुद्ध वाचन से निकलने वाला पाठ ग्राह्य होना चाहिए।

इसी प्रकार कभी-कभी पाठ के सम्बन्ध में कोई मतान्तर नहीं होता पर उस एक ही पाठ का अर्थ अनेक प्रकार से किया जाता है। जैसे जायसी के 'पद्मावत' के प्रारम्भिक अंश का एक पाठ है :—

कवि विद्यास रस कौला पूरी ।
दूरहि निग्रर निग्रर भा दूरी ॥

'कौला' पाठ शुक्लजी, वामुदेवशरणजी, माता-प्रसादजी, आदि द्वारा स्वीकृत पाठ है। पर 'रस कौला' का अर्थ वामुदेवशरणजी 'रस से भरा हुआ कटोरा' माताप्रसाद गुप्त 'रस पूरित नारंगी' और कुछ अन्य लोग कौला अर्थात् 'पद्मिनी या पद्मावती के रस से भरी कथा' करते हैं। यह अर्थ की उलझन मुलझे या न मुलझे पर पाठ तो सर्वमान्य है।

इस प्रकार पाठ-निर्णय में शब्द और अर्थ पर विचार समान रूप से होना आवश्यक है पर कुछ निश्चित सीमाओं और मर्यादाओं को समझते हुए। जिन सामाग्रियों और मर्यादाओं को पाठालोचन शास्त्रीय रूप से उपस्थित करता है उसमें अर्थानुसंगति का पूर्ण ध्यान रहता है केवल कुछ विधि-निषेध अवश्य हैं जिन पर ध्यान देना पाठ समीक्षक के लिए आवश्यक होता है।

—क० मु० हिन्दी विद्यापीठ, वि० वि० आगरा।

प्रकाशन के सोपान पर

'साहित्य-सन्देश' के उत्कृष्ट विशेषाङ्कों की शृङ्खला में सर्वथा नवीन

'लोक साहित्य विशेषांक'

(शीघ्र प्रकाश्य)

उच्चकोटि के गवेषणात्मक, विवेचनात्मक, शोधात्मक एवं आलोचनात्मक

लेखों का आमन्त्रण ।

—सम्पादक

आगरा के कवि मल्लूकचन्द रचित कुविजा पचीसी

● आगरचन्द नाहटा

हिन्दी साहित्य में सन्त एवं भक्तजनों की रचनाओं की संख्या बहुत बड़े परिमाण में है। एक-एक सन्त और भक्ति सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ हैं और एक-एक शाखा में अनेकों कवि हो गये हैं। उन सबका पता लगाना बहुत ही कठिन है। इधर कुछ वर्षों में हिन्दी में शोध कार्य बड़े अच्छे रूप में चल रहा है, फलतः अनेकों सम्प्रदाय एवं उनके साहित्य के सम्बन्ध में शोध प्रबन्ध लिखे गये और उनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। फिर अभी बहुत से सम्प्रदायों के साहित्य की खोज होनी बाकी है।

मध्यकाल में श्रीकृष्ण की भक्ति का सर्वाधिक प्रचार हुआ। कृष्ण की अनेकों लीलाओं और स्वरूपों ने विविध रुचिवाले व्यक्तियों को बहुत ही आकर्षित किया है क्योंकि जन साधारण तो प्रायः रंग-राग, ठाठ-बाट, उत्सव-मेलों आदि में रुचि रखता है और एक दूसरे के अनुकरण की वृत्ति अधिक रहती है। राजा से लेकर रंक तक और सन्त से लेकर महा-पुरुषों ने भक्ति के सहज मार्ग को अपनाया और अनेक देवी-देवताओं की भक्ति-गंगा का प्रवाह जन मानस को बहाने लगा।

कृष्ण भक्ति को लेकर विविध भावों और शैलियों की प्रचुर रचनाएँ रची गई हैं। उनमें से अनेकों रचनाएँ और बहुत से कवि अभी अज्ञात हैं, कुछ का विवरण खोज रिपोर्टों में प्रकाशित भी हुआ है, पर वह अधूरा-सा है। उन रचनाओं का अध्ययन और उन कवियों के सम्बन्ध में खोज तो बहुत ही कम हुई है। यहाँ एक ऐसे ही कवि और उसकी रचना का परिचय दिया जा रहा है।

नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित सन् १९४१ की खोज रिपोर्ट में "मल्लूक रचित उद्धो पचीसी" का विवरण प्रकाशित हुआ है जिसकी तीन पत्रों की प्रति महावीरसिंह गहलोत या पुस्तक प्रकाश जोधपुर के संग्रह में है। रचना के नाम के अनुसार इसमें २५ कवित्त, उद्धव को गोपिकाओं के उलहाने सम्बन्धी हैं। इसके रचयिता 'मल्लूक' कवि के सम्बन्ध में इन २५ कवित्तों में कोई जानकारी नहीं मिलती है।

इसी रचना की एक हस्तलिखित प्रति "अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर" में है, पर इस प्रति में 'उद्धो पचीसी' की जगह इसका नाम 'कुवजा पचीसी' लिखा हुआ है। और इससे पहले इसी कवि की ६६ पद्यों की एक और रचना लिखी हुई है जिसके अन्तिम पद्य में 'कुवजा पचीसी' ग्रन्थ के नाम का उल्लेख पाया जाता है। उस रचना के प्रारम्भ में लेखक ने "अथ कुविजा पचीसी लिख्यते" लिखा है और अन्त में "गोपिन को उराहन्तो उद्धव प्रति" लिखकर कुवजा या उद्धव पचीसी के पचीस कवित्त लिख दिये गये हैं। इन कवित्तों में उपखान अर्थात् कहावतों का प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस पचीसी के पहले के ६६ पद्यों में से पद्यांक ५४-५५ में कवि ने अपने को आगरा का निवासी 'माधुर भयानीया' बतलाया है और सं० १७५५ माघ सुदिर इसका रचना काल बताया है। किसी रचना के मध्य में कवि अपना परिचय और रचनाकाल प्रायः नहीं देता। अतः इसे अपवाद ही समझना चाहिए। हस्तलिखित प्रतियों का विवरण लेने वाले प्रायः आदि अन्त के पद्य ही नकल कर लेते

आगरा के कवि मल्लकचन्द रचित 'कुविजा पचीसी'

हैं। अतः इस तरह की महत्त्वपूर्ण जानकारी छूट जाती है।

प्राप्त प्रति में कुविजा पचीसी के पहले ऋतु वर्णन सं १७८६ का लिखा हुआ है। अतः कुविजा पचीसी की रचना के केवल ३४ वर्ष बाद की यह प्रति लिखी हुई है। रचना के आवश्यक विवरण वाले पद्य नीचे दिये जा रहे हैं।

अथ कुविजा पचीसी लिख्यते —

इति—धनपति की संपति लहै, फनपति सीतम सोइ।

चाहत जो धनपति भयो, नित गनपति मुखजोइ॥१॥

जग में देवी देवता, सर्व करे अगवान।

वेद पुराननि में सुनी, सर्व मई भगवान॥२॥

इसके बाद भवानी महादेव, सांवला, गंगाजी, सोरठा—क्यों कर पाऊं पार, इनके प्रेम समुद्र की।

गीताजी, गायत्री, गोविन्द, स्तुति है।

मध्य—माथुर ज्ञात भयानियां, नाऊ मल्लक बखान।

नगर आगरे में बसै, सहज परी यह वान॥५४

संवत सत्रह सै वर्ष, पोंहचे पचपन आइ।

माह सुदी तिथि द्वैज ही, तब यह कियो उपाइ॥५५

दसम स्कन्द भागीत में, कहो सुनी सो कान।

सो सुनिकें तबही भयो, उही समै को ध्याना॥५६

अन्त—जाकै ध्यान सदा यहै, ताकी हों बल जाउ।

'कुविजा पचीसी' सुनी, यहै ग्रंथ को नाउ॥६६

गोपिन को उराहनो उद्धव प्रति—

इति—सुनि सुनि बातें ऐसी माघो सो बसाति नाहि,

जोग जोग नाहीं ताकै कैसे उर आइ है।

तुम तौ कही यं यह कौन की कही है बात,

हम तौ सही है जो पैं तुम मन भाई है।

सुनो हो 'मल्लक' यह बात है पखान वारी,

बोइ कैं बबूर कोऊ आँव फल खाइ है।

परधन पाइ कैं जु अन्त इतरात ऊधो,

काहू कल पाइ है सु कैसे कल पाइ है॥१॥

अन्त—वे जु कहैं तुम जोग करी अब,

जोगु करै सु डरें हम कातैं।

जोग 'मल्लक' बन्यौ कुविजा संग,

बीतति हैं सुख सौ दिन रातैं।

यो उपखान बखानत हैं जब,

लोडी करी तब मारहु लातैं।

बोल बड़े बढ़ि बोलत ही चुप,

ऊधो सर्व वन आए की बातें॥२४

जो उनकी हित है हम सौ अब,

तो यह मानि है बात कही को।

जोग 'मल्लक' वनैं तबहीं मन,

हाथ रहैं जब जानैं सही को।

जोग वहे जु कहावत उद्धव,

जोग करै हरबाँह गही को।

नां तरु बात की बात कही,

जुगई सुगई अब राख रही को॥२५

सोरठा—क्यों कर पाऊं पार, इनके प्रेम समुद्र की।

अपनी मत अनुसार, कह्यो सुछिम यों सकल कवि॥१

इति श्री मल्लक चन्द कृते कुविजा पचीसी संपूर्ण॥

श्रीरस्तुः॥श्रीः॥ श्रीः

इसके पहले ऋतु वर्णन है वह भी काफी विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी हि० वि० प्रति० नं० ६ पत्र १०३ से नकल की।

आगरा का हिन्दी साहित्य की समृद्धि में बहुत बड़ा योगदान रहा है। जैन और जैनतर संकड़ों छोटे-मोटे कवियों ने विविध विषय और प्रकार की रचनाएँ हिन्दी में की हैं और अभी तक आगरा की हिन्दी सेवा के सम्बन्ध में समुचित खोज नहीं हुई। मैंने कई वर्ष पूर्व अपने लेखों में यह सुझाव दिया था कि आगरा विश्वविद्यालय और विशेषतः हिन्दी विद्यापीठ इस कार्य को हाथ में लें और आगरा क्षेत्र के कवियों और उनकी रचनाओं की खोज भलीभाँति की जाय। आगरा के एक सुकवि श्री मल्लकचन्द की रचना का एक विवरण ऊपर दिया गया है। विशेष खोज करने पर सम्भव है इस कवि की और भी रचनाएँ प्राप्त हों और कवि के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिले।

—नाहटों की गवाड़, बीकानेर।

‘साहित्य वाचस्पति’ उपाधि पाने वाले विद्वान

● राष्ट्रभाषा सन्देश से साभार

हिन्दी साहित्य सम्मेलन समय-समय पर हिन्दी-जगत के यश-प्राप्त साहित्यकारों को हिन्दी-जगत की सर्वोच्च सम्मानित उपाधि ‘साहित्य वाचस्पति’ से सम्मानित करता रहा है। यह उपाधि अब तक सात बार दी जा चुकी है और अब तक ७० विद्वानों को इस उपाधि से विभूषित कर सम्मेलन अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है, जिनमें विश्वबंध महात्मा गांधी, महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन प्रभृति महानुभावों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गत वर्ष शासन निकाय ने जिन चार महानुभावों को इस उपाधि से विभूषित करने का संकल्प किया था, उन्हें भी यह उपाधि इसी वर्ष दी गई है क्योंकि गत वर्ष उपाधि-वितरण-समारोह स्थगित कर दिया गया था। इस वर्ष भी शासन निकाय ने हिन्दी-जगत के महान नौ साहित्यकारों को इस उपाधि से अलंकृत करने का निश्चय किया। इन दोनों वर्षों के ‘साहित्य वाचस्पति’ उपाधि प्राप्तकर्ता महानुभावों की नामावली इस प्रकार है।

(१) श्री किशोरीदास वाजपेयी, (२) पं० सूर्यनारायण व्यास, (३) श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, (४) श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र, (५) श्री गयाप्रसाद शुक्ल ‘सनेही’, (६) श्री जैनेन्द्रकुमार, (७) डा० नगेन्द्र, (८) श्री भगवतीचरण वर्मा, (९) डा० रामकुमार वर्मा, (१०) श्री लज्जाशंकर झा, (११) श्री वासुदेव विष्णुदयाल, (१२) श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ‘अज्ञेय’, (१३) श्री हरिवंशराय ‘वचन’।

इन सभी विद्वानों की प्रशस्तियाँ नीचे दी जा

रही हैं जिनसे उनके साहित्यक जीवन की किंचित भाँकी पाठकों को मिल सके। हम इन सभी समादरणीय विद्वानों को अपनी हार्दिक बधाई देते हैं।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—आ० किशोरीदासजी वाजपेयी की हिन्दी साधना से राष्ट्रभाषा हिन्दी गौरवान्वित हुई है। आचार्य वाजपेयी हिन्दी भाषा के प्रकाण्ड वैयाकरण तथा प्रबुद्ध भाषा वैज्ञानिक हैं। आपने ‘ब्रजभाषा व्याकरण’ और ‘हिन्दी शब्दानुशासन’ लिखकर भाषा परिष्कार एवं भाषा विज्ञान की शिक्षा के लिए जो दृष्टि दी है, उससे हिन्दी के न केवल सुवी पाठक ही लाभान्वित हुए हैं वरन् भाषाविदों ने इनकी महान कृतियों का समादर करके इनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है। हिन्दी की वर्तनी, उच्चारण एवं शब्दों के उचित प्रयोग का आपने भाषा वैज्ञानिक और व्याकरण सम्मत दृष्टि से जो विश्लेषण किया है, वह सचमुच अपने क्षेत्र में समादरणीय है। आपकी तेजस्वी लेखनी सदैव ही हिन्दी का रूप सजाने, सँवारने और परिष्कृत करने के लिए सजग रही है। हिन्दी व्याकरण की संश्लिष्ट समस्याओं का समाधान कर आपने उसका जो मानक स्थिर किया है, उससे सम्पूर्ण हिन्दी जगत परिचित है। राष्ट्रभारती हिन्दी आपकी एकमेव आराध्या है और उसकी अविचल सेवा में आप पिछले छः दशकों से संवर्षमय जीवन होते हुए भी अविराम गति से लगे हुए हैं। राष्ट्रभारती को ऐसे ही एकान्तनिष्ठ निःस्पृह और कर्मकठोर, तेजस्वी व्यक्तित्वों की आवश्यकता है।

आचार्य वाजपेयी राष्ट्रभारती के स्वाभिमान के मूर्तमान प्रतीक हैं। उनके निराले व्यक्तित्व में अदम्य

‘साहित्य वाचस्पति’ उपाधि पाने वाले विद्वान]

तेजस्विता और नीर-क्षीर विवेक सारग्राहिणी प्रतिभा का मणिकांचन योग है। स्वाध्याय और चिन्तन उनका सहज व्यसन है और लेखन तथा सज्जन उनकी विवशता। उनकी लेखनी में संस्कृत के प्राचीन पंडितों जैसी अगर्वोक्ति की झलक भी शोभास्पद होती है।

पण्डित सूर्यनारायण व्यास—ज्योतिषाचार्य पण्डित सूर्यनारायण व्यास भारतीय ज्ञान, साधना एवं आचार्य परम्परा के उज्ज्वल प्रतीक हैं। संस्कृत के विशाल वाङ्मय का विधिवत अवगाहन करके आपने अपने अग्राध पाण्डित्य के पावन प्रसाद से राष्ट्रभारती हिन्दी को महिमान्वित किया है। महाकवि कालिदास की स्मृति-रक्षा के महान् कार्यों के प्रति अपना वरद सहयोग देते हुए आपने वाग्देवी के सर्वश्रेष्ठ पुत्र की रचनाओं का सम्यक् परिशीलन भी किया है। ‘कालिदास की अलंका’ आपके गहन अनुसन्धान और इतिहास के व्यापक परिशीलन की फलश्रुति है। इसी प्रकार की आपकी अनुसन्धानात्मक कृति ‘वाल्मीकि की लंका’ भी विद्वानों के द्वारा समाहृत है। प्राचीन विद्वानों की भाँति स्वाध्याय, चिन्तन, मनन एवं परिशीलन ही आपका जीवन क्रम है।

हिन्दी-यात्रा साहित्य भी आपकी कृति ‘यूरोप की यात्रा’ से परिपुष्ट हुआ है। ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित प्राचीन भारतीय वाङ्मय के उत्कृष्ट अध्येता तथा भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक पं० सूर्यनारायण व्यासजी की साहित्य साधना से राष्ट्रभारती का शृङ्गार हुआ है।

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार—श्री हनुमानप्रसादजी भारतीय संस्कृति एवं ऋषिप्रोक्त सनातन मर्यादा के अनन्य आराधक तथा चिन्तक हैं। ऐषणाओं से मुक्ति प्राप्त करने की साधना के साथ ही उन्होंने भारतीय धर्म, भारतीय संस्कृति एवं सनातन लोक मर्यादा तथा राष्ट्रभारती हिन्दी की रक्षा में अपना जीवन निष्ठावर कर दिया है। उनका ‘कल्याण’ वास्तव में सच्चे अर्थों में भारतीय जनता का कल्याण है जिसके सजाने-संवारने में उन्होंने अपने को खपा दिया है। ‘कल्याण’ और पोद्दारजी वस्तुतः एक दूसरे के पर्याय

हैं जो पिछले अनेक वर्षों से भारतीय जनता को घर्मा-मृत पान कराने में अविश्रान्त रूप में दत्तचित्त हैं। उनकी तपस्या से आस्थावान भारतीय जन-समाज उपकृत हुआ है। भारतीय संस्कृति के अनन्य व्याख्याता के रूप में आपने हिन्दी भाषा को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक साहित्य से समृद्ध और आप्त बनाने का महत्त्वपूर्ण और अनुपम कार्य किया है। भक्ति साधना तन्त्र, मन्त्र तथा भारतीय दर्शन के विविध पक्षों का सांगोपांग विवेचन करने में आपकी प्रज्ञा सदैव सजग रही है।

श्री पोद्दारजी ने हिन्दी में अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखने के साथ ही संस्कृत के धार्मिक साहित्य की अक्षयनिधि को अपने नाम से या अनाम ही प्रकाशित कराकर जो स्तुत्य कार्य किया है, उससे राष्ट्रभारती हिन्दी का भाण्डार विकसित, संवर्धित एवं पूरित हुआ है, अपनी एकान्त अध्यात्म साधना एवं नित्य नूतन तत्वान्वेषिणी प्रतिभा द्वारा आपने अनेकों ग्रन्थ-रत्नों का प्रणयन किया है जिससे प्रेरणा लेकर देश-विदेश के करोड़ों आस्तिकों के मन में भारतीय विद्या के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ है।

पण्डित द्वारिकाप्रसाद मिश्र—श्री मिश्रजी का हमारे देश के उच्चकोटि के राजनीतिज्ञों एवं हिन्दी के रससिद्ध कवियों में अग्रणी स्थान है। राष्ट्र की बहुविध कल्याण चिन्ता के साथ राष्ट्रभारती हिन्दी के अधिकारों एवं क्षातियों के लिए भी आप सदैव सजग प्रहरी रहे हैं। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के एक सैनिक से लेकर मध्यप्रदेश जैसे समस्या बहुल एवं बहुविस्तृत प्रदेश के मुख्यमंत्रित्व तक आपने सदैव ही हिन्दी के स्रष्टा, प्रवक्ता और पत्रकार के रूप में बहुमुखी कार्य किया है। ‘कृष्णायन’ महाकाव्य के रचयिता के रूप में महाकवि एवं ‘लोकमत’ दैनिक, ‘सारथी’ साप्ताहिक के संस्थापक, संचालक, संपादक और ‘श्री शारदा’ जैसी विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका के सम्पादक के रूप में आपने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उज्ज्वल कीर्तिमान स्थापित किया है। राजनीति और साहित्य साधना दोनों ही क्षेत्रों में आपकी

अक्षय कीर्ति मिली है।

प्रखर, प्रबुद्ध और चमत्कारिणी प्रतिभा के धनी भगवान श्री कृष्ण के बहुरंगी एवं प्रेरणामय जीवन को तात्कालिक भारतीय राजनीतिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर आपने कृष्णद्वैपायन के राज-धर्म एवं कौटिल्य के अर्थतन्त्र को हिन्दी पाठकों के लिए जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह अपने ढंग का अनोखा है। बहुविश्रुत चिरन्तन पौराणिक कथा को इस प्रकार अभिनव रूप में प्रस्तुत कर आपने हिन्दी काव्यरसिकों का तथा राष्ट्रभारती का अमित हित साधन किया है।

पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—आचार्य पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' उन साहित्य महारथियों में से हैं जिन्होंने अपने दीर्घजीवन में अनवरत साहित्य साधना द्वारा आधुनिक हिन्दी काव्य धारा को राष्ट्रीय चेतना से संपृक्त किया है। द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में सनेहीजी रीति काव्य की उत्कृष्टतम परम्परा के प्रतिनिधि और आधुनिक राष्ट्रीय काव्य-धारा के रससिद्ध सृष्टा हैं। उनका 'सनेही' व्यक्तित्व जहाँ अनेकों उदीयमान कवियों को वरद छाया और मार्गदर्शन देता रहा वहीं 'त्रिशूल' के रूप में उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यवाद पर प्रहार करके युगधर्म का का निर्वाह किया था। वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, काव्य-मर्मज्ञ, शील-सौजन्य की सजीव प्रतिमा के रूप में आचार्य सनेहीजी के मोहक व्यक्तित्व एवं कर्मठ जीवन का हिन्दी जगत में उच्चतम स्थान है। सन् १९२८ से १९५० ई० तक सुकवि' मासिक पत्र का अनवरत संचालन, सम्पादन कर आपने हिन्दी कविता के सर्जन एवं प्रसार में अमूल्य योगदान किया है। सुकवि आचार्य पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' राष्ट्र की विभूति एवं राष्ट्रभाषा के गौरव हैं। बीस हजार से अधिक छन्दों के प्रणेता, 'कुसुमांजलि', 'त्रिशूल तरंग', 'राष्ट्रीय वीणा' तथा 'करुणा कादम्बिनी' आदि कृतियों के शक्तिमान कृतिकार के रूप में आपका हिन्दी साहित्य में समादरणीय स्थान है।

काव्य साधना ही आपकी जीवन व्यापिनी रागिनी

रही है और राष्ट्रभारती हिन्दी ही आपकी एकमेव आराध्या। इस प्रकार सनेहीजी के उभय रूपों ने हिन्दी काव्य जगत में भारतेन्दु के अनन्तर जो प्रकाश वितरण किया है उसकी आभा आज भी अम्लान है।

श्री जैनेन्द्रकुमार—प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में श्री जैनेन्द्रजी आदर्शवादी, मौलिक विश्लेषणकर्ता, संवेदनशील एवं प्रथम कोटि के शैलीकार के रूप में बहुविश्रुत हैं। कथा साहित्य के क्षेत्र में आपकी उज्ज्वल कृतियाँ हिन्दी पाठकों के प्रबुद्ध वर्गों में आरम्भ से ही परमप्रिय रही हैं। 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत' एवं 'जयवर्द्धन' आदि उत्कृष्ट उपन्यासों के प्रणेता जैनेन्द्रजी ने बौद्धिक एवं दार्शनिक कृतिकार के रूप में हिन्दी जगत में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। अपनी लघु कथाओं को भी जैनेन्द्रजी ने भावात्मक एवं सूक्ष्म चिन्तन का आधार देकर मनोरम शिल्पगत सौन्दर्य से अलंकृत किया है, जिसके कारण इस क्षेत्र में वे अनुपम हैं।

जीवन के आरम्भ से ही राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम के प्रति सतर्क जैनेन्द्रजी ने अपनी रचनाओं में भी जन कल्याण की भावना को उपेक्षित नहीं होने दिया है। उनकी अनवरत कृतियाँ पिछले तीन दशकों से हिन्दी साहित्य के अध्येताओं को आनन्द देती आई हैं। देश-विदेश की अनेक भाषाओं में आपकी रचनाओं का अनुवाद हुआ है जिससे राष्ट्रभारती की गौरववृद्धि हुई है। हिन्दी के तेजस्वी प्रतिनिधि के रूप में अन्तराष्ट्रीय सम्मेलनों एवं अधिवेशनों में भी आपने हिन्दी का पक्षोन्नयन किया है। परम्परा और प्रगति के सम्पूर्ण व्याख्याकार जैनेन्द्रजी वास्तव में गांधी-दर्शन के तलस्पर्शी समीक्षक और चिन्तक हैं। उनकी प्रौढ़ एवं रससिद्ध लेखनी ने भारतीय मनीषा को उद्वुद्ध करने की दृष्टि से 'इतस्ततः' और 'समय और हम' जैसी उच्चकोटि की रचनाओं की सृष्टि की है जिसमें समाज का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन निहित है। लोकहितैषणा एवं गांधीवादी विचार-धारा को अपने समग्र साहित्य में सुप्रतिष्ठित करके

आपने बहुजन सुखाय बहुजन हिताय की कल्पना को वर्तमान हिन्दी साहित्य में मूर्तरूप प्रदान किया।

डा० नगेन्द्र—डा० नगेन्द्र राष्ट्रभारती हिन्दी की अम्लान प्रतिभा एवं मौलिकता के मनोरम समन्वय हैं। भारतीय रस सिद्धान्त के अभिनव आचार्य के रूप में आपकी प्रतिष्ठा है। रीतिकाव्य के मर्मज्ञ एवं भारतीय काव्यशास्त्र तथा भारतीय नाट्यशास्त्र के उद्भट व्याख्याता नगेन्द्रजी ने अपनी रससिद्ध लेखनी से ऐसी ग्रन्थराशि राष्ट्रभारती के चरणों में प्रस्तुत की है जिनमें उनके अगाध पाण्डित्य के साथ उनकी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं रचना चातुरी का पदे-पदे परिचय मिलता है। अनेक मानक ग्रन्थों का प्रणयन एवं सम्पादन तथा आकर ग्रन्थों की रचना करके आपने साहित्य के अनेक अभावों की पूर्ति की है। भारतीय काव्यशास्त्र की विद्वतापूर्ण भूमिका लिखकर आपने अपनी गहन अध्ययनशीलता, नीरक्षीर विवेकिनी प्रतिभा का प्रशस्त परिचय दिया है।

पौराणिक एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त तथा समीक्षा पद्धति के कुशल मर्मज्ञ डा० नगेन्द्र ने अपनी दर्जनों समीक्षात्मक कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। हिन्दी शोध की समस्याओं के निराकरण तथा अन्वेषकों के मार्ग दर्शन के लिए डा० नगेन्द्र ने जिस शोध-पद्धति की प्रस्तावना की है उससे हिन्दी शोध की दिशा स्पष्ट और उज्ज्वलतर हुई है। रस-सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य मतों का तुलनात्मक विवेचन कर एक समन्वित सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर रस सिद्धान्त नामक सन्दर्भ ग्रन्थ में आपने काव्य की आत्मा रस का अपूर्व निरूपण किया है। आपकी विचार और अनुभूति, विचार और विश्लेषण तथा आस्था के चरण नामक कृतियाँ हिन्दी के मानक ग्रन्थों की परम्परा में हैं। इस प्रकार समीक्षा शास्त्र, रसशास्त्र और काव्यशास्त्र का ऐसा स्फटिक प्रासाद आपने अपनी गम्भीर अध्ययन सामग्री तथा मौलिक प्रतिभा से निमित्त किया है जिसकी उपादेयता में हिन्दी को सन्देह नहीं है। रस-चेता और रस-द्रष्टा समीक्षक डा० नगेन्द्र राष्ट्रभारती की

अर्चना अपने अनेकानेक सहगामी तथा अनुगामी साधकों को उत्प्रेरित करते हुए अविश्रान्त गति से कर रहे हैं और उनसे अभी भविष्य में भी बड़ी बड़ी आशाएँ हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी को गरिमा प्रदान करने के प्रयत्नों में डा० नगेन्द्र ने अपनी शास्त्रीय स्थापनाओं से चिरस्मरणीय योगदान किया है।

श्री भगवतीचरण वर्मा—श्री वर्माजी की मूल्यवान कृतियों से हिन्दी जगत पिछले अनेक दशकों से सुपरिचित है। आपकी मौलिक एवं गौरवशालिनी रचनाओं से राष्ट्रभारती के मुकुट को साहित्य के अनमोल रत्नों से अलंकृत किया है। श्री भगवतीचरण जी वर्मा छायावाद के प्रवर्तन काल में ही काव्य प्रणयन में प्रवृत्त हुए थे। आपके उत्कृष्टतम गीतों और कविताओं के माध्यम से हिन्दी के नव आलोकित काव्य-भाण्डार को अनमोल रत्न प्रदान किये हैं। १९३१ में अपनी परम लोक-प्रिय एवं अनवद्य रचना ‘चित्रलेखा’ के बाद आपका कहानीकार और उपन्यासकार रूप अधिक सतेज होता गया। श्री वर्मा ने ‘अपने खिलौने’, ‘भूले विसरे चित्र’, ‘सामर्थ्य और सीमा’, ‘रेखा’ और ‘सीधी सच्ची बातें’ आदि अनेक बेजोड़ उपन्यासों तथा उच्चकोटि की लघुकथाओं के स्तवकों से राष्ट्रभारती का अक्षय शृङ्गार किया है। समसामयिक आन्दोलनों की उखाड़-पछाड़ से तनिक दूर रहते हुए वर्माजी ने भ्रान्ति मूलक अन्वविश्वासों से डटकर लोहा लिया है और आधुनिक युग के अनुरूप स्वस्थ विकास की अनन्त संभावनाओं के प्रति सचेष्ट रहे हैं। नियतिवादी दर्शन की पीठिका पर सुस्पष्ट, खरी और युग को चुनौती देने वाली इनकी रचनाओं को हिन्दी पाठकों का अतीव आदर मिला है।

डा० रामकुमार वर्मा—डा० रामकुमार वर्मा राष्ट्रभारती हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न, मौलिक चिन्तक, समर्थ कृतिकार और यशस्वी व्याख्याता हैं। एकांकी के राजकुमार का बहुविश्रुत विरुद अधिगत कर आपने राष्ट्रभारती हिन्दी को इस रूपक विधा से सुसमृद्ध किया है। आज का हिन्दी एकांकी साहित्य

आपकी कुशलता, योजकता और साधना से अपना विशिष्ट स्थान बना सका है।

छायावाद की बृहद्वयी पंत्, प्रसाद और निराला के साथ-साथ आपने रहस्यवादी दर्शन से प्रभावित रचनाओं का प्रणयन करके आधुनिक हिन्दी काव्य-जगत में अभिनव सोपानों का निर्माण किया है। अन्तेवासियों के अप्रतिम आचार्य, सुधी समीक्षक, हिन्दी साहित्य के कुशल इतिहासकार तथा कबीर के रहस्यवाद के प्रथम व्याख्याकार डा० वर्मा अपनी सुकुमार सुरुचि, अनवद्य कल्पना प्रवणता और प्रत्येक क्षेत्र में मोहक व्यक्तित्व तथा जागरूक, कर्तृत्व के कारण उन लोकप्रिय साहित्यिक महाधियों में से हैं, जिनके प्रति शासन और साहित्यिक समाज दोनों में समान श्रद्धा है।

डा० रामकुमारजी वर्मा ने जहाँ सर्जनात्मक साहित्यकार के रूप में नाटक, एकांकी और गीतों का प्रणयन किया है वहीं उनकी 'एकलव्य' महाकाव्यों की परम्परा में हिन्दी काव्य रसिकों के बीच उत्कृष्ट रचना है। 'ये गजरे तारों वाले' जैसे लोकप्रिय गीतों के रचयिता, 'रेशमी टाई वाले' डा० वर्मा के मनोरम शिल्प एवं काव्य-साधना में अध्यात्म एवं चिन्तन कल्पना एवं छंदों के विषय बन गये हैं। सोवियत संघ एवं श्रीलङ्का में भारत-भारती हिन्दी की सर्वोच्च शिक्षा के महत्तर कार्यों का जिस प्रकार आपने निर्वहन किया है उससे भी हिन्दी जगत गौरवान्वित हुआ है। भारत एवं भारत से बाहर भी आपकी काव्य कृतियों का उचित समादर हुआ है।

डा० लज्जाशंकर भा—६६ वर्षीय शिक्षाविद और राष्ट्रभारती हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान डा० लज्जाशंकर भा ने अपने युग में जहाँ एक ओर लेख, संस्मरण एवं अन्य अछूते विषयों पर ग्रन्थ लिखकर हिन्दी के भाण्डार की अभिवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया है वहाँ उच्चकोटि की हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों का संयोजन एवं सम्पादन करने के युगानुकूल यथार्थ दृष्टिकोण पर आधारित शिक्षा के लिए बहु उपादेय तथा भविष्य के लिए मार्ग दर्शक सामग्री भी प्रस्तुत

की है। इस दृष्टि से आपकी कृति शिक्षा और स्वराज्य' ने दुर्लभ कीर्तिमान स्थापित किया है। मातृभाषा गुजराती होते हुए भी आपने राष्ट्रभारती हिन्दी का उस युग में हित साधन किया था जब हिन्दी हितैषियों की संख्या अत्यल्प थी। नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में अनेक हिन्दी हितकारिणी योजनाओं का सफल संचालन और प्रवर्तन कर आपने हिन्दी छात्रों में हिन्दी निष्ठा का जो बीज बोया था, उसका सुफल अब मिलने लगा है।

सन् १९१२ से ही आपने अनेक अकादमिक प्रमाणों और तर्कों के द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सक्रिय आन्दोलन किया था। हिन्दी में शिक्षा मनोविज्ञान के प्रवर्तक, धर्म, राजनीति आचार, लोकप्रकाशन आदि विषयों के व्याख्याता राष्ट्रभारती की परम हित साधन किया है। उनकी जीवन व्यापिनी साधना से हिन्दी आज भी लाभान्वित होती हैं।

श्री वासुदेव विष्णुदयाल—मारीशस दीप निवासी प्राध्यापक वासुदेव विष्णुदयाल भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के अभिनन्दनीय दिग्विजय अभियान के साथ-साथ अपने पूर्वजों की आराध्या भारत भारती को उस समुद्रपारीय प्रदेश में जन-जन के बीच प्रचलित करने में अपनी जीवन व्यापिनी साधना लगादी है। भारतीय संस्कृति के गहन तत्वों के परिशीलनकर्त्ता और व्याख्याता वासुदेव विष्णुदयालजी ने मारीशस की सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ हिन्दी के संरक्षण, संवर्धन और समर्थन का अनवरत प्रयास किया है और समूचे द्वीप में इसी कारण से उनके प्रति अतीव आदर है फ्रेंच और अंग्रेजी के उद्भट विद्वान एवं वाग्मी प्राध्यापक वासुदेव विष्णुदयाल का जीवन मारीशस वासियों के बीच प्रेरणा और प्रोत्साहन का मूर्तमान स्वरूप बन गया है। फ्रेंच और अंग्रेजी की उच्चकोटि की ग्रन्थराशि का हिन्दी रूपान्तर करके तथा भारतीय संस्कृति विषयक साहित्य को उन भाषाओं में प्रस्तुत करके आपने मारीशस में जो उपयोगी कार्य किया है उससे प्रत्येक भारतवासी आपकी अथक साधना का प्रशंसक बन गया है। सुदूर मारी-

‘साहित्य वाचस्पति’ उपाधि पाने वाले विद्वान]

शस में आपने भारतीय जीवन धारा को अबाध गति से प्रवाहित करने में जो महत्वपूर्ण योगदान किया है वह शताब्दियों तक आदरपूर्वक स्मरणीय रहेगा। हिन्दी आपकी जीवन व्यापिनी साधना का मूलमन्त्र है और साहित्य-अर्चना आपका व्यसन।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ‘अज्ञेय’—अज्ञेयजी आधुनिक हिन्दी जगत् के बहुचर्चित और यशस्वी साहित्यकार हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रस्फुटन जीवन के विविध क्षेत्रों में हुआ है और सर्वत्र उनकी मेधाशक्ति तथा कल्पना प्रवणता के साथ उनकी व्यावहारिक कुशलता का पदे-पदे परिचय मिलता है। ‘प्रतीक’ और ‘तारसप्तक’ के सम्पादक द्वारा हिन्दी-काव्य साहित्य के नवोन्मेष तथा अत्याधुनिकता और प्रयोगवाद को जन्म देकर अज्ञेयजी ने नूतन दिशा का बोध कराया है और उसे उन्होंने व्यापकता भी प्रदान की है।

काव्य, उपन्यास, कहानी, यात्रा-विवरण, आलोचना, काव्य, नाटक प्रायः सभी विधाएँ उनकी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के संस्पर्श से जीवन्त और नवीन हो उठी हैं। उनके सम्पादन में भी नवीनता और मौलिकता है और उनका सर्जन उनके बहुमुखी व्यक्तित्व और कृतित्व का सुनिश्चित प्रमाण है। हिन्दी सेवा ही उनकी आराधना है और साहित्य-सर्जना उनकी कामना। कलात्मकता और नवीनता की दृष्टि से उनकी रचनाओं का हिन्दी जगत् में यथेष्ट समादर हुआ है। ‘हरी घास पर क्षण भर’, ‘चिन्ता’, तथा शेखर एक जीवनी’ द्वारा काव्य तथा उपन्यास के क्षेत्र में आपने जो नूतन मानदण्ड स्थिर किये हैं उनका मूल्यांकन चिरनवीन रहेगा।

‘विशाल भारत’, ‘विजली’, ‘प्रतीक’, ‘वाक्’ (अज्ञेयजी त्रैमासिक) के सम्पादन के अनन्तर ‘दिनमान’ के द्वारा पत्रकारिता के जगत में भी अज्ञेयजी ने एक नूतन पथ प्रशस्त किया है। लोकनीति, समाजनीति, का कोई भी सन्दर्भ उनकी अन्तःस्पर्शिनी लेखनी से

अछूता नहीं रहता। उनकी टिप्पणियों में उच्च राजनीति के साथ अभिव्यक्ति एवं नूतन शैली दर्शनीय होती है।

डा० हरिवंशराय ‘वचन’—अपने सौम्य व्यक्तित्व और सहज संवेदनशील कर्तृत्व के धनी, जन-मानस के सूक्ष्म पारखी वचन की सबसे बड़ी विशेषता उनके कवि और काव्य की अनुपम लोकप्रियता है। वह विस्तृत, विराट भावक वर्ग के परमप्रिय कवि हैं और पिछले तीन दशकों से हिन्दी काव्य रसिकों के कण्ठ-हार बने हुए हैं।

वचनजी ने छायावादी अतीन्द्रियता और अति-वैयक्तिक सूक्ष्मता के स्थान पर मध्यवर्ग के विशुद्ध, वेदनाग्रस्त चेतना को वाणी ही नहीं दी, नूतन उल्लास और यौवन सुलभ मादकता भी प्रदान की। ‘मधुशाला’, ‘मधुवाला’ जैसी आरम्भिक कृतियों से जहाँ उन्होंने ‘हालावाद’ को जन्म दिया, वहीं उससे आगे जाकर प्रणय एवं आत्म निवेदन को भी पावनता और प्रेरणा की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठापित किया है। अपने ‘आकुल अन्तर’ और ‘प्रणय पत्रिका’ से आगे चलकर उन्होंने ‘बुद्ध’ और ‘नाचघर’ में हिन्दी पाठकों को नये संस्पर्श दिये हैं। आपकी अनवद्य ‘जन गीता’ और ‘सिसफस’ ने आधुनिक लोक-जीवन में नूतन मोड़ उपस्थित किया है। और इस प्रकार उद्दाम यौवन और अप्रतिम उल्लास के गीताकार के गीतों में लोक और विज्ञान का उन्मेष हुआ है। उनकी रस-सिद्ध लेखनी और वाणी का चमत्कार सर्वत्र मुखरित है।

वचनजी ने विदेशी कविता के शक्तिमान अनुवादों से भी हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। आप लोक रुचि से सुपरिचित और अप्रतिम प्रतिभाशाली कवि हैं। कविता के शिल्प एवं भाव दोनों ही पक्षों पर आपका असाधारण अधिकार है। प्रशासन की उच्च सेवाओं एवं लोक जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्यस्त रहते हुए भी वचनजी ने हिन्दी हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है।



समालोचनार्थ

प्रत्येक पुस्तक

की

दो प्रतियाँ

आनी चाहिये

आलोचना

ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास—

लेखक-प्रभुदयाल मीतल, प्रका०-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/३५, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली।
पृ० ६४४, मू० ३५.००

ब्रज के धर्म और सम्प्रदायों पर भारतीय ऋषियों, मुनियों, साधकों, आराधकों, इतिहासकारों, चिन्तकों और मनीषियों ने इतना लिखा है कि एक जीवन में उसका अवलोकित भी किया जाना कठिन है। उसका एकत्र किया जाना तो एक क्लिष्ट कल्पना ही थी। परन्तु किमसम्भवः साधकानाम्।

ग्रन्थकार ने हिन्दी, संस्कृत, गुजराती, उर्दू, फारसी, बंगला, अंग्रेजी आदि में उपलब्ध एतद्विषयक सम्पूर्ण इतिहास-वाङ्मय का आलोड़न-मन्थन तो किया ही है, पर यत्र-तत्र उसकी अनुभूतियाँ भी सजग होकर उद्बुद्ध हुई हैं। उदाहरणार्थः इतिहास के जिन मूल स्रोतों से लेखक ने अपनी सामग्री ली है उनमें बाबरनामा, शेरशाह, हुमायूँनामा, अकबरनामा, तबकते अकबरी, जहाँगीरनामा, दाराशिकोह जैसे सन्दर्भ ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। ऐसे ७५० प्रकाशित अप्रकाशित ग्रन्थों की वृहत्तालिका इसका प्रमाण है।

आकार और प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह ब्रज के धर्म और सम्प्रदायों का एक विश्वकोश हो सकता है। हिन्दी तथा इतर भाषाओं में लिखा जाने वाला यह प्रथम भगीरथ प्रयास कहा जा सकता है तथा सामान्य पाठकों, गम्भीर अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह समान रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रत्न है।

भारतीय संस्कृति और धर्म को सर्वांशतः प्रभावित करने वाले ब्रज मण्डल के विविध धर्म और सम्प्रदायों के श्रीकृष्ण काल से लेकर आधुनिक काल तक के दीर्घकालीन विकास-पथ का ऐतिहासिक और प्रामाणिक अनुशीलन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। प्रमुख-तया वैदिक, नारायणीय, सात्वत, पांचरात्र, जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, भागवतादि धर्मों, सर्वश्री रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द, बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, हित हरिवंश स्वामी हरिदासादि द्वारा प्रवर्तित वैष्णव सम्प्रदायों एवं तुलसी साहब, राधा स्वामी और स्वामी दयानन्द के मतों का प्रामाणिक, विवेचनापूर्ण, इतिहास-सम्मत और तटस्थ पर्यवेक्षण सहज, सरल और मँजी हुई हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय वाङ्मय के

पुस्तक-परिचय]

सहस्रशः स्रोतों से उपलब्ध इतस्ततः विखरी हुई अपरिमित, असीम सामग्री पर आधृत विषय की विशदता और एकाग्रता एक समन्वयक दृष्टिकोण से से बँधी हुई चलती है। लेखक ने विषय-वस्तु के प्रतिपादन में व्यापक मनोयोग का परिचय दिया है। बाह्यतः भिन्न-भिन्न दिखने वाले मत-मतान्तरों के मूल में भारतीय धर्म की सहिष्णुतानाम्नी जो एकता है, वह लेखक की पैनी दूरदर्शी सूझ-बूझ से प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथम बार स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। जैसा कि लेखक महोदय का निजी दावा भी है सभी धर्म और सम्प्रदायों के प्रति श्रद्धालु भावना और तटस्थ दृष्टि से कथ्य और तथ्य इसमें प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थ भारतीय दर्शन के एक अत्यन्त विस्तृत कैनवास पर ब्रज के सांस्कृतिक जीवन की विशद भाँकी विविध रंगों में प्रस्तुत करता है। भारतीय साहित्य के आधार पर लिखा गया भारतीय संस्कृति के मूलाधारः धर्म और सम्प्रदायों का इतिहास अपने प्रकार का यह प्रथम और अनूठा प्रयत्न है।

प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ ७ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय प्रागैतिहासिककालीन धर्मों का विवरण प्रस्तुत करता है। प्रतिपाद्य विषय प्रागैतिहासिक साहित्य पर आधृत है। इसका नाम भी प्रागैतिहासिक काल होता तो सार्थक होता। पर लेखक ने इसे 'आदि काल' पुकारना ही उचित समझा है। दूसरा अध्याय जिसे प्राचीन काल के नाम से अभिहित किया गया है, आदिकाल कहा जा सकता था। जो इतिहास सम्मत भी है। प्रथम अध्याय में वैदिक, नारायणीय, सास्वत-पंचरात्र के अतिरिक्त यक्षोपासना, नागोपासना करने वाले धर्मों का भी विवरण है। द्वितीय अध्याय में विक्रमी पूर्व ५६६ से सं० ४३ तक प्रचलित बौद्ध-जैन, वैदिक, भागवत, शैव, शाक्त आदि धर्मों को विवृत्त किया गया है। तृतीय अध्याय में इन्हीं धर्मों का ऐतिहासिक विकास विवेचित है। अठारह पुराणों का वर्गीकृत परिचय भी इसी अध्याय का प्रतिपाद्य है। तृतीय अध्याय को पूर्व मध्यकाल और चतुर्थ को

मध्यकाल कहा गया है जो सं० ६०० से १२६३ तक का इतिहास प्रस्तुत करता है। उत्तर मध्यकाल पाँचवें और छठे अध्यायों में विवृत्त है उत्तर मध्यकाल एक प्रकार से इस ग्रन्थ की आत्मा है, जिसमें लेखक के ऐतिहासिक और साहित्यिक वैदुष्य को विशद वर्णन क्षेत्र मिला है और जिसमें लेखक की प्रतिभा खूब रमी है। सप्तम अध्याय आधुनिक काल एक प्रकार से उप-संहारात्मक विवेचन प्रस्तुत कर रहा है। इसके विवरण यद्यपि चलते हुए एवं आनुसंगिक से हैं परन्तु प्रामाणिक और संश्लिष्ट हैं।

अपने मत-स्थापन में लेखक ने पर्याप्त निर्भीकता से काम लिया है। दो एक स्थान पर हिन्दी के दो चार शोषस्थ विद्वानों की भूलों की ओर भी इंगित किये बिना लेखक नहीं चूकता। प्रस्तुत सन्दर्भ में मीतलजी का दार्शनिक पक्ष कदाचित् प्रथमवार उभर कर सामने आया है। विवेचन में मीतलजी की दृष्टि स्पष्ट और तटस्थ रही है। परन्तु वे किनारे पर खड़े दर्मक की भाँति ही मतमतों का द्वन्द्व नहीं देखते रहे, बल्कि एक नियामक की भाँति उन्होंने पात्रों, घटनाओं, रिपोर्टों, आलोचकों पर पैनी दृष्टि भी रखी है जिससे यथासम्भव कोई आवश्यक सूत्र रह भी न जाय और अनावश्यक भीड़ भी न हो जाय। प्रस्तुत ग्रन्थ ने जहाँ एक बड़े अखरते अभाव की पूर्ति की है, वही शोधकारों और विद्वानों को भी अच्छी सामग्री यहाँ एकत्रित कर दी है, धर्म और सम्प्रदायों का यह एक प्रकार से विश्वकोश ही कहा जायगा।

ग्रन्थान्त में ५५० ग्रन्थों की सन्दर्भ तालिका और ३१ पृष्ठों की अनुक्रमणिका ग्रन्थ की उपयोगिता को और भी बढ़ाती है सचित्र होने के कारण पुस्तक पर्याप्त रोचक और उपादेय हो गई है।

कबीर : कल्पना-शक्ति और काव्य-सौन्दर्य—

लेखक—बहादुर शर्मा, प्रकाशक—भारतेन्दु-भवन, लोअर बाजार, शिमला-१। मू० ७.५०

कबीर-साहित्य का अध्ययन अब तक विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया है जिससे उसके दार्शनिक, साधनात्मक, सामाजिक आदि

पक्षों का उद्घाटन भली भाँति हुआ है फिर भी अब तक चिन्तकों एवं शोध-कर्त्ताओं की दृष्टि जितनी कबीर के चिन्तक, साधक एवं समाज-सुधारक रूप पर केन्द्रित रही, उतनी उनके कवि-रूप पर नहीं रही, इसी से कबीर की काव्यात्मक उपलब्धियों के सम्बन्ध में अब भी सन्दिग्ध स्थिति है। किसी कवि के लिए दार्शनिक और सुधारक होना उसके अतिरिक्त महत्त्व को तो सूचित करता है किन्तु वह उसके कवित्व की पुष्टि निर्विवाद रूप में नहीं कर पाता ! इसके लिए शुद्ध काव्य-शास्त्रीय एवं सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा रहती है। प्रसन्नता की बात है कि श्री ब्रह्म-दत्त ने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी दृष्टि को लेकर कबीर-काव्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। कल्पना-शक्ति को पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा अनेक आलोचकों ने उसे काव्य की मूल शक्ति के रूप में भी स्वीकार किया है। इस कृति में लेखक ने सर्वप्रथम कल्पना के स्वरूप की मीमांसा साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए उसकी काव्यगत प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। इसके अनन्तर कबीर के जीवन-चरित, व्यक्तित्व एवं काव्य-रचनाओं का विवेचन करते हुए क्रमशः कबीर की विषय-वस्तु एवं शैली का विश्लेषण कल्पना-शक्ति के आधार पर किया गया है। कबीर काव्य में प्रस्तुत विचार एवं भाव सामान्य रूप में न होकर कल्पनायुक्त रूप में हैं, इसीसे वे प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक बन पाये हैं। कबीर की अभिव्यञ्जना-शक्ति में भी कल्पना का योग सर्वत्र परिलक्षित होता है—इसीलिए उनमें अलङ्कार, प्रतीक, बिम्ब आदि काव्यात्मक तत्त्वों का सन्निवेश सहज स्वाभाविक रूप में होगया है। लेखक ने इन निष्कर्षों की स्थापना सुदृढ़ काव्य-सौन्दर्य शीर्षक अध्याय में लेखक ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार कबीर का काव्य विचार-सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य एवं शैली के सौन्दर्य से युक्त है तथा उसमें कवि की कल्पना-शक्ति का क्या योगदान है। यद्यपि कहीं-कहीं कबीर का मूल पाठ त्रुटिपूर्ण है पर फिर भी शुद्ध काव्यात्मक

एवं सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से कबीर के अध्ययन का कदाचित् यह प्रथम प्रयास है। वस्तुतः शुद्ध सौन्दर्य-शास्त्रीय मूल्यों के आधार कबीर-साहित्य के सौन्दर्य का उद्घाटन करने की दृष्टि से यह प्रबन्ध निश्चित ही महत्त्वपूर्ण है—अतः लेखक का श्रम प्रशंसनीय एवं अभिनन्दनीय है। आशा है हिन्दी-जगत् इसका समुचित स्वागत करेगा।

जायसी के पद्मावत का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—

लेखिका—कुमारी सुभाषबाला एम० ए०, प्रका०—भारतेन्दु-भवन, लोअर बाजार, शिमला-१। मू० ७.५०
साहित्य और मनोविज्ञान दोनों ही मानव-हृदय की भावानुभूतियों एवं मानसिक प्रवृत्तियों का अध्ययन-विश्लेषण अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि एक ही पद्धति आत्मक एवं चित्रमयी होती है तो दूसरे की बौद्धिक एवं विश्लेषणात्मक—पर फिर भी आधारभूत सामग्री की एकता दोनों को बहुत निकट ले जाती है, इसी से एक की सामग्री दूसरे के के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। साहित्य-समीक्षा में भी मनोविज्ञान के निष्कर्ष सदा से प्रयुक्त होते रहे हैं। भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वोत्तम सिद्धान्त रस-सिद्धान्त भी भाव-विभाव सम्बन्धी परम्परागत मनो-वैज्ञानिक धारणाओं पर आधारित है तो पाश्चात्य क्षेत्र में भी आधुनिक युग में साहित्य के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अनेक पद्धतियों का प्रचलन एवं विकास हुआ है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति को प्रतिष्ठित करने का श्रेय मुख्यतः डा० देवराज उपाध्याय को है। प्रस्तुत शोध-निबन्ध में भी लेखिका ने जायसी के व्यक्तित्व एवं उनके 'पद्मावत' के विभिन्न पक्षों—चरित्र-चित्रण, भाव-व्यञ्जना, प्रतीक-योजना, शैली-पक्ष आदि की विवेचना आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास किया है। जायसी कुरूप व काने थे, अतः उनकी काव्य-प्रेरणा के पीछे हीनता की भावना व क्षतिपूर्ति की प्रवृत्ति प्रमाणित हो जाती है। फ्रायड, एडलर के आधार पर लेखिका ने इसे सिद्ध किया है। विभिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण में विशेषतः उनकी भावनाओं की

व्यञ्जना में कवि को कितनी सफलता मिली है— यह भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है। पद्यावत के रूपक एवं प्रतीक-योजना पर भी लेखिका ने नयी दृष्टि से विचार किया है, साथ ही उसके शैलीगत तत्त्वों—अलंकार-योजना, विम्ब-योजना व प्रतीक-योजना का भी विश्लेषण मनोविज्ञान के आधार पर किया गया है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जायसी के कृतित्व के अध्ययन की परम्परा में यह सर्वथा मौलिक एवं नूतन प्रयास है। अतः लेखिका बधाई की पात्र है। पुस्तक का मुद्रण एवं उसकी साज-सज्जा भी सुन्दर है।

भाषा-विज्ञान

हिन्दी-भाषा : रूप विकास—

ले०-डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' प्रोफेसर हिन्दी-विभाग, राजस्थान वि० वि० जयपुर, प्रका०—चिन्मय प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३। पृष्ठ सं० ३६४+१०, मूल्य १५.००।

समीक्ष्य कृति का महत्त्व अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र में इसलिए और बढ़ जाता है कि हिन्दी के भाषा स्वरूप को राष्ट्रभाषा की दृष्टि से परखने की आवश्यकता क्यों है? दूसरे, भारतीय आर्य भाषाओं के विकास-क्रम में हिन्दी-भाषा की इतनी व्यापकता कैसे बनी रही है? सभी भाषाशास्त्री यह मानते हैं कि भाषा पैतृक या अजित सम्पत्ति नहीं है, वह चिर-परिवर्तन शैली है तथा उसका कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है, फिर प्रस्तुत पुस्तक में डा० अरुण ने हिन्दी-भाषा के रूप-विकास के क्रम में अपने वर्षों के अध्ययन काल की विविध शंकाओं और व्याप्तताओं के समाधान प्रस्तुत कर भाषा के शब्द-स्वरूप, शब्द-समूह, ध्वनियाँ, ध्वनि-परिवर्तन, संज्ञा शब्द, उनकी रचना तथा गौण अथवा योगिक संज्ञा शब्दों पर विशिष्ट प्रकाश डाला है। उपरोक्त अध्यायों के अन्तर्गत डा० अरुण ने हिन्दी भाषा के प्राकृत, अपभ्रंश भाषा-प्रवाह में से निखरते हुए परिनिष्ठित रूप के विकास की स्थापनाएँ की हैं और यही नहीं हिन्दुई, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी तथा हिन्दी की विभेद धारा की

ओर भी संकेत किया है। हिन्दी शब्द-समूह के अन्तर्गत तत्सम, तद्भव, विदेशी एवं संकर शब्दों की प्रयुक्ति पर विद्वत्तापूर्ण विचार किया है। ध्वनियों के परिवर्तन की दिशाओं पर विचार करते हुए समीक्ष्य पुस्तक में अनेक शब्दों के मूल शब्दों की ओर भी संकेत मिलते हैं।

भाषा में प्रयुक्त संज्ञा, विशेषण, समास, अव्यय, लिंग, वचन, कारक, सर्वनाम एवं क्रिया आदि पर विस्तृत एवं विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भाषाशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों में स्वतः यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान पा जाता है साथ ही कृतिकार के व्यापक चिन्तन की दिशा भी प्रस्तुत करता है। विद्वान् आलोचक एवं प्रतिभासम्पन्न व्याख्याता की दृष्टि से आपने प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी पदक्रम, भाषा और चिह्न तथा भारतीय भाषा-विज्ञान नामक अध्याय जोड़ कर इस पुस्तक की उपादेयता और बढ़ा दी है।

इस पुस्तक पर विचार करते हुए डा० अरुण का इस क्षेत्र का अन्य कृतित्व भी ध्यान में रखे जाने की अपेक्षा करता है। 'हिन्दी की तद्भव शब्दावली' नामक आपकी कृति के साथ हिन्दी भाषा के रूप विकास तक की सर्जना-शक्ति आपके व्यापक ज्ञान, असीम विद्वत्ता एवं तीक्ष्ण संवेदना को साहित्य-प्रेमियों के सम्मुख रखती है। यह पुस्तक भाषा के अध्येताओं के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसा विश्वास है।

—रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ।

संस्मरण

गांधीजी के सान्निध्य में—

लेखक—प्रभाकर दिग्गण, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६। पृ. १६६, मू. २.००

प्रस्तुत पुस्तक पूज्य गांधीजी के शतवार्षिक समारोह के अन्तर्गत गांधी स्मारक निधि के सहयोग से प्रकाशित की गयी है। इसमें गांधीजी के आश्रम के जीवन से सम्बन्धित संस्मरण लिखे गए हैं। लेखक गांधीजी के प्रसिद्ध अनुयायी एवं उनके सिद्धान्तों के समर्थक हैं। उन्होंने गांधीजी को निकट से देखा,

परखा एवं सुना है। अतएव उनके इन संस्मरणों में संजीवता, प्रामाणिकता तथा रमणीयता है। गांधीजी के जीवन को समझने के लिये प्रस्तुत पुस्तक बहुत ही उपयोगी है साथ ही उनके विचारों से अपने दिग्दर्शित होने का सहज साधन भी है।

स्फुट

केरल—

प्रकाशक—निर्देशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-१। पृ० ३२, मू० १.००

हमारे देश के राज्य के साधारण परिचय के

लिये प्रस्तुत पुस्तक का स्थान बहुत ही उपयोगी है। विद्यार्थी वर्ग अपने भूगोल विषय के आचार पर देश और विदेश का ज्ञान प्राप्त करते हैं पर प्रस्तुत पुस्तक उस दृष्टिकोण को अपनाते हुये उन लोगों के लिये लिखी गई है जो कि देश की जानकारी प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं। हमारा देश बहुत विशाल है। अतएव यहाँ की संस्कृति, भाषा, लिपि तथा रहन-सहन भी बहुत ही भिन्न-भिन्न है। सबको पारस्परिक ढंग से थोड़ा-थोड़ा समझने के लिये इस पुस्तक का अपना अलग महत्व है।

एक नया पेय



आमपे

कच्चे आमों से निर्मित
अत्यन्त ही स्वादिष्ट खट्टा मीठा पेय

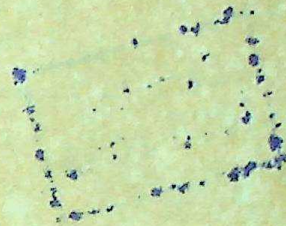


लू से बचाता है
हाज़मा ठीक करता है
व प्यास नहीं लगने देता
अत्यन्त ही स्वादिष्ट है

जी. जी. इन्डस्ट्रीज, आगरा
फोन नं. २१६४

CHITRA

य-सन्देश
योगी है।
पर देश
पुस्तक
के लिये
त करने
गाल है।
रहन-
रस्परिक
तक का



Compiled
1999-2000

